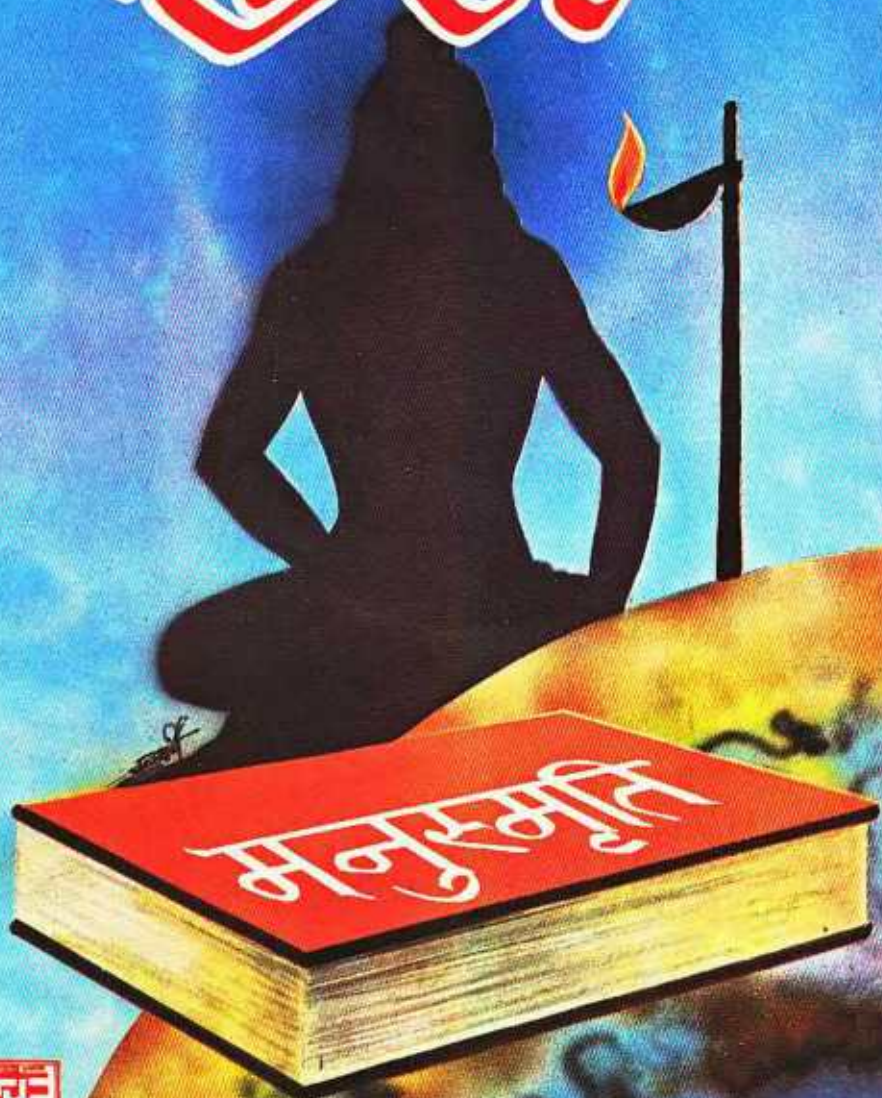


मनुस्मृति



मनु के विषय में

आजकल प्रत्येक देश में बड़ी-बड़ी सभायें हैं, जिन्हें पार्लियामेंट, असेम्बली अथवा धारा सभायें कहते हैं। जिनका काम कानून बनाना होता है। ये सभायें देश के हित के लिए कानून और शासन के लिए विधान बनाती हैं। प्राचीन काल में बड़े-बड़े ऋषि ऐसे नियम बनाते थे और जनता उन नियमों का पालन करती थी। उन नियमों को स्मृति कहते हैं समय-समय पर देश की तथा जनता की आवश्यकता के अनुसार ये स्मृतियाँ बनती थीं। स्मृति बहुत-सी हैं। सब से प्राचीन मनु की है। इसके बनाने वाले हमारे पूर्वज मनुष्यों के पुरखा मनु महाराज हैं, जिन्हें स्वायंभुव मनु कहते हैं, यद्यपि जिस रूप में आज मनुस्मृति मिलती है, वह पहले वाली मनुस्मृति नहीं है। उसका रूप क्या था, इस समय कोई नहीं बता सकता। उसमें बहुत से परिवर्तन हो गए हैं, किन्तु आरम्भ में इसके कर्ता यही मनु हैं जो हमारे पूर्वज हैं।

मनु कई हो गए हैं। जिस मनु ने पहले-पहल मनुष्य के लिए, उनके रहन-सहन के लिए विधान और नियम बनाये, वे स्वायंभुव मनु थे। इनके पश्चात समय-समय पर और ऋषियों ने नियम बनाये। ठीक नहीं कहा जा सकता किन्तु आज से हजार-डेढ़ हजार वर्ष पहले यह सब एक पोथी में एकत्र किया गया और किसने यह कार्य किया यह भी नहीं कहा जा सकता। आज जो मनुस्मृति हमारे पास है वह यही है और मनुस्मृति इसलिए कही जाती है कि मनु महाराज इसके आदिकर्ता थे।

मनुस्मृति में स्वायंभुव मनु ने एक लाख श्लोकों में सब नियम बनाये थे। इसी के आधार पर सारे ऋषियों ने भी स्मृतियाँ बनायीं। आजकर जो मनुस्मृति है, उसमें इतने श्लोक नहीं हैं। इस पुस्तक में राजा तथा प्रजा का धर्म एवं प्रत्येक वर्ण का धर्म बताया गया है। प्रत्येक मनुष्य को नित्य किस प्रकार सब काम करना चाहिए, वह भी इसमें बताया गया है। मनुष्य के जीवन की कोई बात छूट नहीं

गई है। आज इसके नियम माने नहीं जाते, किन्तु इस पुस्तक से पता चलता है कि प्राचीन काल में हमारे देशवासी बड़े विचारवान थे। उन्होंने बहुत सोच-विचार कर और जीवन सम्बन्धी सब बातों को ध्यान में रखकर ये नियम बनाये थे।

स्वायंभुव मनु हमारे आदि पुरुष थे। उनका विवाह शतरूपा से हुआ था। उन्हीं की हम सब सन्तान हैं। उन्होंने सोचा कि जब मनुष्य की सृष्टि होगी, मनुष्य का विचार बढ़ेगा, तब रहने के लिए नियम की भी आवश्यकता होगी। बिना नियम के कोई समाज चल नहीं सकता। किस प्रकार रहने से समाज में शान्ति रहेगी और अपराधियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह सब आवश्यक था। हमारे पूर्वज मनु महाराज ने इन सब बातों पर विचार किया और मनुस्मृति की रचना की।

धर्म शब्द का अर्थ भारतवर्ष में केवल पूजा-पाठ, सन्ध्या वन्दना ही नहीं है। धर्म शब्द से उन सब बातों का बोध होता है—जो इस जीवन में मनुष्य के लिए आवश्यक हैं। इसलिए हमारे धर्म के अन्दर भोजन, स्नान, उठना, बैठना, आचार, व्यवहार सभी आ जाते हैं। समाज के वे नियम भी जिन्हें हम विधान या कानून कहते हैं, धर्म के अन्दर आ जाते हैं। इसलिए मनुस्मृति को धर्मशास्त्र भी कहते हैं।

—अनुवादक

अनुक्रमणिका

अध्याय	पृष्ठ संख्या
पहला अध्याय	... ९
दूसरा अध्याय	... २८
तीसरा अध्याय	... ६७
चौथा अध्याय	... ११२
पाँचवाँ अध्याय	... १५४
छठा अध्याय	... १८१
सातवाँ अध्याय	... १९७
आठवाँ अध्याय	... २३३
नौवाँ अध्याय	... २९९
दसवाँ अध्याय	... ३५२
ग्यारहवाँ अध्याय	... ३७३
बारहवाँ अध्याय	... ४१५

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

मनुस्मृति



प्रथम अध्याय

मनुमेकाग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥ १ ॥
भगवन्सर्वं वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ।
अन्तरप्रभवाणां च धर्मात्रो वक्तुमर्हसि ॥ २ ॥

शान्ति पूर्वक एकाग्रचित्त बैठे हुए मनुजी के सम्मुख उपस्थित होकर यथा क्रम से पूजन करके मुनिगण बोले—हे भगवन्! सभी वर्णों तथा जातियों के धर्मों के अनुसार जैसी-जैसी धर्म व्यवस्था है, उसे आप ही हम लोगों से कहें। १-२।

त्वमेकी ह्यस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः ।
अचिन्त्यस्वाप्रमेयस्य कार्यतत्त्वार्थवित्प्रभो ॥ ३ ॥
स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमितौजा महात्मभिः ।
प्रत्युवाचाचर्य तान्सर्वान्सहर्षोऽब्रू यतामिति ॥ ४ ॥

हे प्रभो! इस स्वयं उत्पन्न होने वाले अचिन्त्य अप्रमेय, सम्पूर्ण ब्रह्म के कार्य के तत्त्वार्थ को जानने वाले आप ही हैं। महर्षियों से इस प्रकार पूछने

पर अत्यन्त तेजस्वी मनुजी ने आतिथ्य सत्कार करके कहा—सुनिये।

आसीदितं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।

अप्रतक्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।

महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥

पहले यह संसार तम (अन्धकार रूप) प्रकृति से घिरा था, इससे कुछ भी प्रत्यक्ष ज्ञात नहीं होता था, अनुमान करने के योग्य कोई रूप नहीं था जिससे तर्क द्वारा लक्षण स्थिर कर सके। और सभी ओर अज्ञान और शून्य अवस्था थी। इसके बाद प्रलयावस्था के नाश करने वाले लक्षण सृष्टि के सामर्थ्य से युक्त, स्वयंभु भगवान महाभूतादि (पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु) पंच तत्त्वों का प्रकाश करते हुए प्रकट हुए। ५-६।

योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोव्यक्तः सनातनः।

सर्वभूतमयोऽचिन्त्य स एव स्वयमुदबभौ ॥ ७ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।

अप एव ससर्जाऽऽदौ तासु बीजमवासृजत् ॥ ८ ॥

जो बाह्य इन्द्रियों के ज्ञान से परे, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सभी प्राणियों में व्यापक और अचिन्त्य रूप भगवान् स्वयं उत्पन्न हुए। वह (परमात्मा) अनेक प्राणियों के उत्पन्न करने की इच्छा से ध्यान कर अपने शरीर से जल उत्पन्न कर उसमें बीज उत्पन्न किया। ७-८।

तदण्डमभवद्भैरवं सहस्रांशुशमप्रभम्।

तसिकंजज्ञे स्वयं ब्रह्मः सर्वलोकपितामहः ॥ ९ ॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।

ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ १० ॥

वह बीज सूर्य के समान तेजस्वी सुवर्ण का अण्डा हो गया, उसमें सभी लोकों के उत्पन्न करने वाले स्वयं ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। नर (भगवान्) से जल की उत्पत्ति हुई है इसलिए जल को (नार) कहते हैं। वह (नार) जिसका पहले अयन (स्थान) हुआ है इसीलिए उसका नाम नारायण हुआ। ९-१०।

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
 तद्विसृष्टिः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कथ्यते ॥ ११ ॥
 तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।
 स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्विधा ॥ १२ ॥

सम्पूर्ण सृष्टि के कारण, अव्यक्त, नित्य, सत्-असत् स्वरूप जो पुरुष उससे उत्पन्न हुआ उसे संसार में ब्रह्मा नाम से कहते हैं। अपने (दिनादि के मान से) वर्ष पर्यन्त उस अंडे में रहकर ब्रह्मा ने स्वयं अपने ही ध्यान से उस अण्डे को दो खण्ड कर दिया। ११-१२।

ताभ्यां स सकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे।
 मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावषां स्थानं च शाश्वतम् ॥ १३ ॥
 उद्ववर्हात्मदश्चैव मनः सदसदात्मकम्।
 मनश्चाप्यहंकारमभिमन्तारमीश्वरम् ॥ १४ ॥

ब्रह्माजी ने दोनों खंडों से क्रमशः आकाश, पृथ्वी और मध्य से स्वर्ग, आठों दिशाएँ और आठ समुद्र जल के स्थान बनाये। फिर सत्-असत् स्वरूप आत्मा से मन और ईश्वर से भी अभिमान करने वाले अहंकार तत्त्व को उत्पन्न किया। १३-१४।

महान्तमेव चात्मानं सर्वाणि त्रिगुणानि च।
 विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पंचेन्द्रियाणि च ॥ १५ ॥
 तेषां त्ववयवान्सूक्ष्मान्वण्णामप्यमितौजसाम्।
 सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्वभूतानि निर्ममे ॥ १६ ॥

फिर आत्म स्वरूप के ज्ञानार्थ बुद्धि तीनों गुण (सत्त्व, रज, तम) और विषयग्राही पंचेन्द्रियों को बनाया। फिर अत्यन्त तेजस्वी इन छहों तत्त्वों के सूक्ष्म अवयवों को उन्हीं के सूक्ष्म विकारों में न्यास करके सभी प्राणियों की रचना की। १५-१६।

यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्।
 तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ १७ ॥

१. ब्रह्मा के दिनादि मान मनुष्य के मान से भिन्न हैं।

तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।

मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥ १८ ॥

इस (ब्रह्म) मूर्ति में छहों सूक्ष्म अवयव आश्रय करते हैं। इसी कारण से महात्मा लोग इस ब्रह्म मूर्ति को शरीर कहते हैं। ब्रह्मा में आकाशादि महाभूत अपने-अपने कर्मों के साथ उत्पन्न होते हैं। उस अहंकार रूप ब्रह्म में सभी प्राणियों का निमित्त और अनैश्वर मन अपने सूक्ष्म रूपों के साथ उत्पन्न होता है। १७-१८।

तेषानिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।

सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः संभवत्यध्ययादव्ययम् ॥ १९ ॥

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।

यो यो यावतियज्वैषां स स तावद्गुणः स्मृतः ॥ २० ॥

इन परम तेजस्वी (महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा) सात तत्त्वों के शरीर बनने वाले भागों से यह नश्वर संसार अव्यय से उत्पन्न होता है। इन पंच महाभूतों (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी) के पाँचों गुण क्रमशः उत्तरोत्तर एकाधिक होता है (अर्थात् आकाश में एक शब्द गुण, वायु में शब्द और स्पर्श, इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं)। इस प्रकार पंचभूतों के संख्यानुसार ही उनमें गुण की संख्या भी उतनी ही अधिक होती है। १९-२०।

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥ २१ ॥

कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत्प्राणिनां प्रभु।

साध्यानां च गणं सूक्ष्मं यज्ञं चैव सनातनम् ॥ २२ ॥

सृष्टि के आदि में ही ईश्वर ने उन सबके नाम और कर्म वेद के अनुसार ही नियत कर उनकी अलग-अलग संख्याएं बना दीं। उस ब्रह्मा ने देवताओं और सभी जीवों की यथा सूक्ष्म साध्यगणों की सृष्टि की और (ज्योतिष्मेमादि) सनातन यज्ञों को भी बनाया। २१-२२।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।

दुदोह यज्ञसिद्धपथमग्यजु सामलक्षणम् ॥ २३ ॥

कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।

सरितः सागराञ्छैलान्समानि विषभाणि च ॥ २४ ॥

ब्रह्मा ने यज्ञादि करने के लिए अग्नि, वायु और सूर्य से सनातन नित्य ऋग्वेद, सामवेद को दोहन कर प्रकट किया। इसके बाद समय के विभाग (दिन, मासादि) नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र, पर्वत, समतल भूमि और विषम भूमि की रचना की। २३-२४।

तपो वाचं रचिं चैव कामं च क्रोधमेव च ।

सृष्टिं ससर्जं चैवेमां स्रष्टुमिच्छन्निमाः प्रजाः ॥ २५ ॥

कर्मणां च विवेकार्थं धर्माधर्मो व्यवचेयत् ।

द्वन्द्वैरयोजयच्चेमाः सुखदुःखादिभिः प्रजा ॥ २६ ॥

पूर्वोक्त देवादिकों को बनाने की इच्छा से तप (पूजा इत्यादि), वाणी, चित्त का परितोष इच्छा, चित्त का विकार (क्रोध) को उत्पन्न करके सृष्टि की रचना की। धर्म (यज्ञादि), अधर्म (ब्रह्महत्यादि) इनके कर्तव्या-कर्तव्य के विचार के लिए धर्म और अधर्म को और दोनों के फलक्रम से सुख, दुःख की पूजा के साथ ही जोड़ दिया। २५-२६।

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्योदशार्थानां तु याः स्मृताः ।

ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ २७ ॥

यं तु कर्मणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः ।

स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः ॥ २८ ॥

पंच महाभूत की नष्ट होने वाली पंचतन्मात्राओं (रूप, रस, गंध, घ्राण, स्पर्श) में साथ ही यह सारा संसार (सूक्ष्म से स्थूल, स्थूल से स्थूलतर) उत्पन्न होता है। पहले ब्रह्मा ने जिस जीव को जिस कार्य में नियुक्त किया, वह बारम्बार उत्पन्न होकर भी अपने पूर्व कर्म को करने लगा। २७-२८।

हिंसाहिंसे मृदुकूरे धर्माधर्मावृतानृते ।

यद्यस्य सोऽद्धात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत् ॥ २९ ॥

यथर्तुलिङ्गान्नृतदः

स्वयमेवर्तुपर्यये ।

स्नानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥ ३० ॥

हिंसा और अहिंसा, कोमल और क्रूर, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य,

इनमें से जिसको जिस कार्य में नियुक्त किया वह उसमें प्रवेश करने लगा। जिस प्रकार एक ऋतु के अवसान में दूसरी ऋतु अपने विशेष चिह्न को धारण करती है। उसी प्रकार जीव स्वयं अपने-अपने कर्मों को जन्म से ही प्राप्त करते हैं। २९-३०।

लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहुरूपादतः।

ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्ययत् ॥ ३१ ॥

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।

अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥ ३१ ॥

संसार के विकास के लिए मुख, बाहु, जंघा और चरण से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया। ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो भाग कर आधे से पुरुष और आधे से स्त्री बनाकर उसमें विराट् पुरुष की (मैथुन कर्म से) सृष्टि की। ३१-३२।

तपस्तप्त्वासृजद्यं तु सर्ववयं पुरुषो विराट्।

तं मां वित्तास्य सर्वएव स्रष्टारं द्विजोकृमाः ॥ ३३ ॥

अहं प्रजाः सिसृक्षुस्तु तपस्तप्त्वा सुदुश्चरम्।

पतीन्प्रजानाममसृजं महर्षीनादितो दश ॥ ३४ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ! उस विराट् पुरुष ने स्वयं तपस्या करके जिसे (इस सम्पूर्ण संसार को बनाने वाला) उत्पन्न किया वह मैं ही हूँ। मैंने सृष्टि की इच्छा से अत्यन्त कठिन तपस्या करके प्रजाओं के पति दस महर्षियों को उत्पन्न किया। ३३-३४।

मरीचिमत्र्यगिरसो पुलस्त्यं पुलहं ऋतुम्।

प्रचेतसं वसिष्ठं ज भृगुं नारदमेव च ॥ ३५ ॥

एते मनूस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः।

देवान्देवनिकायांश्च महर्षीश्चमृमितांजसः ॥ ३६ ॥

मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, ऋतु, प्रचेता वशिष्ठ, भृगु और नारद, ये दस महर्षियों के नाम हैं। इन (पूर्वोक्त) अत्यन्त तेजस्वी ऋषियों ने अन्य सात मनुओं को, देवताओं को, उनके रहने के स्थानों और महातेजस्वी ऋषियों को बनाया। ३५-३६।

यक्षरक्षः पिताशचांश्च गंधर्वाप्सरसोऽसुरान्।

नागान्सर्पान्सुपर्णाश्च पितृणां च पृथग्गणान् ॥ ३७ ॥

विद्युतोऽशनिमेघांश्च रोहितेन्द्रधनूंषि च।

उल्कानिर्घातकेतुंश्च ज्योतींष्युच्चावचानि च ॥ ३८ ॥

यक्ष, रक्षस, पिशाच, गंधर्व, अप्सर, असुर, नाग, सर्प सुपर्ण और पितरों के अलग-अलग गणों को बनाया। विद्युत (बिजली), वज्र, मेघ, रोहित, इन्द्र धनुष, उल्का, निर्वात (बादलों की घरघराहट), केतु (तार) और बड़े-छोटे नक्षत्रों को उत्पन्न किया। ३७-३८।

किन्नरान्वानरान्मत्स्यान्विविधांश्च दिहंगमान्।

पशून्मृगान्मनुष्यांश्च व्यालांश्चोभयतोदतः ॥ ३९ ॥

कृमिकीटपतंगाश्च यूकामाक्षिकमत्कुणम्।

सर्वं च दंशमधकं स्थावर च पृथग्विधम् ॥ ४० ॥

किन्नरों, वानरों और अनेक प्रकार के मत्स्य तथा पक्षियों, पशु, मृगों को, मनुष्य और दोनों (ऊपर नीचे) दाँत वाले सिंहादिकों को, कृमि (मकोड़े), कीट (मकोड़े), पतंग, जोंक, मक्खी, मच्छर और अनेक प्रकार के स्थावर जीवों को उत्पन्न किया है। ३९-४०।

एवमेतैरिदं सर्वं मन्त्रियोगान्महात्मभिः।

यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजंगमम् ॥ ४१ ॥

येषां तु यादृशं कर्म भूतानामिह कीर्तितम्।

तत्तथा वोऽभिधात्यामि क्रमयोगं जन्मनि ॥ ४२ ॥

मेरे आज्ञा से महर्षियों ने अपने तपोबल के कर्मानुसार स्थावर और जंगम प्राणियों की सृष्टि की। सृष्टि में जिस प्राणी का जैसा कर्म कहा गया है और जन्म के क्रम योग को आपसे कहूँगा। ४१-४२।

पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोदकयोदतः।

रक्षांसि च पिशाचांश्च मनुष्याश्च जरायुजाः ॥ ४३ ॥

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।

यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकादि च ॥ ४४ ॥

ऊपर-नीचे दांत वाले पशु, मृग और हिंसा करने वाले जीव, राक्षस, पिशाच और मनुष्य ये जलग्रयुज (गर्भ से उत्पन्न होने वाले) हैं। पक्षी, सर्प, मगर, मछली, कछुआ ये सभी जितने स्थल और जल के जीव हैं वे सभी अंडज (अंडे से उत्पन्न होने वाले) हैं। ४३-४४।

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।

उष्मणश्चोपजायन्ते यच्चात्यकिंत्कचिदीदृशम् ॥ ४५ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः।

औषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ ४६ ॥

डंस, मच्छर, जौंक, मक्खी, खटमल, (उडुस) और जो इस प्रकार के अन्य जीव जिनकी उत्पत्ति गर्मी से होती है उन सभी को स्वेदज कहते हैं। जो जीव और शाखा से उत्पन्न होने वाले पृथ्वी पर के बीज हैं वे सभी उद्भिज्ज कह जाते हैं। जो फल पकने पर सूख जाते हैं तथा जो बहुत फल और फल वाले वृक्ष हैं इन्हें औषधि कहते हैं। ४५-४६।

अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः।

पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥ ४७ ॥

गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः।

बीजकाण्डरुहाण्येव प्रजाना वल्लयं एव च ॥ ४८ ॥

जो बिना फूल के ही फलते हैं वे वनस्पति कहलाते हैं और जो फूलते और फलते हैं उन्हें वृक्ष कहते हैं। अनेक प्रकार के गुच्छे, गुल्म और तृण तथा फैलने वाली लताएँ, बीज और शाखा से उत्पन्न होते हैं। ४७-४८।

तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना।

अंतःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥ ४९ ॥

एतदन्तास्तु गतयो ब्रह्माद्याः समुदाहृताः।

घोरेऽस्मिन्भूतसंसारे नित्यं सततयायिनि ॥ ५० ॥

अनेक प्रकार के पूर्व जन्म के कर्मों के कारण ये तमोगुण से घिरे रहते हैं, इनके अन्दर चेतना शक्ति है और सुख-दुःख का ज्ञान भी रहता है। इस घोर अचिन्त्य चरचर संसार में ब्रह्मा से लेकर यहां तक के चरादि पदार्थों की उत्पत्ति कही गयी है। ४९-५०।

एवं सर्वं स सृष्ट्वेदं मां चाचिन्त्यपराक्रमः ।

आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन् ॥ ५१ ॥

यदा स देवी चागतिं तदेदं चेष्टते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीवति ॥ ५२ ॥

वह अचिन्त्य पराक्रम (सर्वशक्तिमान) इस सारे जगत् और मुझको उत्पन्न कर इस सृष्टि काल को प्रलय काल से नष्ट करता हुआ अपने ही रूप में अन्तर्धान हो जाता है । जब वह देव जागता है तब यह संसार जागता है और जब शान्त चित्त से सोता है तब सबका लय होता है । ५१-५२ ।

तस्मिन्स्वपिति सुस्ये तु कर्मात्मानः शरीरिणः ।

स्वकमभ्यो निवर्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति ॥ ५३ ॥

युगपत्तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन्महात्मनि ।

तदायं सर्वभूतात्मा सुखं स्वपिति निर्वृतः ॥ ५४ ॥

उसके स्वस्थ होकर सोने पर कर्मानुसार शरीर धारण करने वाले जीव अपने कर्मों से निवृत्त होते हैं और उनका मन भी वृत्ति रहित हो जाता है । जब उस परमात्मा में एक साथ सभी जीवों का लय हो जाता है तब यह सभी जीवों की आत्मा निवृत्त होकर सुख से सोती है । ५३-५४ ।

तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः ।

न च स्वं कुरुते कर्म तदोत्क्रामति मूर्तितः ॥ ५५ ॥

यदाणुअमात्रिको भूत्वा बीजं स्थाप्नु चरिष्णु च ।

समाविशिति संसृष्टस्तदा मूर्तिं विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

यह जीव तम (ज्ञान की निवृत्ति) का आश्रय लेकर इंद्रियों के साथ रहता है । जब अपने कर्म को नहीं करता है तब शरीर (पूर्व शरीर) निकल जाता है । जब यह अणुमात्रिक होकर स्थावर जंगम के बीच प्रवेश करता है तब स्थूल रूप से शरीर को धारण करता है । ५५-५६ ।

एवं स जाग्रत्स्वप्नाभ्यामिदं सर्वं चराचरम् ।

संजीयति चाजस्रं प्रमापयति चाव्ययः ॥ ५७ ॥

इदं शास्त्रं तु कृत्वासौ मामेव स्वयमादितः ।

विधिवद्ग्राहययामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥

इस प्रकार वह अविनाशी इस सम्पूर्ण चराचर संसार को जाग्रत और स्वप्न दोनों अपस्थानों द्वारा बार-बार उत्पन्न और नाश करता है। इस शास्त्र को बनाकर ब्रह्मा ने पहले मुझे विधि-पूर्वक बताया। इसके बाद मैंने ही मरीचि आदि महर्षियों को बताया। ५७-५८।

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यमेषचः।

एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनि॥ ५९॥

ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मुना भृदु।

तानब्रवीदृषीन्सर्वान्ग्रीतात्मा श्रूयतामिति॥ ६०॥

इस शास्त्र को भृगु ऋषि आपसे सम्पूर्ण कहेंगे क्योंकि इन्होंने सम्पूर्ण रूप से मुझसे सीखा है। मनुजी से इस प्रकार कहे जाने पर महर्षि भृगु जी प्रसन्न चित्त होकर ऋषियों से बोले, सुनिये। ५९-६०।

स्वायंभुवस्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।

सृष्टवन्तः प्रजाः स्वां महात्मानो महौजसः॥ ६१॥

स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।

चाक्षुषश्च महातेजा विवश्वत्सुत एव च॥ ६२॥

इस स्वायंभुव मनु के वंश में छः मनु हुए। इन महातेजस्वी महात्माओं ने अपनी-अपनी प्रजा को उत्पन्न किया। स्वरोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और महा तेजस्वी सूर्य के पुत्र वैवस्वत छोटे मनु हुए। ६१-६२।

स्वायंभुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरितेजसः।

स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥ ६३॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत् ताः कलाः।

त्रिशत्कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः॥ ६४॥

ये महातेजस्वी स्वायंभुवादि सात मनुओं ने अपने-अपने समय में इन सब चराचर जगत् को उत्पन्न किया। अठारह निमेष की (पलक गिरने के समय को निमेष कहते हैं) एक काष्ठा, तीस काष्ठा की एक कला, तीस कला का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है। ६३-६४।

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषदैविके।

रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामह॥ ६५॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तु पक्षयोः।

कर्मचेष्टास्वहः कृष्ण शुक्ला स्वप्नाय शर्वरी ॥ ६६ ॥

सूर्य मनुष्य और देवताओं के अहोरात्र (दिन-रात) का विभाग करता है। प्राणियों के सोने के लिए रात और काम करने के लिए दिन है। मनुष्यों के मास के बराबर पितरों का एक रात-दिन (अहोरात्र) होता है, मास में दो पक्ष होते हैं, मनुष्यों का कृष्णपक्ष पितरों के कर्म का दिन और शुक्लपक्ष पितरों के सोने के लिए रात होती है। ६५-६६।

दैवे रात्र्यहनी वर्ष प्रविभागस्तयोः पुनः।

अहस्तत्रोदगयनं रात्रि स्याद्वक्षिणायनम् ॥ ६७ ॥

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः।

एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तन्निबोधत ॥ ६८ ॥

मनुष्यों के एक वर्ष के तुल्य देवताओं का अहोरात्र होता है। उत्तरायण (मकर से ६ राशि पर्यन्त अर्थात् मिथुन तक सूर्य के रहते) दिन और दक्षिणायन (कर्क से धनु तक सूर्य के रहते) में देवताओं की रात्रि होती है। ब्रह्मा के रात-दिन का एक-एक युग का जो प्रमाण है वह क्रमशः इस प्रकार है।

चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।

तस्य तावच्छती सन्ध्या संध्यांशश्च तताविधः ॥ ६९ ॥

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।

एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ॥ ७० ॥

चार हजार वर्षों का सतयुग होता है। युगारम्भ और युगान्त में क्रम से चार-चार सौ वर्ष की संख्या और संध्यांश होते हैं। अन्य तीनों युगों का मान क्रमशः एक से दूसरे की वर्ष संख्या में एक-एक घटाने से होता है और उतने ही (युग के वर्ष की संख्या के प्रमाण) सौ वर्ष उनके संध्या और संध्यांश होते हैं। जैसे तीन हजार वर्ष का युग और सौ वर्ष का संध्या-

१. एक संक्रांति से दूसरी संक्रांति तक के समय को सौरमास कहते हैं। २. सौर मासों का एक वर्ष होता है।

संध्यांश और एक हजार वर्ष का कलियुग और एक वर्ष का संध्या-संध्यांश होता है। ६९-७०।

यदेतत्परिसंख्यातमादावेव चतुर्युगम्।
 एकद्विदशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते ॥ ७१ ॥
 दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया।
 ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च ॥ ७२ ॥

पहले जो चारों युगों का प्रमाण कहा गया है इन सबको मिलाने से संध्या-संध्यांश के सहित बारह हजार वर्ष हुए। इसी को महायुग कहते हैं और यही देवताओं का युग है। देवताओं के एक हजार युगों का ब्रह्मा का एक दिन और एक हजार युगों की रात होती है। ७१-७२।

और इतने ही प्रमाण का देवताओं का दिन या दिव्य दिन होता है।

दोनों संख्याओं सहित	दिव्य वर्षों में - सौर वर्षों में
सत्य युग का मान	४८०० ^{१७,२६,०००}
त्रेता युग का मान	३६०० ^{१२,९६,०००}
द्वैपर युग का मान	२४०० ^{८,६४,०००}
कलियुग का मान	१२०० ^{४,३२,०००}
	^{१२,०००} ^{४,३२,०००}
तद्वै युगसहस्रान्तं ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः।	

रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ ७३ ॥

तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते।

प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम् ॥ ७४ ॥

एक हजार युग प्रमाण ब्रह्मा के पवित्र दिन और उतने ही युग प्रमाण रात्रिमान को जो जानता है वही वास्तव में रात-दिन को जानता है। वह सोये हुए ब्रह्माजी अपने अरोहात्र के अन्त में जागकर सत्-असत् स्वरूप मन को सृष्टि की रचना में लगाते हैं। ७३-७४।

२. कृत+त्रेता+द्वैपर+कलि = महायुग = १२०००-४३,२०,०००

१. १००० महायुग = १२०००००० दिव्यवर्ष अथवा
 ४३,२०,००,००० सौर वर्ष का एक अहोरात्र होता है।

मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।

आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ७५ ॥

आकाशात्तु विकुर्वाणात्सर्वगन्धवहः शुचिः ।

बलवाञ्जायते वायुः स चे स्पर्शगुणो मतः ॥ ७६ ॥

सृष्टि करने की इच्छा से मन सृष्टि को करता है। उससे आकाश उत्पन्न होता है जिसका गुण शब्द कहा जाता है। विकारयुक्त आकाश से सब प्रकार के गन्ध को वहन करने वाले पवित्र वायु की उत्पत्ति होती है जिसका गुण स्पर्श होता है। ७५-७६।

वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् ।

ज्योतिरुत्पद्यते भात्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ७७ ॥

ज्योतिषश्च विकुर्वाणदापी रसगुणाः स्मृताः ।

अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥ ७८ ॥

विकारवान् वायु से अन्धकार को नाश करने वाला प्रकाश से युक्त तेज उत्पन्न होता है जिसका गुण रूप है। विकारवान् तेज से जल उत्पन्न होता है जिसका गुण रस है। जल से गन्ध गुण वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। इस प्रकार आदि से सृष्टि का क्रम होता है। ७७-७८।

यत्प्राग्द्वादशसास्त्रमुदितं दैविकं युगम् ।

तदेकसप्तत्रिगुणं मन्वन्तरमिहोच्यते ॥ ७९ ॥

मन्वन्तराण्यसंख्यानि सर्गः संहार एव च ।

क्रीडन्निवतत्कुरुते परमेष्ठी पुनः पुनः ॥ ८० ॥

पहले जो १२ हजार वर्ष का देवताओं का युग बताया गया है उसके इक्कहत्तर गुने (८५२०००) वर्ष का एक मन्वन्तर कहा गया है। एक मन्वन्तर तक एक ही मनु के हाथ में सृष्टि-संचालन का भार रहता है। मन्वन्तर और उत्पत्ति-प्रलय असंख्य है। (परमधाम में रहने वाला) परमेष्ठी (परमात्मा) यह सब खेल की तरह बार-बार करता रहता है। ७९-८०।

चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।

नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते ॥ ८१ ॥

इतरेष्वागमाद्धर्म

पादशस्त्वपरोपितः ।

चौरिकानृतमायाभिधर्मश्चापैति

पादशः ॥ ८२ ॥

सतयुग में धर्म चारों चरणों (अर्थात् सर्वांगपूर्ण) रहता है। सत्य रहता है, कोई मनुष्य किसी के साथ अधर्म नहीं करता। अन्य युगों में अधर्म से धन-विद्यादि के अर्जन द्वारा धर्म का बल घटता है। चोरी, मिथ्या और कपट से क्रमशः धर्म के एक चरण का ह्रास होता है। अभिप्राय यह है कि त्रेता में धर्म के तीन चरण, द्वापर में दो चरण और कलियुग में धर्म का एक ही चरण बचा रहता है। ८१-८२।

आरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।

कृते त्रेतादिषु ह्येषामायुर्हसति पादशः ॥ ८३ ॥

वेदोक्तमायुर्मर्त्यानामाशिषज्जैव कर्मणाम् ।

फलन्त्यनुयुगं लोके प्रभावाच्च शरीरिणाम् ॥ ८४ ॥

सतयुग में लोग धर्माचरण से सब मनोरथ सिद्ध करते हुए नीरोग होकर चार सौ वर्ष तक जीते हैं। त्रेता, द्वापर और कलियुग में धर्म का ह्रास होने से क्रमशः एक-एक सौ वर्ष आयु घटती है। वेदोक्त मनुष्यों की आयु (सतायुर्वै पुरुष) कर्मों के फल और (ब्राह्मणदिकों के) शाप-अनुग्रह आदि के प्रभाव से संसार में प्राणियों को युग धर्मानुकूल ही प्राप्त होती है। ८३-८४।

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।

अन्ये कलियुगे नृणां युगहासानुरूपतः ॥ ८५ ॥

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते ।

द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥ ८६ ॥

सतयुग में अन्य धर्म, त्रेता में अन्य धर्म, द्वापर में अन्य धर्म और कलियुग में अन्य धर्म होता है अर्थात् युगों के ह्रास क्रम से उनके युगधर्म में भी ह्रास होता जाता है। सतयुग में तपस्या, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलियुग में दान प्रधान धर्म माना गया है। ८५-८६।

सर्वस्यास्यतु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।

मुखबाहूरूपज्जाना पृथक्कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥

महातेजस्वी ब्रह्माजी ने इसे सम्पूर्ण विश्व के रक्षार्थ मुख, बाहू, जंघा और पांव से उत्पन्न होने वाले जीवों के अलग-अलग कर्मों की कल्पना की है। ब्राह्मणों के लिए पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना, ये छः कर्म निश्चित किये गये हैं। ८७-८८।

प्रजाना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

विषयेष्वप्रशक्तिश्च क्षत्रित्रयस्य समासमतः ॥ ८९ ॥

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वाणिज्यं च कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥

क्षत्रियों के लिए संक्षेप में प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ करना, पढ़ना, विषयों (गीत-नृत्यादि) में आसक्त न होना, ये पाँच कर्म निश्चित किये गये हैं। पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना, रोजगार करना, सूद पर रुपया देना और कृषि करना ये वैश्यों के कर्म हैं। ८९-९०।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।

एतेषामेव वर्षानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ९१ ॥

ऊर्ध्वं नामेर्भेध्यतरः पुरुषः परिकीर्तितः।

तस्मान्मेध्यमं त्वस्य मुखमुक्तं स्वयंभुवा ॥ ९२ ॥

ब्रह्मा ने उपर्युक्त तीनों वर्णों का गुणानुवाद करते हुए सेवा करना यह एक ही कर्म शूद्रों के लिए निश्चित किया है। नाभि से ऊपर पुरुष अत्यन्त पवित्र माना गया है, उससे भी (सभी अंगों से) पवित्र ब्रह्माजी ने मुख को ही माना है। ९१-९२।

उत्तमांगोद्भवज्जैष्ठ्याद्ब्राह्मणश्चैव धारणात्।

सर्वस्यवास्य सर्गस्य धमतो ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ९३ ॥

त हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।

हव्यकव्याभिवाहाय सर्वस्यास्य च गुप्तये ॥ ९४ ॥

उत्तमांग (मुख से) उत्पन्न होने और वेद को धारण करने के कारण इस सम्पूर्ण संसार का स्वामी धर्म से ब्राह्मण ही है। ब्रह्मा ने तपस्या करके

सबसे पहले देवता और पितरों को हव्य-कव्य पहुँचाने को उत्पन्न किया। ९३-९४।

यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।

कव्यानि चैव पितरः कि भीतमधिकं ततः॥ ९५॥

भूताना प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।

बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥ ९६॥

जिस ब्राह्मण के मुख से देवगण हव्य और पितृगण कव्य खाते हैं उससे कौन प्राणी श्रेष्ठ हो सकता है? भूतों (स्थावर-जंगम रूप पदार्थों) में (कीटादि) श्रेष्ठ हैं, प्राणियों में बुद्धि से व्यवहार करने वाले पशु आदि श्रेष्ठ हैं, बुद्धि रखने वाले जीवों में मनुष्य श्रेष्ठ है और मनुष्यों में ब्राह्मण (यज्ञ-योगादि कर्मों के करने से) श्रेष्ठ होते हैं। ९५-९६।

ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।

कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥ ९७॥

उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धैर्यस्य शाश्वती।

स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ९८॥

ब्राह्मणों में विद्वान, विद्वानों में कृत बुद्धि (शास्त्रोक्त अनुष्ठानों में उत्पन्न कर्तव्य बुद्धि वाले) इनसे कर्म करने वाले और इनसे ब्रह्मज्ञानी श्रेष्ठ होते हैं। ब्राह्मण की उत्पत्ति की धर्म शाश्वत मूर्ति है, वह (ब्राह्मण) धर्म के लिए ही उत्पन्न होता है। इसलिए यह मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। ९७-९८।

ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधि जायते।

ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥ ९९॥

सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।

श्रेष्ठयेनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥ १००॥

इस पृथ्वी पर ब्राह्मण ही सबसे श्रेष्ठ उत्पन्न होता है। वह सभी प्राणियों के धर्म कोश की रक्षा में समर्थ है। इस संसार में जो कुछ है वह सब धर्म ब्राह्मणों का है क्योंकि सबसे श्रेष्ठ उत्पत्ति होने के कारण वह (ब्राह्मण) ही इसका अधिकारी है। ९९-१००।

स्वमेव ब्राह्मणो भूङ्क्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च ।

आनृशंस्याद्ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जगाः ॥ १०१ ॥

तस्य कर्मविवेकार्थं शेषाणामनुपूर्वशः ।

स्वायंभुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत् ॥ १०२ ॥

ब्राह्मण अपना ही खाता है, अपना ही पहनता है और अपना ही दान देता है (अर्थात् दूसरे का अन्न वस्त्रादि सब ब्राह्मण का ही होता है) ब्राह्मण ही की कृपा से अन्य लोग पदार्थों को भोगते हैं। उसके (ब्राह्मण) और अन्य वर्णों के कर्मों को जानने के लिए ही बुद्धिमान स्वायंभुव मनु ने इस शास्त्र की रचना की है। १०१-१०२।

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।

शिष्येभ्यश्चप्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येनकेनचित् ॥ १०३ ॥

इदं शास्त्रमधीयानो ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।

मनोवाग्देहजैर्नित्यं कर्मदोषैर्न लिप्यते ॥ १०४ ॥

विद्वान् ब्राह्मण इस शास्त्र को अच्छी तरह से पढ़े और यत्नपूर्वक शिष्यों को भी पढ़ावे, किसी दूसरे को न पढ़ावे। इस शास्त्र के अध्ययन करने वाले और इसके अनुसार अनुष्ठान करने वाला ब्राह्मण मन, वचन और शरीर से होने वाले नित्य कर्मों के दोषों से रहित होता है। १०३-१०४।

पुनाति पंक्तिंवश्यांश्च सप्त सप्त परावरान् ।

पथिवीमपि चैवेमाँ कृत्स्नामेकोऽपि सोऽर्हति ॥ १०५ ॥

इदं स्वस्त्ययनं श्रेष्ठमिदं बुद्धि विवर्धनम् । १

इदं यशस्यमायुष्यमिदं निःश्रेयसं परम् ॥ १०६ ॥

इस शास्त्र का अध्ययन करने वाला व्यक्ति (अपवित्र लोगों को) पवित्र करता है। वह सात पुस्त (पीढ़ी) पीछे के लोगों को और सात आगे होने वाले लोगों का उद्धार करता है। वह अकेला ही इस सम्पूर्ण पृथ्वी का उद्धार करने योग्य होता है। वह श्रेष्ठ शास्त्र कल्याण को देने वाला, बुद्धि को बढ़ाने वाले, यश को देने वाला, आयुष्य को देने वाला और मुक्ति को देने वाला है। १०५-१०६।

अस्मिन्धर्मोऽखिलेनोक्तो गुणदोषौ च कर्मणाम्।

चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः ॥ १०७ ॥

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।

तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्निजः ॥ १०८ ॥

इस शास्त्र में सम्पूर्ण धर्म, कर्मों के गुण-दोष कहे गये हैं और चारों वर्णों के धर्म आचार भी कहे हैं। श्रुति (वेद) और स्मृति में कहा हुआ आचार ही परम धर्म है इसलिए अपनी आत्मोन्नति चाहने वाले ब्राह्मण को हमेशा आचार से युक्त रहना चाहिए। १०७-१०८।

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।

आचरेण तु संयुक्तः संपूर्णफल भाग्भवेत् ॥ १०९ ॥

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।

सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥

अपने आचार से हीन ब्राह्मण को वेद का फल नहीं होता है। आचार से युक्त ब्राह्मण वेद के सम्पूर्ण फल को पाता है। मुनियों के आचार से ही सब धर्मों की गति देखकर आचार को ही सभी तपस्याओं का मूल माना है। १०९-११०।

जगतश्च समुत्पत्तिं संस्कारविधिमेव च।

व्रतचर्योपचारं स्नानस्य च परं विधिम् ॥ १११ ॥

दाराधिगमनं चैव विवाहानां च लक्षणम्।

महायज्ञविधानं च श्राद्धकल्पं च शाश्वतम् ॥ ११२ ॥

संसार की उत्पत्ति, संसार की विधि, व्रतचर्या (ब्रह्म व्रत) और स्नान (ब्रह्मचर्य व्रत के बाद) की विधि एक से दो अध्यायों तक में वर्णन है। इसके बाद-विवाह, विवाह के लक्षण, महायज्ञ का विधान और नित्य श्राद्ध की विधि। इसके बाद- १११-११२।

वृत्तीनां लक्षणं चैव स्नातकस्य व्रतानि च।

भक्ष्याभक्ष्यं च शौचं च द्रव्याणां शुद्धिमेव च ॥ ११३ ॥

स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।

राजश्च धर्ममखिलं कार्माणां च विनिर्णयम्॥ ११४॥

जीविका के लक्षण, स्नातक (गृहस्थी में प्रवेश करने वाला) के व्रतों के नियम, भक्ष्य, अभक्ष्य, शौच और द्रव्यों की शुद्धि। इसके बाद-क्रम से स्त्रियों के धर्म, तपस्या, मोक्ष, संन्यास, राजाओं के सम्पूर्ण धर्म और राजकार्यों का विशेष निर्णयादि कहे गये हैं। ११३-११४।

साक्षिप्रश्नविधानं च धर्म स्त्रीपुंसयोरपि।

विभागधर्मं द्यूतं च कण्टकानां च शोधनम्॥ ११५॥

वैश्यशूद्रोपचारं च संकीर्णानां च संभवम्।

आपद्धर्मं च वर्णानां प्रायश्चित्तविधिं तथा॥ ११६॥

साक्षियों से पूछने की विधि, स्त्री-पुरुष के धर्म, विभाग (उत्तराधिकार) धर्म, जुआ और मार्ग के कंटक (काँटों) के शोधन का वर्णन है। वैश्य-शूद्रों के कर्म, संकीर्ण (वर्णसंकर) जातियों की उत्पत्ति, आपद् (आपत्ति काल में) धर्म और वर्णों (चारों वर्णों) की प्रायश्चित्त विधि। ११५-११६।

संसार गमनं चैव त्रिविधं कर्मसंभवम्।

निःश्रेयसं कर्मणां च गुणदोषपरीक्षणम्॥ ११७॥

देशधर्माज्जातिधर्मान्कुलधर्माश्च शाश्वतान्।

पाखण्डगणधर्माश्च शास्त्रेऽस्मिन्नुक्तवान्मनुः॥ ११८॥

कर्मों के द्वारा उत्पन्न तीन श्रेणी (उत्तम, मध्यम, निकृष्ट) की शरीर प्राप्ति, मुक्ति साधन और कर्मों के गुण-दोष की परीक्षा। देश धर्म जातियों के धर्म, कुल धर्म, पाखण्डियों के धर्म इस शास्त्र में मनु जी ने कहे हैं। ११७-११८।

इति प्रथमोऽध्यायः॥ १॥



द्वितीय अध्याय

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यद्वेषरागिभिः ।

हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निभोधतः ॥ १ ॥

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता ।

काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥ २ ॥

निन्द्य राग-द्वेष से रहित, श्रेष्ठ धार्मिक विद्वानों द्वारा सेवन किया हुआ, हृदय से अच्छी तरह से ज्ञात जो धर्म है उसे सुनिये । इस संसार में (किसी वस्तु) की कामना करनी श्रेष्ठ नहीं है, फिर भी कामना नहीं है ऐसा नहीं है । वेदों का अध्ययन करना और वेदविहीन कर्मानुसार करना ही काम्य है । १-२ ।

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसंभवाः ।

व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥ ३ ॥

अकामस्य क्रिया काचिदृश्यते नेह कर्हिचित् ।

यद्यद्भिः कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥ ४ ॥

कामना का मूल संकल्प ही होता है । यज्ञ संकल्प से ही होते हैं । व्रत, यज्ञादि सभी धर्म का आधार संकल्प ही कहा गया है । इस संसार में कामना (इच्छा) के बिना कोई कर्म नहीं दिखाई देता । कोई भी जो कुछ करता है वह इच्छा से ही करता है । ३-४ ।

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम् ।

यथा संकल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥ ५ ॥

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।

आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ ६ ॥

उन शास्त्रोक्त कर्मों में सम्यक् प्रकार से लगा हुआ मनुष्य देवलोक को प्राप्त करता है। जैसे इस संसार में उसके संकल्प पूरे होते हैं। सम्पूर्ण वेद और वेदों के जानने वालों (मनु आदि को) स्मृतिशील और आचार तथा धार्मिकों को मनस्तुष्टि, यह सभी मूल धर्म के प्रमाण हैं। ५-६।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।

स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ ७ ॥

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं क्षानचक्षुषा।

नुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै॥ ८ ॥

जो कुछ किसी के धर्म को मनु जी ने जैसे कहा है वह सब वेद में कहा हुआ है क्योंकि वह सर्वज्ञ हैं। दिव्य दृष्टि से इन सबको अच्छी तरह देखकर (विचार कर) वेद को प्रमाण मानते हुए विद्वान अपने धर्म में निरत रहे।

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्ति मानवः।

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ ९ ॥

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।

ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मौ हि निर्बभौ॥ १० ॥

क्योंकि श्रुति (वेद) स्मृति (धर्मशास्त्र) में निहित धर्मादि को करने वाला मनुष्य इस लोक में कीर्ति को पाकर परलोक में सुख पाता है। श्रुति को वेद और स्मृति को धर्मशास्त्र जानना चाहिए, दोनों सभी विषयों में अतर्क्य हैं। इन्हीं दोनों से सभी धर्म प्रकट हुए। ९-१०।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्विजः।

स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ ११ ॥

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्थ च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ १२ ॥

जो द्विजाति शास्त्र द्वारा धर्म के मूल दोनों (वेद-स्मृति) का अपमान करता है उसे सज्जनों को तिरस्कृत करना चाहिए, क्योंकि वह वेदनिन्दक

होने से नास्तिक है। वेद, स्मृति, सदाचार, और अपने-अपने आत्मा को प्रिय सन्तोष ये चार साक्षात् धर्म के लक्षण हैं। ११-१२।

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानां विधीयते।

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

श्रुतिर्द्विधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।

उभावपि हि तौ धर्मो सम्यगुक्तो मनीषिभिः ॥ १४ ॥

अर्थ और काम में आसक्त पुरुषों के लिए ही धर्म ज्ञान का उपदेश है। धर्म का ज्ञान प्राप्त करने वालों को वेद ही श्रेष्ठ प्रमाण है। जहाँ पर श्रुतियों में ही विरोध है वहाँ पर मनु ने दोनों ही अर्थों को धर्म माना है। महर्षियों ने भी दोनों के कहे हुए धर्मों को धर्म माना है। १३-१४।

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।

सर्वथा वतर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।

तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिज्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ १६ ॥

सूर्योदय होने पर, सूर्योदय के पूर्व और अरुणोदय समय में यज्ञ (हवन) करना चाहिए। ये तीनों ही श्रुति वचन हैं, इसलिए तीनों ही ग्राह्य हैं। जिनका मन्त्रों द्वारा गर्भाधान से श्मशान तक सब संस्कार की विधि कही गई है उन्हीं लोगों को इस शास्त्र के अध्ययन का अधिकार है, अन्य किसी को नहीं। १५-१६।

सरस्यतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्दन्तरम् ।

तं तेवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ १७ ॥

तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः।

वर्मानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥ १८ ॥

सरस्वती और दृषद्वती इन दो देव नदियों का जो अन्तर है उसे देवताओं का बनाया हुआ ब्रह्मावर्त देश कहते हैं। उस देश में चार वर्णों और उनके अन्तर्गत (संकीर्ण) जातियों के परम्परा से जो आचार हैं उन्हीं को सदाचार कहते हैं। १७-१८।

कुरुक्षेत्रं च मत्स्यश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।

एष ब्रह्मार्थदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥ १९ ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ २० ॥

कुरुक्षेत्र और मत्स्य देश, पंचाल (कान्य-कुब्ज) और शूरसेन (मथुरा) ये ब्रह्मर्षि देश हैं जो कि ब्रह्मावर्त से न्यून हैं। इस देश (उपर्युक्त कुरुक्षेत्रादि) में उत्पन्न ब्राह्मणों से सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को अपने-अपने चरित्र (आचार) को सीखना चाहिए। १९-२०।

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशानादपि ।

प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥ २१ ॥

आसमुद्रात्त व पूर्वादासमुद्रात्त पश्चिमात् ।

तयोरेवान्तरं गिर्योरायावर्तं विदुर्बुधाः ॥ २२ ॥

सस्वती नदी से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम हिमालय और विन्ध्य पर्वत के मध्य के देश को मध्य देश कहते हैं। पूर्वी समुद्र से लेकर पश्चिमी समुद्रपर्यन्त दोनों पर्वतों (हिमालय और विन्ध्याचल) के बीच के देश को पंडितों ने आर्यावर्त कहा है। २१-२२।

कृष्णसारस्तु चरित मृगो यज्ञ स्वभावतः ।

स ज्ञेयो यज्ञियो देशो मलेच्छदेशस्त्वतं परः ॥ २३ ॥

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः ।

शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्षितः ॥ २४ ॥

जहाँ पर स्वभाव से ही काले रंग के मृग रहते हैं वह यज्ञ करने के योग्य देश है इससे भिन्न मलेच्छ देश है। ये द्विजों के देश हैं। इसमें द्विजाति को प्रयत्न करके रहना चाहिए, जीविका के न रहने से दुखी शूद्र चाहे जिस देश में निवास करे। २३-२४।

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।

संभवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मात्रिबोधतः ॥ २५ ॥

वैदिकै, कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।

कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

यहाँ तक कर्म की उत्पत्ति और जगत् की उत्पत्ति का वर्णन संक्षेप में हुआ है, अब वर्णधर्मादि सुनिये। द्विजातियों को वैदिक कर्मों द्वारा

गर्भाधानादि शरीर के संस्कार करने चाहिए, जो कि इस लोक और परलोक दोनों में पाप का क्षय करने वाला है। २५-२६।

गार्भेर्होमैर्जातकर्मचौडमौज्जीनिबन्धनैः ।

वैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥ २७ ॥

स्वाध्यायेन व्रतेर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतेः ।

महायज्ञेश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ २८ ॥

गार्भिक (धर्म की शुद्धि के लिए जो हवनादि होते हैं) जातकर्म, चूड़ा (मुण्डन) और उपनयन संस्कारों के करने से द्विजातियों के बीज और गर्भ के दोष दूर हो जाते हैं। वेदाध्ययन, व्रत, होम, त्रैविध देवर्षि-पितृ-तर्पण, पुत्रोत्पादन (पाँच), ब्रह्मयोगादि और ज्योतिष्टोमादि यज्ञों द्वारा यह शरीर ब्रह्मगति के योग्य बनाया जाता है। २७-२८।

प्राङ्-नाभिवर्थनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।

मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥ २९ ॥

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।

पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गृणान्विते ॥ ३० ॥

नालच्छेदन के पहले पुरुष का जात कर्म संस्कार किया जाता है, इसके बाद ही उस बालक को सुवर्ण, मधु और घी को वैदिक मन्त्रों द्वारा चटाना चाहिए। उस बालक का दसवें या बारहवें दिन नामकरण संस्कार शुभ पुण्य तिथि, मुहूर्त और नक्षत्र में करना चाहिए। २९-३०।

मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम् ।

वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ ३१ ॥

शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्रजो रक्षासमन्वितम् ।

वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥

ब्राह्मण का मंगलवाचक, क्षत्रिय का बलवाचक वैश्य का धन से युक्त और शूद्र का निन्दा से युक्त नाम रखना चाहिए। शर्मान्त ब्राह्मण का (जैसे गोपीनाथ शर्मा), क्षत्रियों का रक्षा से युक्त (रघुबीर सिंह या रामनाथ वर्मा), वैश्य का पुष्टि से युक्त (जैसे घनश्याम गुप्त) और शूद्र का दास से युक्त (बलराम दास) नाम रखना चाहिए।

स्त्रीणां सुखोद्यमकूरं विशपष्टार्थं मनोहरम्।
 मंगल्यं दीर्घवर्णान्तिमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ ३३ ॥
 चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्।
 षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले ॥ ३४ ॥

मुख से उच्चारण करने के योग्य, सुन्दर अर्थ का द्योतक, स्पष्ट चित्त को प्रसन्नता प्राप्त कराने वाला, मंगलसूचक, अन्तिम अक्षर दीर्घवर्णात्मक, आशीर्वादात्मक शब्द से युक्त स्त्रियों का नाम रखना चाहिए। (जैसे यशोदा देवी)। जन्म से चौथे मास में बालक को घर से बाहर निकालना चाहिए। (इसको निष्क्रमण कहते हैं) और छठे मास से अन्नप्राशन (चटावन) करना चाहिए अथवा कुल की रीति के अनुसार जो मंगल हो उसे ही करें। ३३-३४।

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
 प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात् ॥ ३५ ॥
 गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
 गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भास्तु द्वादशे विशः ॥ ३६ ॥

सभी द्विजातियों का धर्म के लिए पहले या तीसरे वर्ष में मुण्डन करना चाहिए ऐसा वेद में कहा है। गर्भ से आठवें वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करना चाहिए। गर्भ से ११ वें वर्ष में क्षत्रियों का और गर्भ से १२ वें वर्ष में वैश्यों का उपनयन संस्कार करना चाहिए। ३५-३६।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।
 राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ ३७ ॥
 आषोडशाद्ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।
 आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मतेजाभिलाषी ब्राह्मण का गर्भ से ५ वें वर्ष में बलाभिलाषी क्षत्रिय का ६ वर्ष में और धनाभिलाषी वैश्य का ८ वें वर्ष में उपनयन करना चाहिए। १६ वें वर्ष तक ब्राह्मण का, २० वर्ष तक क्षत्रिय का और २४ वें वर्ष तक वैश्य को सावित्री का अतिक्रमण नहीं होता है। (अर्थात् उक्त समय तक उपनयन हो सकता है।) ३७-३८।

अतः ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।

सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥ ३९ ॥

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यति हि कर्हिचित् ।

ब्राह्मान्यौनांश्च संबन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सहः ॥ ४० ॥

उक्त समयों के बाद यथासमय संस्कार न होने से वे (तीनों विप्र, क्षत्रिय, वैश्य) सावित्री से पतित होकर समाज से बहिष्कृत और व्रात्य होते हैं। इन अपवित्रों (व्रात्यों) के साथ इनके विधिवत् प्रायश्चित्तादि करने पर भी कोई भी ब्राह्मण आपत्तिकाल में भी उनसे किसी प्रकार का सम्बन्धादि न करे। ३९-४०।

काष्णारौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।

बसीरत्रापूर्य्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥ ४१ ॥

मौज्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्यं विप्रस्य मेखला ।

क्षत्रियस्य तु मौर्वी जया वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचारियों को कृष्णमृग, रुरुमृग, बकरे का चमड़ा, उत्तरीय की जगह धारण करना चाहिए और वर्ण क्रम से सन (टट), तीसी के सूत का कपड़ा और ऊन का वस्त्र धारण करना चाहिए। तीन फेरे वाली चिकनी मौँज की मेखला ब्राह्मण ब्रह्मचारी की, क्षत्रिय ब्रह्मचारी की मूर्वा की प्रत्यंचा और वैश्य ब्रह्मचारी की सन की बनी मेखला होनी चाहिए। ४१-४२।

मुञ्जालाभे कर्तव्याः कुशाश्मन्तकबल्वजैः ।

त्रिवृता ग्रन्थिनेकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥ ४३ ॥

कार्पासमुपवीतं स्याद्वि प्रस्योर्ध्ववृत्तं त्रिवृत् ।

शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥ ४४ ॥

यदि मौँज न मिले तो कुश अथवा पत्थर से उत्पन्न होने वाली घास (डाभी) की तीन फेरे वाली मेखला बनाकर उसमें तीन या पाँच गाँठ देनी चाहिए। ब्राह्मण का कपास के सूत का, क्षत्रिय का सन के सूत का और वैश्य का भेड़ के सूत का यज्ञोपवीत होना चाहिए और यह तिहरा और दाहिने से बटा हुआ होना चाहिए। ४३-४४।

ब्राह्मणो वैल्वपालाशो क्षत्रियो वाटखादिरौ ।

पैलबौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः ॥ ४५ ॥

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः ।

ललाटसंमितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥ ४६ ॥

ब्राह्मण बेल या पलाश का, क्षत्रिय बड़ (वर) या खैर का और वैश्य पीलू या गूलर का दण्ड धर्म के लिए धारण करे। ब्राह्मण का दण्ड उसको खड़ा कर उसके पैर से शिखा के अग्र भाग तक का लम्बा, क्षत्रिय का कपाल तक और वैश्य का नाक तक का लम्बा होना चाहिए। ४५-४६ ।

ऋजवस्ते तु सर्वे स्तुरव्रणाः सौम्यदर्शनाः ।

अनुद्वेगकरा नृणां सत्त्वचोऽनग्निदूषिताः ॥ ४७ ॥

प्रतिगृहोप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम् ।

प्रदक्षिणां परीत्याग्निं चरेदैर्भक्षं यथाविधि ॥ ४८ ॥

ये सभी दण्ड सीधे, छिद्ररहित, देखने में सुन्दर और चित्त को प्रसन्न करने वाले, त्वचा से गौर और जले न हों। अपने-अपने अभीष्ट दण्ड को धारण कर और सूर्य का उपस्थान करके अग्नि की परिक्रमा करके नियम के अनुसार भिक्षा माँगे। ४७-४८ ।

भवत्पूर्वं चरेदभक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः ।

भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तमः ॥ ४९ ॥

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजम् ।

भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥ ५० ॥

भिक्षा माँगने से नियम-उपवीत ब्राह्मण भिक्षा माँगते समय माँगने वाले से पहले भवत् शब्द का प्रयोग करे। (जैसे-भवति भिक्षां मे देहि), क्षत्रिय मध्य में (जैसे-भिक्षां भवति मे देहि) और वैश्य अन्त में भवत् शब्द का प्रयोग करें (जैसे-भिक्षां देहि, मे भवति)। अपनी माता या मौसी या बहिन से अथवा किसी अन्य से, जो कि अपमान न करे, पहले भिक्षा माँगनी चाहिए। ४९-५० ।

समाहृत्य तु तद्भैक्षं यावदन्नममायया ।

निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥ ५१ ॥

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः ।

श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥ ५२ ॥

उस भिक्षा को लाकर निष्कपट होकर गुरु को निवेदन कर पूर्वाभिमुख पवित्र होकर आचमन करके भोजन करे। पूर्व मुख होकर भोजन करने से आयु, दक्षिण मुख से यश, पश्चिम मुख से लक्ष्मी और उत्तर मुख से भोजन करने से सत्य का फल होता है। ५१-५२।

उपस्पृश्य द्विजौ नित्यमन्नद्यात्समाहितः।

भुक्त्वा चोस्पृशेत्सम्यग्दिभः खानि च संस्पृशेत्॥ ५३॥

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।

दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥ ५४॥

द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) नित्य आचमन कर भोजन करे और भोजन के बाद अच्छी तरह आचमन करके छिद्रों (आँख, कान, नाक) जल से स्पर्श करे। भोजन को नित्य पूज्य दृष्टि से देखे और बिना निन्दा किये हुए भोजन करे और देखकर संतुष्ट और प्रसन्न होवे तथा हमेशा अन्न का अभिनन्दन करे। ५३-५४।

पूजतिं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।

अपूजितं तु तद्भुक्तमुमयं नाशयेदिदम्॥ ५५॥

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथांतरा।

नचैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद्व्रजेत्॥ ५६॥

नित्य आदर की दृष्टि से किया भोजन बल और तेज का दाता है, और अनादर की दृष्टि से किया हुआ भोजन (बल और तेज) दोनों का नाश करता है। किसी को जूटा न दे और न किसी का जूटा स्वयं ही खावे, अर्थात् भोजन न करे और अधिक भोजन न करे तथा जूटे मुँह नहीं न जावे। ५५-५६।

अनारोग्यमनायुष्यलघ्वर्ग्यं चातिभोजनम्।

अपुण्यं लोकाविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ ५७॥

ब्राह्मण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत्।

कार्यत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन॥ ५८॥

अत्यन्त भोजन रोगकारक, आयुष्य में क्षीणता और स्वर्ग प्राप्ति में बाधक और पुण्य को नाश करने वाला होता है, इसलिए अत्यन्त भोजन न करे। ब्राह्मण को हमेशा ब्रह्मतीर्थ या प्रजापति या देवतीर्थ से आचमन करना

चाहिए, किन्तु पितृतीर्थ से कभी भी आचमन नहीं करना चाहिए। ५७-५८।

अंगुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते।

कायमंगुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरध॥ ५९॥

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्।

खानि चैव स्पृशेददिभरात्मानं शिर एव च॥ ६०॥

अंगूठे के मूल के नीचे ब्राह्मतीर्थ, कनिष्ठिका (सबसे छोटी अंगुली) के मूल में प्रजापति तीर्थ, अंगुलियों के अग्र भाग में देवतीर्थ और अंगुष्ठ और प्रदेशिनी (पहली अंगुली) के बीच को पितृतीर्थ कहते हैं। पहले जल से तीन बार आचमन करके इसके बाद आंख, कान, और अपने मस्तक का स्पर्श करे। ५९-६०।

अनुष्णाभिरफेनाभिरदिभस्तीर्थेन धर्मवित्।

शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः॥ ६१॥

हृद्गाभिः पूजये विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमितः।

वैश्योऽदिभ प्राशिचाभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः॥ ६२॥

पवित्रता के इच्छुक धार्मिक पुरुष को हमेशा एकान्त में पूर्व अथवा उत्तर मुंह होकर शीतल और फैन (गाज) से रहित जल से कहे हुए तीर्थों द्वारा आचमन करना चाहिए। आचमन का जल ब्राह्मण के हृदय तक और क्षत्रिय के कण्ठ तक पहुँचने से ये शुद्ध होते हैं और वैश्य के मुंह में पड़ने से ही तथा शूद्र होठों में लगाने से ही शुद्ध होता है। ६१-६२।

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः।

सव्ये प्राचीनआवीती निवीति कण्ठसंजने॥ ६३॥

मेखलामजिनं दण्ठमुपवीतं कमण्डलुम्।

अप्सु प्राश्य विनष्टानि गृहणीतान्यानि मंत्रवत्॥ ६४॥

दाहिने हाथ के नीचे (और बाएं कन्धे के ऊपर) यज्ञोपवीत के रहने के द्विज उपवीती (सव्य) कहलाता है और इससे विलोम रहने को प्राचीनावीती (अपसव्य) कहते हैं और कण्ठ ((गले) में जनेऊ धारण करने को निवीती कहते हैं। मेखला, मृगछाला, दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलु इनमें से कोई चीज छिन्न-भिन्न हो जाय तो जल में विसर्जन करके मन्त्रोच्चारण पूर्वक दूसरा धारण करना चाहिए। ६३-६४।

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।

राजन्यबन्धौद्वाविंशे वैश्यस्य द्वयाधिके ततः ॥ ६५ ॥

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।

संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥

ब्राह्मण का १६ वें वर्ष में, क्षत्रियों का २२ वें वर्ष में और वैश्य का २४ वें वर्ष में केशांत संस्कार करना चाहिए। यथा समय यथा क्रम शरीर के शुद्ध्यर्थ बिना मंत्र के स्त्रियों के पूर्वोक्त सभी संस्कार करने चाहिए। ६५-६६।

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।

पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥ ६७ ॥

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।

उत्पत्तिव्ययंजकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥ ६८ ॥

स्त्रियों का वैदिक संस्कार विवाह विधि ही है। स्त्रियों के लिए पति की सेवा ही गुरुकुल का वास और घर का काम-धन्धा ही नित्य का हवन होता है। यह सब द्विजातियों के उपनयन की विधि कही गई है जो कि उनके पूर्व के पुण्य को प्रकट करती है, अब उनके कर्म योग को सुनिये। ६७-६८।

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।

आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥ ६९ ॥

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रीमुजदइमुख।

ब्रह्मांजलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥ ७० ॥

गुरु शिष्य का उपनयन करके पहले शौच, आचार, अग्निहोत्र और सन्ध्योपासन की शिक्षा देवे। गुरु से पढ़ने की इच्छा वाला शिष्य शुद्ध वस्त्र पहनकर शास्त्र की विधि से आचमन करके उत्तर मुंह जितेन्द्रिय होकर ब्रह्मांजलि करके गुरु के समीप बैठे और ऐसे शिष्य को गुरु पढ़ावे। ६९-७०।

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।

संहृत्य हस्तावध्येयं स ह ब्रह्मांजलिः स्मृतः ॥ ७१ ॥

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।

सव्येन सव्यः स्पष्टव्यो दक्षिणे च दक्षिणः ॥ ७२ ॥

नित्य वेदारम्भ करने के पहले और बाद में गुरु के चरणों को छूना चाहिए। हाथों को जोड़े हुए ही पढ़े, इसी को ब्रह्मांजलि कहते हैं। उल्टे हाथों से अर्थात् गुरु का बायें हाथ से बायाँ और दाहिने हाथ से दाहिना पैर छूना चाहिए। ७१-७२।

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।

अधीष्वभो इतिब्रूयाद्विरामोऽस्तिवति चारमेत्॥ ७३ ॥

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।

स्त्रवत्यनोक्तं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति॥ ७४ ॥

आलस्य को छोड़कर गुरु पढ़ने वाले शिष्य को नित्य पढ़ाने के समय हे शिष्य पढ़ो, ऐसा कहे और पढ़ाना बन्द करने के समय 'बस करो' ऐसा कहकर पढ़ना बन्द करे। नित्य वेदाध्ययन के समय आदि और अन्त में प्रणव (ॐ) का उच्चारण करना चाहिए। (ॐ) का उच्चारण न करने से पहले का पढ़ा हुआ भूल जाता है और आगे याद नहीं होता है। ७३-७४।

प्राक्कलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।

प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओंकारमर्हति॥ ७५ ॥

आकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।

वेदत्रयान्निरदुहदभर्भुवः स्वरितीति च॥ ७६ ॥

पूर्व दिशा में कुशा का अग्र करके उस पर बैठकर और पवित्री को पहिनकर तीन बार प्राणायाम कर पवित्र होकर तब ओंकार का उच्चारण करना चाहिए। ब्रह्मा ने अकार, उकार, और मकार तथा भूर्भुवः स्वः इन तीन व्याहृतियों को तीनों वेदों से निकाला है। ७५-७६।

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।

दतित्युचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापति॥ ७७ ॥

एतदक्षरभेतां च जपन्व्याहतिपूर्विकाम्।

संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥ ७८ ॥

परमेष्ठी ब्रह्मा ने तीनों वेदों से क्रमशः सावित्री के एक-एक पाद करके तीन पाद को निकाला। ओंकार पूर्वक तीन पादों वाली व्याहतिपूर्वक सावित्री

का जप दोनों सन्ध्याकाल में करने वाला वेदज्ञ ब्राह्मण सम्पूर्ण वेद पाठ किए हुए पुण्य से युक्त होता है। ७७-७८।

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतात्रिकं द्विजः।

महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥ ७९ ॥

यतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियता स्वया।

ब्रह्मक्षत्रियविटयोनिर्हणां याति साधुषु ॥ ८० ॥

द्विज इन तीनों (प्रणव, व्याहृति और सावित्री) को बाहर (एकाँत में) एकाग्रचित से एक मास पर्यन्त नित्य एक हजार जप करे तो बड़े भारी पाप से मुक्त हो जाता है जैसे साँप केंचुल से मुक्त होता है। सन्ध्या से भिन्न समय पर इस सावित्री के जप को और हवनादि करने वाला द्विज ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैष्णवों की साधु मण्डली (सज्जनों) में निन्दित होता है। ७९-८०।

ओंकारपूर्विकास्तिस्त्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः।

त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ ८१ ॥

योऽधीतेऽहन्यहन्तेतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।

स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतःखमूर्तिमान् ॥ ८२ ॥

ॐकार पूर्वक तीनों महा व्याहृति (भूभुवः स्वः) और त्रिपद सावित्री, अव्यय और वेद का मुख है। जो आलस्य को छोड़कर तीन वर्ष लगातार इनका प्रतिदिन (ओंकार व्याहृतिपूर्वक सावित्री का) जप करता है वह वायु की तरह शीघ्रगामी होकर आकाश के स्वरूप को धारण कर परब्रह्म में मिल जाता है। ८१-८२।

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायायः परं तपः।

सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥ ८३ ॥

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोत्रियजतिक्रियाः

अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः ॥ ८४ ॥

एकाक्षर (ओं) परब्रह्म है और प्राणायाम परम तप है तथा सावित्री से बढ़कर कोई मंत्र नहीं है और मौन से सत्य बोलना श्रेष्ठ है। वेद विहित सभी हवन यज्ञादि कर्मों के फल नष्ट हो जाते हैं, किन्तु प्रजापति ब्रह्मस्वरूप ओंकार का कभी नाश नहीं होता। ८३-८४।

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणः ।

उपांशुः स्वाच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥ ८५ ॥

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।

सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ८६ ॥

विधियज्ञ (दशपौर्णमास यज्ञ) से जप यज्ञ (प्रणवादि जप) दशगुना अधिक फल देने वाला होता है और उपान्शु जप (ओंठ और जीभ चलते हों किन्तु सुनाई न पड़े) सौगुना और उपान्शु से मानस जप हजार गुना बड़ा होता है। जो चार पाकयज्ञ (पितृकर्म, हवन, बलि-वैश्यदेव) विधियज्ञ के बराबर हैं वे सभी जपयज्ञ के १६ वें भाग के बराबर भी नहीं हैं। ८५-८६

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

कुर्यादन्यत्र वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ८७ ॥

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।

संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यत्नेनैव वाजिनाम् ॥ ८८ ॥

ब्राह्मण जप मात्र करने से ही सिद्ध होता है इसमें सन्देह नहीं है। अन्य यज्ञादि को करे या न करे उतने ही से (जप मात्र से) ब्राह्मण मन्त्र कहलाता है। विद्वान की बुद्धि को हरण करने वाली अन्य विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों का शमन करने में प्रयत्नशील होना चाहिए जैसे सारथी घोड़ों के रोकने में प्रयत्नशील होता है। ८७-८८।

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वं मनीषिणः ।

तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ८९ ॥

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पंचमी ।

पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ॥ ९० ॥

प्राचीन ऋषियों ने जिन ग्यारह इन्द्रियों को कहा है, क्रम से सम्पूर्ण उन इन्द्रियों और उनके कर्मों को यथावत् कहता हूँ। कान, त्वचा (चर्म), नेत्र, जिह्वा, नाक, गुदा, लिंग, हाथ, पैर और १० वीं वाणी। ८९-९०।

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषा श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः ।

कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥ ९१ ॥

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ।

यस्मिजिते जितावेतौ भवतः पंचकौ गणौ ॥ ९२ ॥

इनमें काम आदि पाँच बुद्धिन्द्रिय हैं और गुदा आदि पाँच कर्मेन्द्रिय हैं ।
उपयात्मक (ज्ञान और कर्म दोनों इन्द्रियों में रहने वाला) ॥ ९१ वां मन है
जिसको जीतने से ये दोनों इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं ॥ ९१-९२ ॥

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।

संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिर्नियच्छति ॥ ९३ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥ ९४ ॥

इन्द्रियों के प्रसंग से ही निःसन्देह मनुष्य दोष को (अधर्म को) प्राप्त होता
है और उनको जीत लेने से सिद्धि हो पाता है । इच्छाओं के अनुकूल भोग
को भोगने से इच्छा की पूर्ति नहीं होती है । किन्तु जैसे आग में घी डालने
से अग्नि भड़क उठती है उसी तरह इच्छा में वृद्धि हो जाती है ॥ ९३-९४ ॥

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतन्केवलास्त्यजेत् ।

प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥ ९५ ॥

न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।

विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥ ९६ ॥

जो इन सबको प्राप्त करता है, जो इन सबको केवल त्याग देता है, (दोनों
में त्यागने वाला ही श्रेष्ठ रहता है) क्योंकि सभी कर्मों को प्राप्त करने की
अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ होता है । जैसे विषयों में प्रयुक्त इन्द्रिय ज्ञान
के वश में हमेशा रोकी जा सकती है, वैसे ही उनको न करने से वे नियन्त्रण
में आ सकती हैं ॥ ९५-९६ ॥

वेदास्त्याशश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।

न विप्रदुष्ट भावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचिन् ॥ ९७ ॥

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।

न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ९८ ॥

भोगादि विषयों में लगे हुए मनुष्यों के वेदाध्ययन, यज्ञ, नियम और तपस्या
ये कभी भी सिद्धि को नहीं देते हैं । जो मनुष्य सुनकर, स्पर्श कर, खाकर और

गन्ध को पाकर प्रसन्न और उदास नहीं होता है वही जितेन्द्रिय कहलाता है। ९७-९८।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।

तेनास्य क्षरित प्रज्ञा द्रुतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।

सर्वासन्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन्योगतस्तनुम् ॥ १०० ॥

सभी इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय का ह्रस हो जावे तो मनुष्य की बुद्धि का ह्रस हो जाता है जैसे छिद्रयुक्त पात्र (चर्म के बने हुए) से जल का ह्रस हो जाता है। इन्द्रिय समूह को वश में करके मन को रोक कर योग मार्ग द्वारा शरीर सुखी रखते हुए सभी पुरुषार्थों का साधन करें। ९९-१००।

पूर्वा संध्यां जपस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १०१ ॥

पूर्वा संध्यां जपस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।

पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ १०२ ॥

प्रातः सन्ध्या में पूर्व मुंह खड़े होकर सूर्य दर्शन पर्यन्त सावित्री का जप करें। सायंकालीन सन्ध्या में पश्चिम मुंह बैठ कर जब तक तारा (नक्षत्र) न दिखाई पड़े तब तक गायत्री का जप करें। प्रातः सन्ध्या में खड़े होकर (गायत्री) जप करने वाला रात के पाप को नाश करता है और सायंकाल के समय बैठकर जप करने वाला दिन के पाप का नाश करता है। १०१-१०२।

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।

स शूद्रवद्विष्कार्यः सर्वस्माद्विजकर्मणः ॥ १०३ ॥

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः।

सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥ १०४ ॥

जो प्रातः और सायं सन्ध्याओं को नहीं करता है उसे सभी द्विज कर्मों से शूद्र की तरह बहिष्कृत कर देना चाहिए। निर्जन स्थान में जल के समीप जाकर अपनी नित्य क्रियाओं को कर स्थिरचित्त होकर गायत्री का जप करना चाहिए। १०३-१०४।

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके ।

नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥ १०५ ॥

नैत्यके नास्त्यध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम् ।

ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥ १०६ ॥

वेद के उपकरण (व्याकरणादि), नित्य का स्वाध्याय (वेदपाठादि), हवन मन्त्रों का जप ये सभी कार्य अनध्याय में भी करना चाहिए। नित्य कर्म में अनाध्याय नहीं होता है क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहते हैं, ब्रह्मयज्ञ में वेदाध्याय ही आहुति हैं और अनाध्याय से होने वाला वेद घोष (वषट्कार) ही पुण्य है। १०५-१०६ ।

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचि ।

तस्य नित्यं क्षरत्येषु पयो दधि घृतं मधु ॥ १०७ ॥

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।

आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥ १०८ ॥

जो स्थिर चित्त से पवित्र होकर विधिपूर्वक एक वर्ष तक वेदाध्ययन करता है उसको नित्य ही दूध, दही, घी और मधु पूर्वोक्त अनध्याय से प्राप्त होता है (देवता-पितरों को तृप्त करता है)। उपवीत द्विज को समिधाओं से हवन, भिक्षा माँगना, पृथ्वी पर सोना, गुरु की सेवा (वेदाध्ययन) पर्यन्त करना चाहिए। १०७-१०८ ।

आचार्यपुत्रः शुश्रूषृज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।

आप्तःशक्तोऽर्थदःसाधुःस्वोऽध्याप्या दशधर्मतः ॥ १०९ ॥

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रू यात्र चान्यायेन पृच्छतः ।

जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत् ॥ ११० ॥

गुरु का लड़का, सेवा करने वाला, (अन्य ज्ञानों को देने वाला), धार्मिक, पवित्र बंधु, शक्तिशाली धन देने वाला, साधु (हित करने वाला और आत्मीय) ये दश वेद पढ़ाने योग्य हैं। बुद्धिमान जानते हुए भी बिना पूछे किसी से कुछ कहे और अन्याय से पूछने वाले को भी न बतावे, दोनों के साथ जड़ पदार्थ का सा व्यवहार करें। १०९-११० ।

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति।

तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥ १११॥

धर्मार्थो यत्र न स्यातां शुश्रूषां वापि तद्विधा।

तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोपरे॥ ११२॥

जो अधर्म से बोलता है और जो अधर्म से पूछता है दोनों में मर्यादा को अतिक्रमण करने वाला मरता है या द्वेष को प्राप्त करता है। जहाँ धर्म और धन न हो और न तो वैसी सेवा ही हो तो वहाँ पर विद्या का उपदेश न करना चाहिए। क्योंकि ऐसी जगह उपदेश की हुई विद्या सुन्दर बीज को ऊसर भूमि में बोने की तरह निष्फल होती है। १११-११२।

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।

आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत्॥ ११३॥

विद्या ब्राह्मणमेत्साह शैवधिष्टेऽस्मि रक्षमाम्।

असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ ११४॥

वेदाध्यापक को अपनी विद्या के साथ मर जाना श्रेष्ठ है किन्तु घोर आपत्ति में भी विद्या को ऊसर में बोना (अर्थात् अपात्र को देना) नहीं चाहिए। विद्या के अधिष्ठातृ देवता ने ब्राह्मण (अध्यापक) से कहा-मैं तुम्हारी निधि हूँ, मेरी रक्षा करो, वेदनिन्दक को मत देना, इससे मैं बलवती हूँगी। ११३-११४।

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।

तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने॥ ११५॥

ब्रह्मा यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।

स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते॥ ११६॥

जिसको संयतेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो, उसी प्रमादरहित विद्यारूपी निधि के रक्षक ब्राह्मण शिष्य को मुझे दो। जो किसी गुरु से वेद पढ़ते हुए गुरु की आज्ञा के बिना ही वेदार्थ को सुन लेता है, वह वेदों को चुराने वाला पाप से युक्त होकर नरक को पाता है। ११५-११६।

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च।

आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत्॥ ११७॥

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः।

नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वशी सर्वविक्रयी॥ ११८॥

जिससे लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक ज्ञान को सीखे उसे पहले प्रणाम करना चाहिए। अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला केवल गायत्री को जानने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है किन्तु जो विजितेन्द्रिय, सभी कुछ खाने वाला और सभी कुछ बेचने वाला है वह ब्राह्मण यदि तीनों वेदों को जानता भी हो तो श्रेष्ठ नहीं है। ११७-११८।

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।

शय्यासनस्थचैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥ ११९ ॥

ऊर्ध्वं प्राणाह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।

प्रत्युत्थानाभिवानाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥ १२० ॥

जिस शय्या और आसन पर गुरु बैठते हों उस पर न बैठे और शय्या और आसन से उठकर गुरु को प्रणाम करना चाहिए। बड़ों के आने पर छोटों के प्राण ऊपर को उच्छ्वासित होते हैं इसलिए खड़े होकर प्रणाम करने से वे प्राण फिर अपने स्थान पर आ जाते हैं। ११९-१२०।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥ १२१ ॥

अभिवादात्परं विप्रो ज्योपांसमभिवादयन्।

असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥ १२२ ॥

नित्य बड़ों की सेवा और प्रणाम करने वाले पुरुष की आयु, विद्या, यश और बल ये चार पदार्थ पढ़ते हैं। ब्राह्मण को, गुरुजनों को, अभिवादन (प्रणाम) करने के बाद अपना नाम भी बता देना चाहिए (जैसे अभिवादये अमुक शर्माहमस्मिभो।) १२१-१२२।

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते।

जाग्राज्जोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ १२३ ॥

भोःशब्द कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादाने।

नाम्नां स्वरूपभावो हि भोभावऋषिभिः स्मृतः ॥ १२४ ॥

अभिवादन करने में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ को यदि कोई वृद्ध न जानते हों तो उन्हें (मैं प्रणाम करता हूँ) ऐसा कहकर अभिवादन करें, स्त्रियाँ भी ऐसा करें। अभिवादन करने में अपने नाम के अन्त में (भोः) शब्द कहना

चाहिए (जैसे १२ वें श्लोक में कह आये हैं), प्रणाम किये जाने वाले के नाम के स्वरूप का द्योतक (भोः) शब्द है, ऐसा ऋषियों ने कहा है।

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादाने।

अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥ १२५ ॥

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम्।

नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ॥ १२६ ॥

ब्राह्मण प्रणाम किये जाने पर (आयुष्मान्भव सौम्य) (तुम दीर्घजीवी हो) ऐसा कहे, यदि प्रणाम करने वाले के नाम के आदि में आकार हो तो उसे प्लुत उच्चारण करना चाहिए। जो विप्र अभिवादन करने का प्रत्यभिवादन करना नहीं जानता हो उसे पण्डितों को अभिवादन नहीं करना चाहिए जैसे शूद्र है वैसे ही वह भी है। १२५-१२६।

ब्राह्मण कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्।

वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥ १२७ ॥

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानापि यो भवेत्।

भो भवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत घर्मवित् ॥ १२८ ॥

ब्राह्मण से कुशल, क्षत्रिय से निरामय, वैश्य से क्षेम और शूद्र से आरोग्यता साक्षात्कार होने पर पूछे। दीक्षा प्राप्त यदि अपने से छोटा हो तो भी उसका नाम नहीं लेना चाहिए, धर्मात्मा पुरुष भी अथवा भवत् शब्द कहकर उसके साथ बातचीत करे। १२७-१२८।

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्ध च यो नितः।

तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥ १२९ ॥

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरुत्।

असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ॥ १३० ॥

जो दूसरे की स्त्री को और जिससे किसी प्रकार का सम्बन्ध (रिश्ता) न हो उसे भवती (आप), सुभगे अथवा भगिनी कहकर बातचीत करनी चाहिए। मामा, चाचा, श्वसुर, पुरोहित और गुरुजन (व्योवृद्ध, ज्ञानवृद्ध) यदि अपने से छोटे हों तब भी उठकर इतना कहे कि (यह मैं हूँ)। १२९-१३०।

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा।

संपूज्या गुरुपत्निवन्समास्ता गुरुभार्यया ॥ १३१ ॥

भ्रातृभार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि।

विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसंबन्धियोर्षितः ॥ १३२ ॥

मौसी, मामी, सास और फूआ ये गुरु-पत्नी के ही अनुसार पुज्य हैं। ये गुरु-पत्नी के समान हैं। समान वर्ण की ब्हायी, भाई की स्त्री (भौजाई) को नित्य प्रणाम करना चाहिए। १३१-१३२।

पितृभगिन्यां मातृश्च ज्यायस्यां च स्वसूर्यपि।

मातृवद्वृत्तिमाष्टिन्माता ताम्यो गरीयसी ॥ १३३ ॥

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पंचाब्दाख्यं कलाभृताम्।

त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ॥ १३४ ॥

फूआ, माता और अपने से बड़ी बहन के साथ माता की तरह व्यवहार करें किन्तु इन सबों में बड़ी माता को ही समझें। गाँव वालों के साथ १० वर्ष, कला जानने वालों के साथ ५ वर्ष और वेदाध्यायियों के साथ ३ वर्ष की छोटाई-बड़ाई रहने पर भी मित्रता का भाव रहता है और अपने सगे सम्बन्धियों के साथ थोड़ी सी छोटाई-बड़ाई का भी ध्यान रखना चाहिए। १३३-१३४।

ब्राह्मणं दशवर्षं तू शतवर्षं तु भूमिपम्।

पितापुत्रो बिजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥ १३५ ॥

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पंचमी।

एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥ १३६ ॥

दस वर्ष का ब्राह्मण और सौ वर्ष का क्षत्रिय दोनों को पिता पुत्र समझना चाहिए, दोनों में ब्राह्मण पिता के समान है। धन, बंधु, अवस्था, कर्म और विद्या ये पाँच मान्य स्थान हैं। इनमें उत्तरोत्तर एक से दूसरा बड़ा है। १३५-१३६।

पंचानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च।

यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥ १३७ ॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।

स्नातकस्य च राजश्च पन्था देयो वरस्य च ॥ १३८ ॥

तीन वर्णों में से जिस किसी का पूर्वोक्त पाँचों गुणों में जितना ही अधिक गुण हो वह पुरुष उतना ही मान्य होता है और ९० वर्ष के ऊपर शूद्र भी माननीय होता है। रथ पर चढ़े हुए को, अति वृद्ध को, रोगी को, बोझ लिए हुए को, स्त्री को, स्नातक (जिसका समावर्तन संस्कार हो गया), राजा को और वर (दूल्हा) को रास्ता देना चाहिए (अर्थात् ये जिस मार्ग से आते हों उससे हट जाना चाहिए)। १३७-१३८ ।

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ ।

राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥ १३९ ॥

उपनीय तु यः शिष्यं येदमध्यापयेद्द्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च समाचार्यं प्रचक्षते ॥ १४० ॥

उपर्युक्त सभी लोग यदि एक साथ हों तो स्नातक और राजा मान्य हैं। दोनों में राजा से स्नातक विशेष मान्य हैं। जो ब्राह्मण शिष्य का उपवीत कराकर उसे कल्प और रहस्य (यज्ञ विद्या और उपनिषद्) के साथ वेद पढ़ाता है, उसी को आचार्य कहते हैं। १३९-१४० ।

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः ।

योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ १४१ ॥

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।

संभावयति चात्रेण स विप्रो गुरु उच्यते ॥ १४२ ॥

जो वेद का भाग और वेदांग (व्याकरणादि) जो जीविका के लिए पढ़ता है उसे उपाध्याय कहते हैं। जो गर्भाधानादि कर्मों को यथोक्त रीति से करता है और अन्न से पोषण करता है, उस ब्राह्मण को गुरु कहते हैं। १४१-१४२ ।

अमुन्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान् ।

यः करोति वृतो यस्य स तस्यैव गिहोच्यते ॥ १४३ ॥

य आवृणोत्यवितथं ब्राह्मण श्रवणावुभौ ।

स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥ १४४ ॥

जो जिससे वरण लेकर अग्निहोत्र, पाक यज्ञ और अग्निष्टोमादि यज्ञों को करता है वह उसका ऋत्विक् कहलाता है। जो ब्राह्मण दोनों कानों को निर्दोष सत्यस्वरूप वेद, (वेदध्वनि) से भर देता है उसे माता और पिता के समान जानना चाहिए, कभी भी उससे द्रोह न करना चाहिए। १४३-१४४।

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।

सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥

उत्पादक ब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता।

ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ १४६ ॥

उपाध्यायों से दस गुना श्रेष्ठ आचार्य और आचार्य से सौ गुना श्रेष्ठ पिता और पिता से हजार गुना श्रेष्ठ माता गौरव से युक्त होती है। जन्म देने वाला पिता और वेद पढ़ाने वाला आचार्य दोनों में वेद पढ़ाने वाला आचार्य पिता से श्रेष्ठ है, क्योंकि ब्राह्मण का ब्रह्म जन्म इहलोक और परलोक दोनों में निरन्तर नित्यत्व को प्राप्त होता है। १४५-१४६।

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः।

संभूतिं तस्य तां विद्याद्यद्योनावभिजायते ॥ १४७ ॥

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विविधद्वेदपारगः।

उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजरामरा ॥ १४८ ॥

परस्पर कामवश होकर माता-पिता जिस शरीर को उत्पन्न करते हैं उसी प्राणी का जन्म पशु आदि की तरह साधारण है। वेदज्ञ, आचार्य जिस जाति को सावित्री से पुनर्जन्म देता है वही जाति उसको सत्य, अजर और अमर होती है। १४७-१४८।

अल्पं वा बहु वा यस्य श्रुतस्यापकरोति यः

तमपाह गुरुं विद्याछुतापक्रियया तया ॥ १४९ ॥

ब्राह्मणस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।

बालाऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥ १५० ॥

जो शास्त्र द्वारा थोड़ा या बहुत उपकार करे उसको भी उस उपकार के बदले गुरु मानना चाहिए। वैदिक जन्म को देने वाला और धर्म की शिक्षाओं

से शासन करने वाला ब्राह्मण का लड़का भी धर्म से वृद्ध का पिता होता है। १४९-१५०।

अध्यापयामास पितन्निशुगंगिरसः कविः।

पुत्रका इतिहोवाच ज्ञानेन परिगृह्यतान्॥ १५१।

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।

देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तान्॥ १५२॥

अंगिर के विद्वान् बालक ने अपने चाचाओं और उनके लड़कों को पढ़ाया और ज्ञान द्वारा उनको ग्रहण कर पुत्रक कहकर पुकारा। वे (पितृव्यादि पुत्रक कहने पर) क्रोधित होकर देवताओं से उस (पुत्रक) शब्द का अर्थ पूछा। देवताओं ने एक स्वर से कहा कि बालक ने जो तुम्हें पुत्रक कहा है वह न्याययुक्त है। १५१-१५२।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रवदः।

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥ १५३॥

न हायनैनं पलिलैनं वित्तेन न बन्धुभिः।

ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ १५४॥

अज्ञानी ही बालक होता है और मन्त्र देने वाला (वेद पढ़ने वाला) पिता होता है क्योंकि मुनियों ने अज्ञानी को बालक और उपदेशक को पिता कहा है। अधिक अवस्था होने से या बाल पकने से या अधिक धन और कुटुम्ब होने से कोई बड़ा नहीं होता किन्तु ऋषियों ने इस विषय में धर्म व्यवस्था ऐसी की है कि जो वेद-वेदांग को पढ़ा है वही हम लोगों में बड़ा है। १५३-१५४।

विप्राणां ज्ञानतो ज्येष्ठयं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः।

वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ १५५॥

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।

यौ वै युवायधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ १५६॥

ज्ञान से ब्राह्मणों का, बल से क्षत्रियों का, धन-धान्य से वैश्यों का और जन्म से शूद्रों का बड़प्पन होता है। केवल सिर के बाल पक जाने से ही

कोई वृद्ध नहीं होता। जिसने वेद-वेदांग को पढ़ा है वह युवा होते हुए भी वृद्ध होता है यह देवताओं ने कहा है। १५६।

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।

यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ १५७ ॥

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।

यथा चाज्ञेऽफलं दानं विप्रोऽनृतोऽगलः ॥ १५८ ॥

जैसे काठ का हाथी और चमड़े का मृग वैसे ही अनपढ़ ब्राह्मण केवल नामधारी होता है। जैसे स्त्रियों में नपुंसक निष्फल होता है, जैसे गौओं में गौ निष्फल होती है, जैसे मूर्ख को दिया हुआ दान निष्फल होता है वैसे ही वेद की ऋचाओं को न जानने वाला ब्राह्मण निष्फल होता है। १५७-१५८।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोनुशासनम्।

वाक्चव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥ १५९ ॥

यस्य वाङ्-मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा।

स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥

प्राणियों के कल्याण के लिए अहिंसा से अनुशासन करना श्रेष्ठ है, धार्मिक शासक को मीठे और नम्र वचनों का प्रयोग करना चाहिए। जिसकी वाणी और मन शुद्ध और हमेशा सम्यक् रीति से सुरक्षित है वह वेदांत में कहे हुए सभी फलों को पाता है। १५९-१६०।

नारुंतुदः स्यादातोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।

ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।

अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥ १६२ ॥

स्वयं दुःखी होते हुए भी किसी का जी न दुखावें, परद्रोह (दूसरे से शत्रुता) की बुद्धि भी न रखे और वचन भी न बोले जिससे दूसरों को कष्ट हो। ब्राह्मण विष की तरह सदैव सम्मान से निरपेक्ष रहे और सदैव अमृत के समान अपमान की इच्छा रखे। १६१-१६२।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते ।

सुखं चरित लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥ १६३ ॥

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।

गुरौ वसन्सचिन्नुयाद् ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥ १६४ ॥

अपमानित पुरुष सुख से सोता है और सुख से जागता है तथा सुख से ही संसार में विचरता है किन्तु अपमान करने वाला नष्ट हो जाता है। इस प्रकार से संस्कृत होकर ब्राह्मण के साथ रहकर वेदज्ञान की प्राप्ति के तप का धीरे-धीरे संचय करें। १६३-१६४।

तपोविशेषेर्विधिर्धैर्ब्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मनाः ॥ १६५ ॥

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तपस्यन्द्भिजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तप परमिहोच्यते ॥ १६६ ॥

अनेक प्रकार के तप विशेष और अनेक प्रकार के विधिवत् व्रतों के अनुष्ठानादि से द्विजों का उपनिषद् सहित सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करना चाहिए। सदैव तपस्या करने वाला द्विज वेद अभ्यास करे क्योंकि वेदाभ्यास ही ब्राह्मण का परम तप है। १६५-१६६।

आहैव स नखाग्रेभ्यः परं तप्यते तपः ।

यःस्त्रगव्यापि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तिनोऽतोऽन्वहम् ॥ १६७ ॥

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्त्रय कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

जो द्विज माला पहनकर अपनी शक्ति के अनुसार नित्य वेद पढ़ता है वह नखों के अग्र भाग तक (सम्पूर्ण शरीर तक) तप करता है। जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही वंश सहित शूद्रत्व को प्राप्त होता है। १६७-१६८।

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौजिंबन्धने ।

तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥ १६९ ॥

तत्रयद्ब्रह्मजन्मास्य मौर्जीबन्धनचिह्नितम् ।

तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥ १७० ॥

प्रथम जन्म माता से, दूसरा यज्ञोपवीत के समय और तीसरा जन्म वेद द्वारा द्विज की यज्ञ दीक्षा के समय होता है। पूर्वोक्त तीनों जन्मों में मौजी (यज्ञोपवीत) से चिह्नित जन्म में माता गायत्री और पिता आचार्य होता है। १६९-१७०।

वेदप्रदानादाचार्य पितरं परिचक्षते।

न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किंचिदामौजिबन्धनात् ॥ १७१ ॥

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते।

शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदेन जायते ॥ १७२ ॥

वेद की शिक्षा देने से आचार्य को पिता कहते हैं क्योंकि यज्ञोपवीत होने के पहले कोई भी वैदिक कर्म करने की क्षमता द्विज में नहीं होती है। श्राद्ध में पढ़े जाने वाले वेद मन्त्रों को छोड़कर (अनुपनीत द्विज) वेदमन्त्र का उच्चारण न करे, क्योंकि जब तक वेदारम्भ न हो जावे तब तक शूद्र के समान होता है। १७१-१७२।

कृ तोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते।

ब्रह्मणोग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ॥ १७३ ॥

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला।

यो दण्डो यच्च वचनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥ १७४ ॥

यज्ञोपवीत हो जाने पर बटु को व्रत का उपदेश लेना चाहिए। तदुपरान्त विधिपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिए। जिस बटु के लिए जो चर्म, सूत्र, मेखला, दण्ड और जो वस्त्र उपनयन में विहित है वह उसके लिए व्रतों में भी विहित है। १७३-१७४।

सेवेतेमास्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्धयर्थमात्मनः ॥ १७५ ॥

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।

देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ १७६ ॥

गुरु के पास रहता हुआ ब्रह्मचारी इन्द्रियों को वश में रखकर अपनी तपस्या के वृद्धत्यर्थ उपयुक्त नियमों का पालन करे। नित्य स्नान कर पवित्र

होकर देवता और ऋषियों का तर्पण करे उसके बाद देवताओं का पूजन और अन्याधान करे। १७५-१७६।

वर्जयेन्मधु मांस च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।

शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥ १७७॥

अभ्यंगमंजनं चाक्षयोरुपानच्छत्रधारणम्।

काम क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतं गीतवादनम्॥ १७८॥

ब्रह्मचारी मधु, मांस, सुगन्ध, माला, रस, स्त्री, सभी प्रकार के आसव (सिरका) और प्राणियों की हिंसा त्याग दे। शरीर में उबटन और आंख में आंजन न लगावे, जूता और छाता न धारण करे, काम, क्रोध और लोभ न करे, नाच गाना और नृत्यादि से दूर रहे। १७७-१७८।

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।

स्त्रीणां च प्रेक्षणाभ्युपघातं परस्य च॥ १७९॥

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।

कामाद्धि स्कन्दमनेतो हिनन्ति व्रतमात्मनः॥ १८०॥

ब्रह्मचारी को जूआ, कलह, निन्दा, झूठ, स्त्रियों को संकाम दृष्टि से देखना और उन्हें आलिंगन करना और दूसरे की निन्दा करना ये सब त्याग देना चाहिए। सर्वत्र अकेला सोवे, कभी वीर्यपात न करे। इच्छा से वीर्यपात करने से व्रत का नाश करता है। १७९-१८०।

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकारतः।

स्नात्वाकर्मचञ्जित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत्॥ १८१॥

उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।

आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत्॥ १८२॥

यदि द्विज की अनिच्छा से स्वप्न में वीर्यपात हो जाये तो स्नान कर सूर्य का पूजन कर तीन बार 'पुनर्मा' इस ऋचा का जप करे। घड़े से जल, पुष्प, गौ का गौबर, मिट्टी और कुश आवश्यकतानुसार लावे और प्रतिदिन भिक्षा भी लावे। १८१-१८२।

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु।

ब्रह्मचार्यहरेर्दक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम्॥ १८३॥

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु।

अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥ १८४ ॥

जो वेद और यज्ञों में फंसे हों और अपने धर्म-कर्म में श्रेष्ठ हों ऐसे गृहस्थ के घर से प्रतिदिन ब्रह्मचारी प्रयत्न करके भिक्षा मांगकर लावे। गुरु के कुल में और अपने जाति, भाई और कुल बन्धुओं के घर में भिक्षा न माँगे, यदि अन्य गृहों का अभाव हो (अर्थात् दूसरों के यहाँ भिक्षा न मिले तो क्रम से पहले का का त्याग करके भिक्षा माँगे।) १८३-१८४।

सर्वं वापि चरेद्ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे।

नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥ १८५ ॥

दूरादाहृत्य समिधः संतिदध्याद्विहायसि।

सायंप्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥ १८६ ॥

यदि पूर्वोक्त लोग न हों तो मौन होकर चाहे जहाँ जिस गाँव में भिक्षा के लिए जाये किन्तु पापियों से भिक्षा न ले। दूर से समिधा लाकर उसे ऊपर रख दे और सायं प्रातःकाल आलस्य रहित होकर उससे अग्नि में हवन करे। १८५-१८६।

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्।

अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ १८७ ॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं वैकात्रादी भवेद्व्रती।

भैक्षेण व्रतिनो वृत्तरूपवासना स्मृता ॥ १८८ ॥

आरोग्य अवस्था में यदि सात रात पर्यन्त ब्रह्मचारी भिक्षा न माँगे और अग्नि में समिधा का हवन न करे तो उन्हें श्रवण कीर्ति व्रत करना चाहिए। नित्य भिक्षा करनी चाहिए, एक ही के अन्न को खाकर ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए, भिक्षावृत्ति से रहना उपवास के बराबर होता है। १८७-१८८।

व्रतवद्देवदूत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्विवत्।

कामसभ्यर्थितोऽश्नीयाद् व्रतमस्य न लुप्यते ॥ १८९ ॥

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्ट मनीषिभिः।

राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ॥ १९० ॥

देवकर्म में देवता के प्रीत्यर्थ और पितृ कर्म में पितरों के प्रीत्यर्थ निमिन्त्रित ब्रह्मचारी ऋषि के समस्त अपने वातानुकूल यथेष्ट भोजन करे, इससे उसका व्रत भंग नहीं होता। उपर्युक्त कर्म केवल ब्राह्मण को ही पण्डितों ने कहा है। क्षत्रिय और वैश्यों को यह कर्म नहीं कहा है। १८९-१९०।

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा।

कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च॥ १९१॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च।

नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेदीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥ १९२॥

गुरु से कहे जाने पर अथवा न कहे जाने पर भी नित्य वेदाध्ययन में और आचार्य की सेवा में प्रयत्नशील होना चाहिए। शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय और मन को नियन्त्रण में रखकर हाथ जोड़कर गुरु के मुख को देखता हुआ स्थिर रहे। १९१-१९२।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्सास्वाचारः सुसंयतः।

आस्यतामितिचोक्तः सन्नासीनाभिमुखं गुरौः॥ १९३॥

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।

उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥ १९४॥

सुन्दर भेष और आचरण से युक्त होकर हमेशा दाहिना हाथ बाहर रखता हुआ गुरु के कहने पर उनके सम्मुख बैठे। गुरु के समीप हमेशा गुरु से न्यून भोजन, वस्त्र और वेश में रहे और गुरु के सोकर जागने से पहले उठे और उनके सोने के बाद सोए। १९३-१९४।

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत्।

नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः॥ १९५॥

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छस्तु तिष्ठतः।

प्रत्युदगम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्भावंस्तु धावतः॥ १९६॥

सोए हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए, मुंह फेरकर खड़े हुए गुरु से संभाषण नहीं करना चाहिए। यदि गुरु बैठे हों तो स्वयं उठकर, खड़े हों तो सामने जाकर, आते हों तो उनके सम्मुख चलकर, चलते हों तो उनके पीछे दौड़कर गुरु की आज्ञा सुननी चाहिए। १९५-१९६।

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।

प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥ १९७ ॥

नीचं व्यासशनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।

गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥ १९८ ॥

गुरु मुंह फेरकर खड़े हों तो सामने जाकर, दूर हों तो समीप जाकर, सोये हों तो प्रणाम कर, समीप बैठे हों तो सिर नीचे करके बात को सुने। शिष्य को हमेशा गुरु के समीप अपनी शय्या और आसन उनसे नीचे रखना चाहिए। गुरु के सामने यथेच्छा किसी भी आसन पर बैठना नहीं चाहिए। १९७-१९८ ।

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।

न चैवास्तानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ॥ १९९ ॥

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।

कर्णौ तत्र पिधातव्यौ मन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥ २०० ॥

परोक्ष में भी गुरु का केवल नाम मात्र न ले। गुरु के चलने, बोलने या किसी प्रकार की शारीरिक चेष्टा की नकल न करे। जहाँ गुरु का उपहास अथवा निन्दा होती हो वहाँ कानों को बन्द कर लें अथवा कहीं अन्यत्र चला जाय। १९९-२०० ।

परीवादात्सरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः ।

परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥ २०१ ॥

दूरस्थो नार्चयेदनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।

यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥ २०२ ॥

गुरु का उपहास करने से मरने पर गधा, निन्दा से कुत्ता, उनकी सम्पत्ति का भोग करने से कृमि और ईर्ष्या करने से कीड़ा होता है। दूर से गुरु की पूजा न करे, क्रोधित होकर अथवा स्त्री के समीप होकर पूजा न करे। किसी सवारी पर रहते हुए गुरु के दर्शन हों तो सवारी से उतरकर गुरु को प्रणाम करे। २०१-२०२ ।

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह।

असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदति कीर्तयेत् ॥ २०३ ॥

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादस्त्रस्तरेषु कटेषु च।

आसीत गुरुणा सार्थं शिलाफलकनौषु च ॥ २०४ ॥

गुरु के साथ शिष्य को इस प्रकार नहीं बैठना चाहिए कि अपने शरीर से स्पर्श करती हुई हवा गुरु को लगे और गुरु को स्पर्श करती हुई अपने शरीर में लगे। किसी बात की तरफ गुरु ध्यान न देते हों और सुनना नहीं चाहते हों तो उस समय उनसे कुछ भी न कहे। बैल, घोड़ा और ऊंट की सवारियों पर, कोठे, चटाई, पत्थर की चट्टान, चौकी और नाव पर गुरु के साथ बैठ सकते हैं। २०३-२०४।

गुरोगुरौ सन्निहिते गुरुवदवृत्तिमाचरेत्।

न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥ २०५ ॥

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्य वृत्तिः स्वयोनिषु।

प्रतिषेधत्सु चाधर्माहिन्तं चोपदिशत्स्वपि ॥ २०६ ॥

गुरु के समीप गुरु के गुरु हों तो उनके साथ गुरु की ही तरह व्यवहार करे। गुरु की आज्ञा के बिना अपने गुरुजनों (माता-पितादि) को प्रणाम न करे। विद्या सिखाने वाले के साथ, अपने से बड़े सम्बन्धी जो अधर्म से बचाता हो और जो हितकर शिक्षा देता हो उनके साथ गुरु के समान ही व्यवहार करना चाहिए। २०५-२०६।

श्रेयःसु गुरुवद गुरुवदवृत्तिं नित्यमेव समाचरेत्।

गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥ २०७ ॥

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि।

अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥ २०८ ॥

अपने से श्रेष्ठजन, पूज्य गुरु पुत्र और गुरु के कुटुम्बियों के साथ नित्य गुरु की तरह व्यवहार करे। गुरु का पुत्र अपने से उम्र में छोटा हो, समान हो अथवा शिष्य हो यदि अध्यापन के योग्य है तो यज्ञकर्म में वह गुरु के समान ही सम्मान के योग्य है। २०७-२०८।

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने।

न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥ २०९ ॥

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः स्वर्णा गुरुयोषितः।

असवर्णास्तु संपूज्याः प्रत्युत्थधानाभिवादनैः ॥ २१० ॥

गुरु के पुत्र को मलना, नहलाना और उनका जूठा नहीं खाना चाहिए और उनके पैरों को नहीं धोना चाहिए। यदि गुरु की स्त्री स्वर्णा (सजातीया) हो तो गुरु के समान ही ये पूजनीया है। यदि असवर्णा हों तो केवल प्रत्युत्थान (उठकर) और अभिवादन से सम्मान करना चाहिए। २०९-२१०।

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च।

गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥ २११ ॥

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः।

पूर्णविंशतिवर्षेण गुणोदोषौ बिजानता ॥ २१२ ॥

उबटन लगाना, स्नान कराना, देह दबाना और बाल बांधना ये सब कार्य गुरु की स्त्री का नहीं करना चाहिए। गुण-दोष को जानने वाले पूरे बीस वर्ष के उम्र वाले शिष्य को युवा गुरु पत्नी को पैर छूकर प्रणाम नहीं करना चाहिए। २११-२१२।

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्।

अतोऽर्थात्र प्रमाद्वन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥ २१३ ॥

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमति वा पुनः।

प्रमदा ह्यत्यथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥ २१४ ॥

पुरुषों को दूषित करना। स्त्रियों का स्वभाव है, इसलिए विवेकी पुरुष युवती स्त्रियों के विषय में कभी प्रमाद नहीं करते। इस संसार में दो काम क्रोध के वशीभूत हैं, चाहे मूर्ख हों या विद्वान् उनको युवती स्त्री कुमार्ग में ले जाने में समर्थ होती है। २१३-२१४।

मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा न दिविक्तासनो भवेत्।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ २१५ ॥

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि।

विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥ २१६ ॥

माता, बहन या बेटी के साथ एक आसन पर न बैठें क्योंकि बलवान् इन्द्रियों का समूह विद्वान को भी अपनी तरफ खींच लेता है। युवा शिष्य युवती गुरुपत्नियों को अपने नाम का उच्चारण करता हुआ विधिवत् प्रणाम करे। २१५-२१६।

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम्।

गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥ २१७ ॥

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।

तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ २१८ ॥

देशान्तर से आकर शिष्य पुरुषों के अनुसार बायें हाथ से बाँया और दाहिने हाथ से दाहिने पैर को पृथ्वी को छूते हुए प्रतिदिन गुरुपत्नी का अभिवादन करे। जिस प्रकार फवड़े (जमीन खोदने का हथियार) से जमीन को खोदता हुआ मनुष्य जल को पा जाता है उसी प्रकार गुरु की सेवा करता हुआ शिष्य भी गुरु के पास रहने वाली विद्या को पा जाता है। २१७-२१८।

मुण्डो वा जटिलो वा स्वादथवा स्याच्छिखाजटः।

नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदयात्क्वचित् ॥ २१९ ॥

तं चेदभ्युदयात्सूर्यः शानं कामचारतः।

निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाजपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ २२० ॥

मुण्डन करते हुए अथवा जटधारी या शिखा की ही जटा रखें हो चाहे जैसा भी ब्रह्मचारी हो उसको गाँव में रहते हुए सूर्योदय और सूर्यास्त न होना चाहिए। यदि सूर्योदय हो जाने पर भी इच्छावश ब्रह्मचारी सोया ही रह जाये तो दिन भर उपवास कर गायत्री का जप करे। इसी प्रकार न जानते हुए सूर्यास्त हो जाए तो दूसरे दिन जप और उपवास करे। २१९-२२०।

सूर्येण ह्यभिनिमुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च चः।

प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ २२१ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुमे संध्ये समाहितः ॥

शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

यदि सोए रहने पर ही सूर्योदय और सूर्यास्त हो जाए तो ब्रह्मचारी को प्रायश्चित्त करना चाहिए, न करने से महापाप का भागी होता है। पवित्र प्रदेश

में चित्त को एकाग्र करके नित्य आचमन करके दोनों (प्रातः सायं) संध्याओं को करके जप करता हुआ यथोक्त प्रकार से सूर्य की उपासना करें। २२१-२२२।

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत्।

तत्सर्वं मारेद्युक्तो यत्र वास्य रमेन्मनः ॥ २२३ ॥

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थो धर्म एव च।

अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ २२४ ॥

स्त्री या शूद्र किसी शुभ कर्म को करें वह ब्रह्मचर्य पूर्वक ही उस कर्म को करे अथवा शास्त्रोक्त जिस कर्म से मन लगे उसे ही करे। कोई धर्म और अर्थ को, कोई काम और अर्थ को, कोई केवल धर्म को अथवा कोई केवल अर्थ को ही कल्याणकारक मानते हैं किन्तु वास्तव में अर्थ, धर्म और काम ये तीनों ही कल्याण को देने वाले हैं। २२३-२२४।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।

नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२५ ॥

आचार्यो ब्राह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापते।

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः ॥ २२६ ॥

आचार्य, पिता और ज्येष्ठ भ्राता इन लोगों का अपमान दुखी होने पर भी नहीं करना चाहिए, विशेषकर ब्राह्मण का कभी भी नहीं करना चाहिए। आचार्य ब्रह्म की मूर्ति, पिता ब्रह्मा की, माता पृथ्वी की और भाई अपनी आत्मा की मूर्ति है। २२५-२२६।

यं मातापितरो क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि ॥ २२७ ॥

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।

तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥ २२८ ॥

प्राणियों की उत्पत्ति में माँ-बाप को जो क्लेश सहन करना पड़ता है, उस क्लेश से व सौ वर्षों में भी निस्तार नहीं पा सकते। दोनों (माँ-बाप) और आचार्य को हमेशा प्रसन्न रखना चाहिए, इन तीनों के प्रसन्न रहने से सभी तपस्या पूरी हो जाती हैं। २२७-२२८।

तेषा त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।

न तैरप्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥ २२९ ॥

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रयः आश्रमाः ।

त एव हि त्रयो वेदास्तएवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥

इन तीनों की सेवा को ही परम तप कहते हैं, इनकी आज्ञा के बिना किसी अन्य धर्म को न करें। वे ही (माता-पिता-आचार्य) तीनों लोक, तीनों आश्रम, तीनों वेद और तीनों अग्नि कहे गये हैं। २२९-२३० ।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्पृतः ।

गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥ २३१ ॥

त्रिष्वप्रमाद्यत्रेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद्गृही ।

दीप्यमानः स्तवपुषा देववद्विव मोदते ॥ २३२ ॥

पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीय अग्नि हैं, तीनों अग्नि श्रेष्ठ हैं। गृहस्थ इन तीनों में प्रमादहीन होने से तीनों लोकों को जीत लेता है। अपने शरीर को तेजस्वी करके देवता की भाँति स्वर्ग में प्रसन्नता पूर्वक वास करता है। २३१-२३२ ।

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मस्यमम् ।

गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते ॥ २३३ ॥

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यते तत्र आदृताः ।

अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ २३४ ॥

माता में भक्ति से इस लोक का, पिताभक्ति से मध्य लोक और गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक के सुख को प्राप्त करता है। जिनके ये तीनों आदृत होते हैं उनके सभी धर्म आदरणीय होते हैं, जिनके (माता-पिता-गुरु) आदृत होते हैं उनकी सभी क्रियायें निष्फल होती हैं। २३३-२३४ ।

यावत्त्र यस्ते जिवेयुस्ताबन्नान्यं समाचरेत् ।

तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते तरः ॥ २३५ ॥

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।

तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥ २३६ ॥

जब तक वे तीनों जीवित रहें तब तक उनके प्रसन्न होने वाले कार्यों में तत्पर रहकर उनकी सेवा करे और किसी तरह का अन्य कोई अनुष्ठान न करे। उनकी सेवा में तत्पर रहते हुए उनकी आज्ञा से जो कुछ भी मन वचन और कर्म से अनुष्ठानादि करे वह उन सबको निवेदित करे। २३५-२३६।

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते।

एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ २३७ ॥

श्रद्धाधानः शुभां विद्यामाददोतावरादपि।

अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥

इन तीनों में ही पुरुष का कर्तव्य समान हो जाता है, यही साक्षात् धर्म है, इससे दूसरे सभी उपधर्म कहे जाते हैं। उत्तम विद्या को नीच से भी लेना चाहिए, चाण्डाल से भी मोक्षधर्म की शिक्षा लेनी चाहिए और नीच कुल से भी रत्न को लेना चाहिये। २३७-२३८।

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।

अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि कांचनम् ॥ २३९ ॥

स्त्रियो रत्नान्ययो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्।

विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ २४० ॥

विष से अमृत, बालक से सुन्दर बात, शत्रु से सदाचार और अपवित्र स्थान से सुवर्ण ले लेना चाहिये। स्त्री, रत्न, विद्या, धन, पवित्रता, अच्छे वचन, अनेक प्रकार की कारीगरी, ये सब जहाँ से प्राप्त हों ले आना चाहिये। २३९-२४०।

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।

अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः ॥ २४१ ॥

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।

ब्राह्मणे चानन्चाने काङ्क्षनातिमनुत्तमम् ॥ २४२ ॥

आपत्तिकाल में अब्राह्मण से भी पढ़ने का विधान है किन्तु ऐसे गुरु की सेवा अध्ययन काल तक ही करनी चाहिये। ब्राह्मणेतर गुरु के पास ब्राह्मण

शिष्य अत्यन्त वास न करे। परमगति को चाहने वाला शिष्य वेद-वेदान्त की शिक्षा न देने वाले ब्राह्मण के पास भी न रहे। २४१-२४२।

कदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।

युक्तः वरिचरे देनमाशरीरविमोक्षणात् ॥ २४३ ॥

आ समाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।

स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्यु शाश्वतम् ॥ २४४ ॥

यदि गुरु के यहाँ अत्यन्त वास करने की इच्छा हो तो गुरु के शरीर त्याग पर्यन्त रहकर उनकी सेवा करे। गुरु के शरीर त्याग पर्यन्त जो गुरु की सेवा करता है वह हठात् श्रेष्ठ ब्रह्मलोक को पाता है। २४३-२४४।

न पूर्वं गुरुवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्।

स्नास्यंस्तु गुरुणाऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥ २४५ ॥

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोषानहमासनम्।

धान्यं शाकं च वासांसि गुरुवे प्रीतिमावहेत् ॥ २४६ ॥

धर्मज्ञाता शिष्य समावर्तन के पहले गुरु का कुछ भी उपकार न करे। व्रत समाप्ति के बाद गुरु से आज्ञा लेकर उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा दे। भूमि, सोना, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, धान्य, शाक और वस्त्र गुरु के प्रसन्नतार्थ दे। २४५-२४६।

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते।

गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ॥ २४७ ॥

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान्।

प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद्दहमात्मकम् ॥ २४८ ॥

गुरु के शरीर त्याग करने पर गुणयुक्त गुरुपुत्र, गुरु की स्त्री और गुरु के भाइयों में गुरु के ही समान आचरण करे। यदि इनमें कोई न हो तो गुरु के अग्नि के समीप ही स्नान, आसन और विहार करके अग्नि सेवा करता हुआ अपने शरीर को मोक्ष प्राप्ति के लिये साधे। २४७-२४८।

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।

स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥ २४९ ॥

जो ब्राह्मण इस प्रकार अखण्ड का पालन करता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है और फिर इस लोक में नहीं आता है । २४९ ।

॥ इति द्वितीयोध्यायः ॥ २ ॥



तीसरा अध्याय

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदधिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ॥ १ ॥
वेदादधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुङ्गब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥ २ ॥

गुरु के आश्रम में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ ३६ वर्ष तक अथवा १८ वर्ष या १९ वर्ष में ही तीनों वेदों को पढ़े, अथवा नियत समय से पहले या पीछे जितने दिनों में वेद पढ़ना समाप्त कर सके उतने ही दिनों तक पढ़े। अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ क्रम से तीनों वेद, या दो वेद, या एक ही वेद पढ़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। १-२।

तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितुः।
स्त्रीग्विणं नल्प आसीनमर्हयेत्प्रथमं गवा ॥ ३ ॥
गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्या सवर्णा लक्षणान्विताम् ॥ ४ ॥

स्वधर्म प्रसिद्ध उस ब्रह्मचारी को, जो पिता से या अन्य आचार्य से वेद पढ़ चुका हो, पुष्पमाला पहनकर शय्या पर बैठकर पहले उसका मधुपर्क विधि से पूजन करना चाहिए। (तब) गुरु से आज्ञा पाकर विधिपूर्वक समावर्तन संस्कार, स्नानादि करके द्विज शुभ लक्षणयुक्त सजातीय कन्या से विवाह करे। ३-४।

असपिण्डा च या मातुरसगाना च या पितुः।
 सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ ५ ॥
 महान्त्यपि समृद्धानि गोजाविधनधान्यतः ॥
 स्त्रीसंबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥ ६ ॥

जो कन्या माता की सात पीढ़ी के भीतर की न हो, पिता के सगोत्र की न हो, वह द्विजातियों के ब्याहने और सन्तानोत्पादन करने योग्य होती है। गाय, बैल, भेड़, और धन-धान्य से पूर्ण धनी होने पर भी नीचे लिखे कुलों से सम्बन्ध न करे। ५-६।

हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छदो रोमशार्शसम्।
 क्षय्यामयाव्यपसमापिशिवत्रि कुष्ठिजानि च ॥ ७ ॥
 नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणीम्।
 नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिंगलाम् ॥ ८ ॥

जो क्रियाहीन हो, जिनमें पुरुष सन्तति न होती हो, जो वेद के पठन-पाठन से रहित हों, जिनमें स्त्री-पुरुष के शरीरों पर बहुत और लम्बे केश हों, जिनमें अर्श बवासीर, क्षय (रजयक्ष्मा), मन्दाग्नि, मृगि, श्वेत दाग, और कुष्ठ रोग जैसे रोग होते हैं। जिस कन्या के बाल भूरे हों, जिसके अधिक अंग हों, (जैसे हाथ-पैरों में छः अंगुलियाँ हों), जो बहुत बोलने वाली हो, जिसकी आंखें पीली हों, उसके साथ ब्याह न करे। ७-८।

ऋक्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
 न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ॥ ९ ॥
 अव्यंगाखी सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनाम्।
 तनुलोमकेशरशनां मृद्वङ्गीमुद्यहेत्स्त्रियम् ॥ १० ॥

नक्षत्र, वृक्ष, नदी, ग्लेक्ष, पहाड़, पक्षी, साँप और दासी के नाम पर जिसका नाम हो उससे तथा डरावने नाम वाली कन्या से ब्याह न करे। जिसका कोई अंग बिगड़ा न हो, जिसका सुन्दर नाम हो, हंस या हाथी की-सी मन्द गति हो, सूक्ष्म रोम, केश और छोटे दाँतों वाली और कोमलांगी हो, उससे ब्याह करे। ९-१०।

यस्यास्तु न यद्भाता न विज्ञायेत वा पिता ।

नोपयच्छैत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशंकया ॥ ११ ॥

सर्वर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।

कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥ १२ ॥

जिसका भाई न हो अथवा जिसके बाप को कोई न जानता हो, तो पुत्रिका^१ धर्म की आशंका से बुद्धिमान् पुरुष उस लड़की के साथ ब्याह न करे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यो को पहले सवर्णा (स्वजाति की कन्या) से विवाह करना श्रेष्ठ होता है। कामवश विवाह करने वाले को क्रम से ये स्त्रियाँ भी श्रेष्ठ होती हैं। यथा—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्चस्वा चाग्रजन्मनः ॥ १३ ॥

न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि तिष्ठतोः ।

कस्मिश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते ॥ १४ ॥

शूद्र की शूद्रा ही स्त्री होती है। वैश्य को वैश्य वर्ण की और शूद्रा, क्षत्रिय को क्षत्रिया, वैश्य और शूद्रा, ब्राह्मण को चारों वर्णों की कन्या से विवाह करने का अधिकार है। ब्राह्मण और क्षत्रिय को सवर्णा स्त्री न मिलने पर भी शूद्रा को स्त्री बनाने का किसी भी इतिहास में आदेश नहीं पाया जाता। १३-१४।

हीनजाति स्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।

कुलान्येव नवन्त्याशु ससंतानानि शूद्रताम् ॥ १५ ॥

शूद्रावेदी पतत्यत्रेस्थितनयस्य च ।

शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपन्यतया भृगोः ॥ १६ ॥

जो द्विज मोहवश हीन जाति (शूद्र) की कन्या से विवाह करते हैं, वे सन्तान सहित अपने वंश को शीघ्र शूद्र बना देते हैं। शूद्रा से ब्याह करने वाला ब्राह्मण पतित होता है, यह अत्रि और उतथ्य पुत्र गौतम का मत है। शूद्रा से पुत्रोत्पन्न होने पर क्षत्रिय क्षत्रियत्व से गिर जाता है, यह शौनक का

१. पुत्रिका उसे कहते हैं, पिता जिसके पुत्र से अपने पिण्ड-पानी की आशा करे।

मत है। इसी प्रकार शूद्रों से सन्तान होने से वैश्य भी पतित होता है, ऐसा भृगु का मत है। १५-१६।

शूद्रां शयनमारोप्य ब्राह्मणो यात्यधोगतिम्।

जनयित्वा सुतं तस्यां ब्राह्मण्यादेव हीयते ॥ १७ ॥

दैवपित्र्यातिथेयानि तत्प्रधानानि यस्य तु।

नाश्नन्ति पितृदेवास्तत्र न स्वर्ग स गच्छति ॥ १८ ॥

ब्राह्मण शूद्रा के साथ शयन करने से अधोगति (नरक) को जाता है और उससे पुत्र उत्पन्न करके ब्राह्मणत्व से रहित हो जाता है। विवाहिता शूद्रा के हाथ का बनाया हुआ हव्य-कव्य देवता-पितर ग्रहण नहीं करते। शूद्रापति ऐसे आतिथ्य से स्वर्ग भी नहीं पाता। १७-१८।

वृषलीके नपीतस्य निःश्वासोपहतस्य च।

तस्यां चैव प्रसूतस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ १९ ॥

चतुर्णामपि वर्णानां प्रेत्य चेह हिताहितान्।

अष्टाविमान्समासेन स्त्रीविवाहानिबोधतः ॥ २० ॥

जो शूद्रा के अधर रस का पान करता है उसके निःश्वास से अपने प्राणवायु को दूषित करता है और जो उनमें सन्तान उत्पन्न करता है उसके निस्तार का कोई उपाय नहीं है। चारों वर्णों के इस लोक और परलोक में हिताहित के साधन करने वालों को आठ प्रकार के विवाहों को संक्षेप में कहता है। १९-२०।

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्रजापत्यस्तथासुरः।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ २१ ॥

यो यस्य धर्म्यो वर्णस्य गुणदोषौ च यस्य यौ।

तद्वः सर्वं प्रवक्ष्यामि प्रसवे च गुणागुणान् ॥ २२ ॥

१. ब्रह्मा, २. दैव, ३. आर्ष, ४. प्राजापत्य, ५. आसुर, ६. गन्धर्व, ७. राक्षस, ८. पिशाच हैं, जो सबसे अधम है। धर्मानुकूल जिस धर्म का विवाह है, जिसके जो दोष-गुण हैं, और जिस विवाह से उत्पन्न सन्तानों में जो गुण-दोष होते हैं, उन सबको विशेष रूप से कहूँगा। २१-२२।

षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्य चतुरोऽवरान्।
 विद्शूद्रयोस्तु तानेव विद्वाधर्म्पानराक्षासाम् ॥ २३ ॥
 चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः।
 राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ॥ २४ ॥

ब्राह्मण आदि को छः प्रकार के विवाह, क्षत्रिय को असुरादिक्रम से ४ प्रकार के और वैश्य तथा शूद्र को राक्षस रहित तीन प्रकार के विवाह धर्मानुकूल कहे गए हैं। ब्राह्मण के लिए प्रथम चार विवाह (ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य), क्षत्रिय के लिए केवल राक्षस और शूद्र के लिए आसुर विवाह को पण्डितगण श्रेष्ठ समझते हैं। २३-२४।

पश्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ स्मृताविह।
 पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कदाचन ॥ २५ ॥
 पृथक्पृथक्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचीदितौ।
 गान्धर्वौ राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ॥ २६ ॥

प्राजापत्य आदि विवाहों में तीन (प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस) धर्मानुकूल और दो (आसुर और पिशाच) अधर्मयुक्त कहे गए हैं। इसलिए ब्राह्मण को किसी अवस्था में आसुर और पैशाच विवाह न करना चाहिए। पूर्व कथित ब्राह्मण और राक्षस दोनों विवाह पृथक्-पृथक् अथवा दोनों एक दूसरे से मिले हुए क्षत्रिय के धर्मानुकूल हैं।

आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम्।
 आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ २७ ॥
 यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते।
 अलंकृत्य सतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ॥ २८ ॥

अच्छे शील स्वभाव वाले वर को स्वयं बुलाकर उसे अलंकृत और पूजित कर देना ब्राह्म विवाह है। यज्ञ में सम्यक् प्रकार के कर्म करते हुए ऋत्विज को अलंकृत कर कन्या को दान देना दैव विवाह कहते हैं। २७-२८।

एकं कोमिथुनं द्वे वा वरदादाय धर्मतः।
 कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते ॥ २९ ॥

सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।

कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ॥ ३० ॥

वर से एक यो दो जोड़े गाय-बैल धर्मार्थ लेकर विधिपूर्वक कन्या देने को आर्ष विवाह कहते हैं। “तुम दोनों एक साथ गृह धर्म की रक्षा करो” यह कहकर और पूजन करके जो कन्यादान किया जाता है, वह प्राजापत्य विवाह कहलाता है। २९-३०।

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।

कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाश्चः वरस्य च।

गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः ॥ ३२ ॥

कन्या के पिता आदि को और कन्या को भी यथाशक्ति धन देकर स्वच्छन्दता-पूर्वक कन्या को ग्रहण करना आसुर विवाह है। कन्या और वर की इच्छा से दोनों का संयोग होना गन्धर्व विवाह है। यह काम-भोग की इच्छा से होता है और यह मैथुन के लिए हितकर है। ३१-३२।

हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्।

प्रसह्य कन्याहरणं रक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३३ ॥

सुमां मुत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति।

स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥ ३४ ॥

(बाधा डालने वालों को) मारकर, घायल कर, घर के दरवाजे आदि तोड़कर रोती हुई कन्या को घर से जबरदस्ती हरण कर ले जाने का नाम रक्षस विवाह है। सोई हुई, मृद से मतवाली या जो कन्या पागल हो उसके साथ एकान्त में संभोग करना विवाह में अत्यन्त निकृष्ट पापों से भरा हुआ आठवाँ पैशाच विवाह है। ३३-३४।

अदिभरेव द्विजाग्रयाणां कन्यादानं विशिष्यते।

इतरेषां तु वर्णानामिरेतरकाम्यया ॥ ३५ ॥

यो यस्यैषां विवाहानां मनुना कीर्तितो गुणः।

सर्वं शृणुत तं विप्राः सर्वं कीर्तयतो मम ॥ ३६ ॥

ब्राह्मण को जल दान पूर्वक कन्या दान करना श्रेष्ठ है। क्षत्रिय आदि वर्णों को परस्पर की इच्छा मात्र से (दाता ग्रहीता के वचन मात्र से) कन्यादान हो सकता है। इन विवाहों में जिसका जो गुण मनु ने कहा है, हे विप्रगण यह सब कहता हूँ, सुनिये। ३५-३६।

दश पूर्वान्परान्वंश्यानात्मानं चैकविंशकम्।

ब्राह्मोपुत्रः सुकृतकृन्मोचयेदेनसः पितृन् ॥ ३७ ॥

दैवोढाजः सुतश्चैव सप्त सप्त परावरान्।

आर्षोढाजः सुतस्त्रींस्त्रीन्बृषद् कायोढजः सुत ॥ ३८ ॥

ब्राह्मविवाह से उत्पन्न धर्माधारी पुत्र दस पीढ़ी पीछे और दस पीढ़ी आगे के पितरों को और इक्कीसवें अपने को नरक से उद्धार करता है। देव विवाह से जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह सात पीछे के और सात आगे के और आर्ष विवाह से उत्पन्न पुत्र तीन पीछे और तीन आगे के तथा प्राजापत्य से उत्पन्न पुत्र छः आगे के पुरुषों को तारता है। ३७-३८।

ब्राह्मादिषु विवाहेषु चतुर्ष्वेवानुपूर्वशः।

ब्रह्मवर्चस्विनः पुत्रा जायन्ते शिष्टसंमताः ॥ ३९ ॥

रूपसत्त्वगुणोपेता धन्वन्तो यशस्विनः।

पर्याप्तभोगा धर्मिष्ठा जीवन्ति च शतं समाः ॥ ४० ॥

ब्रह्म से ब्रह्मादि चार विवाहों से ब्रह्मवर्चस, तेजस्वी और शिष्टजनों से मान्य पुत्र होते हैं। ये रूपवान, सात्विक तथा गुणी, धनवान, यशस्वी, समृद्धिशाली, धार्मिक और शतायु होते हैं। ३९-४०।

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः।

जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥ ४१ ॥

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरन्निद्या भवति प्रजा।

निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥ ४२ ॥

शेष चार विवाहों से उत्पन्न पुत्र, निर्दयी, झूठे, वेदनिन्दक और धर्मद्विषी होते हैं। कहे हुए श्रेष्ठ स्त्रियों के साथ विवाह करने से उनसे श्रेष्ठ सन्तान का जन्म होता है, इसलिए निन्द्य विवाह न करे। ४१-४२।

पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते ।

असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्राहकर्मणि ॥ ४३ ॥

शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रोतोदो वैश्यकन्यया ।

वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥ ४४ ॥

सवर्ण कन्या के विवाह में ही पाणिग्रहण-संस्कार बताया गया है, असवर्णा (भिन्न जाति के) कन्या के विवाह में यह विधि है-ब्राह्मण के साथ क्षत्रिय बालिका विवाह के समय ब्राह्मण के हाथ में रखे हुए बाण का एक भाग पकड़े। वैश्य की कन्या ब्राह्मण और क्षत्रिय के हाथ में चाबुक को और शूद्र की कन्या, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के पहने हुए वस्त्र के एक देश को पकड़े। ४३-४४।

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।

पर्षवर्जः व्रजेच्चैनां सदद्वती रतिकाम्यया ॥ ४५ ॥

ऋतुः स्वाभाविक स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।

चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितः ॥ ४६ ॥

ऋतुकाल में ही स्त्री समागम करना चाहिए। सदा अपनी स्त्री से इच्छा से सन्तुष्ट रहना चाहिए। रति के पर्व दिनों को छोड़कर अन्य दिनों में स्त्री समागम कर सकते हैं। रजोदर्शन से निन्दित प्रथम चार दिन के बाद १६ रात्रि पर्यन्त स्त्रियों का ऋतुकाल रहता है। ४५-४६।

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।

त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥ ४७ ॥

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।

तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥ ४८ ॥

उन सोलह रात्रियों में प्रथम चार रात, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात स्त्री समागम के लिए निन्दित है। सम रात्रि में (अर्थात् छठी, आठवीं, दसवीं और चौदहवीं तथा सोलहवीं रात को) स्त्री के साथ सहवास करने से पुत्र उत्पन्न होता है। विषम रात्रि में (अर्थात् पाँचवीं, सातवीं रात्रि में) स्त्री गमन से कन्या जन्म लेती है। इसलिए पुत्रार्थी को सम रात्रि में ऋतुकाल में स्त्री के साथ शयन करना चाहिए। ४७-४८।

पुमान्युसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः।

समेऽपुमानुस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः॥ ४९॥

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।

ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन्॥ ५०॥

पुरुष का वीर्य अधिक होने से पुत्र और स्त्री का रज अधिक होने से कन्या होती है। स्त्री-पुरुष का रज-वीर्य सम होने से नपुंसक का जन्म होता है, या यमल सन्तान होती है। दूषित या अल्प वीर्य होने से गर्भ धारण नहीं होता। जो पूर्वोक्त छः दूषित रात्रि के साथ अन्य और निन्दित आठ रात में स्त्री का त्याग कर केवल पर्व रहित दो रात में स्त्री संगम करता है, वह चाहे जिस आश्रम में रहे ब्रह्मचारी ही बना रहता है। ४९-५०।

न कन्यायाः पिता विद्वान्गृहीयाच्छुल्कमण्वपि।

गृहणंछुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥ ५१॥

स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बान्धवाः।

नारी यानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्॥ ५२॥

बुद्धिमान कन्या के पिता को कन्यादान के लिए थोड़ा भी धन न लेना चाहिए। लोभ से धन ग्रहण करने पर मनुष्य सन्तान बेचने वाला होता है। जो पति, पिता आदि सम्बन्धित वर्ग मोहवश स्त्री धन से (बेटी अथवा स्त्री आदि के भूषण, वस्त्र और सवारी इत्यादि बेचकर) गुजर करते हैं, वे पातकी नरकगामी होते हैं। ५१-५२।

आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्भूषैव तत्।

अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः॥ ५३॥

यासां नाददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः।

अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यं च केवलम्॥ ५४॥

आर्ष विवाह में गाय-बैल का एक जोड़ा शुल्क लेने को किसी ने कहा है, वह मिथ्या ही है। थोड़ा ले या अधिक वह बेचना ही हुआ। जिन कन्याओं के निमित्त वर पक्ष से दिया हुआ वस्त्राभूषणादि पिता-भ्राता आदि नहीं लेते प्रत्युत कन्या को ही देते हैं। वह विक्रय नहीं है। वह कुमारियों का पूजन है। इसमें कोई हिंसादि दोष नहीं है। ५३-५४।

पितृभिश्चातृभिश्चैताः पतिभिर्देवैस्तथा ।

पूज्य भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥

अधिक कल्याण को चाहने वाले, माँ, बाप, भाई, पति और देवों को चाहिए कि कन्या का पूजन (संस्कार) करें और वस्त्रालंकारदि से भूषित करें। जिस कुल में स्त्रियाँ पूजित (सम्मानित) होती हैं, उस कुल से देवता प्रसन्न होते हैं। जहाँ स्त्रियों का अपमान होता है, वहाँ सभी यज्ञादि कर्म निष्फल होते हैं। ५५-५६।

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।

न शोचन्ति नु यत्रता वर्धते तद्धि सर्वदा ॥ ५७ ॥

जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः ।

तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः ॥ ५८ ॥

जिस कुल में बहू-बेटियाँ क्लेश भोगती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट हो जाता है। किन्तु जहाँ इन्हें किसी तरह का दुःख नहीं होता, वह कुल सर्वदा बढ़ता ही रहता है। सम्मानित न होने के कारण बहू-बेटियाँ जिन घरों को कोसती हैं वे घर अभिचार से नष्ट होकर हर तरह से नाश को प्राप्त होते हैं। ५७-५८।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।

भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेपूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भार्या भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ ६० ॥

इसलिए स्त्रियों को हमेशा भूषण, वसन और भोजन से सन्तुष्ट रखना चाहिए। समृद्धि की इच्छा वाले पुरुषों को नित्य मंगल कार्य और उत्सवों में स्त्रियों को भूषण वसनादि से सन्तुष्ट रखना चाहिए। जिस कुल में स्त्री से स्वामी और स्वामी से स्त्री प्रसन्न रहती है उस कुल में सदा कल्याण ही होता है। ५९-६०।

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।

अप्रमादोत्पुनः युंसः प्रजननं न प्रवर्तते ॥ ६१ ॥

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।

तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥ ६२ ॥

यदि स्त्री प्रसन्नचित्त न हो तो वह स्वामी को आनन्दित नहीं कर सकती और स्वामी अप्रसन्न हो तो सन्तानोत्पादन नहीं होता। (अलंकारादि में) स्त्री के रुचिकर होने से सारा कुल दीप्तियुक्त होता है। परन्तु स्त्री यदि असन्तुष्ट हो तो सारा कुल मलिन हो जाता है। ६१-६२।

कु विवाहैः क्रियालोपैर्वेदानध्ययनेन च।

कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ ६३ ॥

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः।

गोभिरश्वैव यानश्च कृष्या राजोपसेवया ॥ ६४ ॥

निन्दित (आसुर आदि विवाहों में) जातकर्मादि क्रियाओं का लोप होने और वेद न पढ़ने से तथा ब्राह्मण का अपमान करने से ऊँचे कुलों की कुलीनता भी नष्ट हो जाती है। शिल्प कारीगरी, व्याज का व्यापार, केवल शूद्र स्त्री में सन्तानोत्पत्ति, गाय, बैल, घोड़े और गाड़ी के व्यापार, खेती और राज सेवा से तथा—

अयाज्ययाजनैश्चैव नास्तिक्येन च कर्मणाम्।

कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः ॥ ६५ ॥

मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।

कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ ६६ ॥

यज्ञ के अनधिकारी से यज्ञ कराने और वेदोक्त कर्मों में नास्तिक बुद्धि रखने से तथा वेदाध्ययन से च्युत होने से कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। थोड़े धन वाले कुल भी यदि वेदाध्ययन से समृद्ध हैं तो वे अच्छे कुलों में गिने जाते हैं और यशस्वी होते हैं। ६५-६६।

वैवाहिकेऽग्नौ कुर्वीत गृहां कर्म यथाविधि।

पञ्चयज्ञविधानं च पंक्तिं चान्वाहिकीं गृही ॥ ६७ ॥

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।

कण्डनी चोदकूम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ ६८ ॥

गृही (गृहस्थ) विवाह के समय स्थापित अग्नि में यथाविधि गृह्योक्त

कर्म (होम) करे तथा नित्य पंचयज्ञ और पाक करे। गृहस्थ के चूल्हा, चक्री, (सिल, लुढ़िया आदि), छड़, ऊखल, मूसल, पानी का घड़ा-पाँचों हिंसा के स्थान हैं, इनमें काम लेने से गृहस्थ पाप का भागी होता है। ६७-६८।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।

पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥ ६९ ॥

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।

होमो दैवो बलिर्भोतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥

महर्षियों ने उन पापों के नाश के लिए गृहस्थों को प्रतिदिन क्रम से पंचमहायज्ञ करने का आदेश दिया है। वेद का पठनपाठन ब्रह्मयज्ञ, पितरों का तर्पण करना पितृयज्ञ, हवन करना देवयज्ञ, जीवों को अन्न की बलि देना, दूतयज्ञ और अतिथि का आदर-सत्कार करना मनुष्य यज्ञ, ये ही पंचमहायज्ञ हैं। ६९-७०।

पश्चैतान्यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।

स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते ॥ ७१ ॥

देवतातिथिभृत्यानां पितृणामात्मनश्च यः।

न निर्वयति पञ्जानामुच्छवसन्न स जीवति ॥ ७२ ॥

जो इन पाँचों महायज्ञों को यथाशक्ति करता है वह घर में नित्य रहकर भी हिंसा-दोषों से लिप्त नहीं होता। जो देवता, अतिथि और माता पिता आदि पोष्यवर्ग तथा अपना संरक्षण नहीं करता वह सौंस लेता हुआ भी मृतक के समान है। ७१-७२।

अहुतं च हुतं चैव तथा प्रहुतमेव च।

ब्राह्मयं हुतं प्राशितं च पञ्चयज्ञान्प्रचक्षते ॥ ७३ ॥

जपोऽहुतो हुतो होमः प्रहुतो भौतिको बलिः।

ब्राह्मयं हुतं द्विजाग्रयार्चा प्राशितं पितृतर्पणम् ॥ ७४ ॥

आहुत हुत, प्रहुत ब्रह्मयहुत और प्राशित ये पंचयज्ञ कहलाते हैं। जप करना 'अहुत', हवन को 'हुत', भूतबलि को 'प्रहुत' ब्राह्मणों का सत्कार करना 'ब्राह्मयहुत' और पितृतर्पण प्राशित कहा गया है। ७३-७४।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यादैवे चैवेह कर्मणि।

दैवकर्मणि युक्ता हि विभर्तीदं चराचरम् ॥ ७५ ॥

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।

आदित्यांजायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ ७६ ॥

दरिद्रता के कारण अतिथि के सत्कार में असमर्थ हो तो वह नित्य स्वाध्याय करे। क्योंकि दैव कर्म में लगा हुआ पुरुष इस चराचर को धारण (पोषण) कर सकता है। अग्नि में भली भाँति से दी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न उपजता है, उससे प्रजा की उत्पत्ति होती है। ७५-७६।

यथा वायुं समाश्रित्व वर्तन्ते सर्वजन्तवः।

तथा गृहस्थमाश्रित्व वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ ७७ ॥

यस्मात्त्रयोऽप्वाश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन मान्हवम्।

गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥ ७८ ॥

जैसे वायु के आश्रय से सब प्राणी जीते हैं, वैसे ही सब आश्रम गृहस्थाश्रम के आश्रय से जीते हैं। तीनों आश्रमी (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) गृहस्थों के द्वारा नित्य वेदार्थ ज्ञान की चर्चा और अन्न दान से उपकृत होते हैं इस कारण सब आश्रमों में बड़ा गृहस्थाश्रम ही होता है। ७७-७८।

स संधार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता।

सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ७९ ॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तता।

आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥

अक्षय स्वर्ग पाने की इच्छा वाले को और इस लोक में भी सुख चाहने वाले को यत्नपूर्वक ऐसे गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए। गृहस्थाश्रम का धारण करना दुर्बल इन्द्रियों से नहीं होता है। ऋषि, पितर, देवता, जीवजन्तु और अतिथि ये कुटुम्बियों से ही कुछ पाने की आशा रखते हैं, शास्त्र पुरुष उन्हें सन्तुष्ट करे। ७९-८०।

स्वाध्यायेनार्चयेत्तर्षीन्होमैर्देवान्याथाविधि ।

पितृन्श्राद्धैश्च नूनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।

पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ ८२ ॥

वेदाध्ययन से ऋषियों का, होम से देवताओं का, श्राद्ध और तर्पण से पितरों का, अन्न से अतिथियों का और बलिकर्म से प्राणियों का सत्त्वर करना चाहिए। अन्नादि से जल या दूध से या फल फूलों से पितरों के प्रसन्नतार्थ नित्य श्राद्ध करे। ८१-८२।

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थं पंचयज्ञिके ।

न चैवात्राशयेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ ८३ ॥

वैश्वदेवस्व सिद्धस्य गृहोऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।

आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥ ८४ ॥

पंचयज्ञ के अन्तर्गत पितर के निमित्त एक ब्राह्मण को अवश्य भोजन करावे, पर वैश्वदेव के निमित्त ब्राह्मण को भोजन कराने की आवश्यकता नहीं। वैश्वदेव के लिए पकाए अन्न से ब्राह्मण गार्हस्थ्य अग्नि में आगे कहे हुए देवताओं के लिए प्रतिदिन हवन करे। ८३-८४।

अग्नेः सोमस्य चैवादौ तयोश्चैव समस्तयोः ।

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो धन्वन्तरय एव च ॥ ८५ ॥

कह्वं चैवानुमत्यै च प्रजापतयः एव च ।

सहद्यावापृथिव्योश्च तथा त्विष्टकुतेऽन्ततः ॥ ८६ ॥

पहले अग्नि और सोम को फिर दोनों को एक साथ ('अग्निसोमाभ्यां स्वाहा' ऐसा कहकर) आहुति दे, तदनन्तर विश्वदेव और धन्वन्तरि को आहुति दे। (फिर) कुहूको, अनुमति को, प्रजापति को आहुति दे, द्यौ पृथिवी द्यावा पृथिवीभ्यां को एक साथ आहुति दे। अन्त में (अग्नेयस्विष्ट कृते) स्विष्टकृत् अग्नि को आहुति दे। ८५-८६।

एवं सम्यग्घविर्हुत्वा सर्वदिक्षु प्रदक्षिणम् ।

इन्द्रान्तकाप्पतीन्दुभ्यः सानुगेभ्यो बलिं हरेत् ॥ ८७ ॥

मरुद्भय इति तु द्वारि क्षिपेदप्स्वद्भ्य इत्यपि।

वनस्पतिभ्य इत्येवं मुसलोलूखले हरेत्॥ ८८ ॥

इस प्रकार होम करके सारी दिशाओं में दक्षिण क्रम से इन्द्र, यम, वरुण और सोम को तथा साथ ही साथ उनके अनुयायियों को बलि देनी चाहिए। (यथा पूर्व दिशा से 'इन्द्राय नमः इन्द्रपुरुषेभ्यो नमः' दक्षिण दिशा में 'यमाय नमः यमपुरुषेभ्यो नमः' पश्चिम दिशा में 'वरुणाय नमः वरुणपुरुषेभ्यो नमः' उत्तर दिशा में 'सोमाय नमः सोमपुरुषेभ्यो नमः') मस्त को द्वार पर, आप (जल) को जल में तथा वनस्पति को मूसल और उलूखल में बलि दे। ८७-८८।

उच्छीर्षके श्रियै कुर्याद्भद्रकाल्यै च पादतः।

ब्रह्मवास्तोष्पतिभ्यां तु वास्तुमध्ये बलिं हरेत्॥ ८९ ॥

विश्वेभ्योश्चैव देवेभ्यो बलिमाकाश उत्क्षिपेत्।

दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च॥ ९० ॥

वास्तु पुरुष के शीश भाग (उत्तर पूर्व दिशा) में लक्ष्मी को, पद प्रदेश (दक्षिण-पश्चिम दिशा) में भद्रकाली को, ब्रह्मा और वास्तुपति को वास्तु के मध्य भाग में बलि दे। वैश्वदेव को आकाश में और दिनचर प्राणी को दिन में और रात्रिचर प्राणी को रात में बलि दे। ८९-९०।

पृष्ठवास्तुनि कुर्वीत बलिं सर्वात्मभूतये।

पितृभ्यो बलिशेषं तु सर्वं दक्षिणतो हरेत्॥ ९१ ॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोगिणाम्।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वप्रेद्भुवि॥ ९२ ॥

वास्तु के पृष्ठभाग में सर्वात्मभूत को और बचे हुए अन्न को लेकर वास्तु के दक्षिण भाग में पितरों को बलि दे। कुत्तों, पतितों, श्वपचों, पापरागियों, कौओं और कीड़े मकोड़ों के लिए धरती पर धीरे से बलि रखे। ९१-९२।

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।

स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिं पथर्जुना॥ ९३ ॥

कृत्वैतद्बलिकमैवमतिथिं पूर्वमाशयेत्।

भिक्षां च मिक्षवे दद्याद्विधिवद्ब्रह्मचारिणे॥ ९४ ॥

इस प्रकार जो ब्राह्मण सब प्राणियों का नित्य पूजन करता है वह सीधे रास्ते से तेजोमय परमस्थान को जाता है। इस प्रकार बलि वैश्वदेव कर्म करके पहले अतिथि को भोजन करावे और संन्यासी तथा ब्रह्मचारी को उचित रीति से भिक्षा दे। ९३-९४।

यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद्गुरोः।

तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही॥ ९५॥

भिक्षामप्युदपात्रं व सत्कृत्य विधिपूर्वकम्।

वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्॥ ९६॥

गुरु को विधिपूर्वक गौ देने से जो पुण्य फल प्राप्त होता है, वह गृहस्थ भिक्षा देने से प्राप्त करता है। गृहस्थ अधिक अन्न के अभाव में थोड़ा सा भी पवित्र अन्न या जल विधिपूर्वक सत्कार करके वेद के तत्त्वार्थ जानने वाले ब्राह्मण को दे। ९५-९६।

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम्।

भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहादत्तानि दातृभिः॥ ९७॥

विद्यातपः समृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु।

निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव कित्विशात्॥ ९८॥

दाता वेदाध्ययन रहित निस्तेज ब्राह्मणों को अज्ञानवश जो हव्य कव्य देवताओं के तृप्त्यर्थ देता है वह निष्फल हो जाता है। विद्वान और तपस्वी ब्राह्मणों की मुखान्नि में दिया हुआ हव्य कव्य (इस लोक में) अनेकों प्रकार के संकटों और (परलोक में) महान पाप से बचाता है। ९७-९८।

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।

अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥ ९९॥

शिलानप्युज्छनो नित्यं पश्चाग्नीनहि जुह्वतः।

सर्वं सुकृतमादत्ते ब्राह्मणोऽनचितो वसन्॥ १००॥

स्वयं आए हुए अतिथि को पहले आसन और जल देना चाहिए। तदनन्तर सत्कारपूर्वक यथाशक्ति व्यंजनादि से युक्त अन्न खिलाना चाहिए। फसल काटने पर खेत में गिरे हुए अन्न को चुनकर निर्वाह करने वाला और नित्य पंचाग्नि सेवन करने वाला भी पुरुष हो पर उसके यहाँ अतिथि का सत्कार

न हो तो वह अतिथि उसका सारा पुण्य ले लेता है। ९९-१००।

तृणानि भूमिरुदकं नाक्चतुर्थी च सूनृता।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ १०१॥

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः।

अनित्यं हि स्थितो मस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते॥ १०२॥

अतिथि के लिए तृणासन, ठहरने की जगह, पैर धोने के लिए पानी तथा मधुर और सत्य वाणी, इन चार वस्तुओं का अभाव तो सज्जनों के यहाँ कभी नहीं होता। दूसरे के घर एक रात जो ब्राह्मण निवास करे वह अतिथि है। उसका रहना नित्य नहीं होता, इसी से वह अतिथि कहलाता है। १०१-१०२।

नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं साङ्गनिकं तथा।

तपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा॥ १०३॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः।

तेन ते प्रेत्य पशुतां ब्रजन्त्यन्नादिनायिनाम्॥ १०४॥

उसी गाँव में रहने वाला, विचित्र कथाओं से अपनी जीविका चलाने वाला कोई मनुष्य यदि (वैश्वदेव कर्म के समय भी) अतिथि बनेकर घर पर उपस्थित हो, सपत्नीक अग्निहोत्री भी हो तो गृहस्थ उसे अतिथि जाने। जो गृहस्थ अज्ञानवश दूसरे का अन्न खाते फिरते हैं, वे उस दोष से जन्मान्तर में अन्नदाताओं के पशु होते हैं। १०३-१०४।

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढी गृहमेधिना।

काले प्राप्तास्त्वकाले वा नास्यानश्नन्गृहे वसेत्॥ १०५॥

न वै स्वयं तदशनीयादतिथिं अन्नं भोजयेत्।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं वातिथिपूजनत्॥ १०६॥

सूर्यास्त के समय यदि कोई अतिथि (अभ्यागत) घर पर आवे तो उसे नहीं टालना चाहिए। अतिथि समय पर आवे या असमय में उसे भोजन अवश्य करा दें। जो पदार्थ अतिथि को न परोसा जाय उसे न खाय। स्वयं अतिथि पूजन से धन, यश और आयु की वृद्धि होती है तथा जन्मान्तर में स्वर्ग सुख प्राप्त होता है। १०५-१०६।

आसनावस्थौ शय्यामनुब्रज्यामुपासनाम् ।

उत्तमेपूतमं कुर्याद्धीने हीनं समे समम् ॥ १०७ ॥

वैश्वदेवे तु निर्वृत्ते यच्चन्तोऽतिथिरव्रजेन् ।

तस्याप्यन्नं यथाशक्ति प्रद्यान्न बलिं हरेत् ॥ १०८ ॥

आसन, विश्राम स्थान, शय्या, अनुगम और परिचर्या से अतिथियों की योग्यता देखकर करे, जो जैसे हों उसके साथ वैसा ही व्यवहार करे, अर्थात् बड़े छोटे का ख्याल न रखकर उनके सम्मान की व्यवस्था करे। बलि वैश्वदेव कर्म समाप्त होने पर यदि दूसरा अतिथि आवे तो उसे भी पाक करके यथाशक्ति भोजन करावे। पर उस अन्न से "बलि" न करे।

न भोजनार्थं त्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।

भोजनार्थं हि शंसन्वान्याशीत्युच्यते बुधैः ॥ १०९ ॥

न ब्राह्मणस्य त्वतिथिर्गृहं राजन्य उच्यते ।

वैश्यशूद्रौ सखा चैव ज्ञातयो गुरुदेव यः ॥ ११० ॥

भोजन के लिए ब्राह्मण किसी से अपने कुल गोत्र का निवेदन न करे, क्योंकि ऐसा करने वालों को पंडितगण वमनभोक्ता कहते हैं। यदि ब्राह्मण के घर क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मित्र, बिरदरी के लोग और गुरु आवें तो अतिथि नहीं कहे जाते। १०९-११०।

यदि त्वतिथिधर्मेण क्षत्रियो गृहमाब्रजेत् ।

भुक्तवत्सु च विप्रेषु कामं तपपि भोजयेत् ॥ १११ ॥

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बरेऽतिथिधर्मिणो ।

भोजयेत्सह भृत्यैस्तावनानृशंस्यं प्रयोजयन् ॥ ११२ ॥

यदि कोई क्षत्रिय अतिथि रूप से घर पर आ जाय तो अतिथि ब्राह्मणों को भोजन कराके गृहस्थ उसे भी भोजन करा दे। यदि वैश्य या शूद्र अतिथि रूप से ब्राह्मण के घर आ जाये तो उन्हें दया धर्म पूर्वक भृत्यों के साथ भोजन करना चाहिए। १११-११२।

इतरानपि सख्यादीन्संप्रीत्या गृहमागतान् ।

सत्कृत्यान्नं यथाशक्ति भोजयेत्सह भार्यया ॥ ११३ ॥

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणी गर्भिणी स्त्रियः ।

अतिथिभ्योऽग्र एवैतान्भोजयेदविचारयन् ॥ ११४ ॥

(क्षत्रियादिकों के अतिरिक्त अन्य) बान्धवों को भी जो प्रेम से अपने यहाँ आए हों, पत्नी के भोजन के समय यथाशक्ति उत्तम भोजन करना चाहिए । नई बहू, कन्या, रोगी और गर्भिणी स्त्रियाँ, इन सबको अतिथियों से पहले बिना विचारे भोजन करा दे । ११३-११४ ।

अदत्त्वा तु य एतेभ्यः पूर्वं भुङ्क्तेऽविचक्षणः ।

स भुञ्जानो न जानाति श्वगूधैर्जग्निमात्मनः ॥ ११५ ॥

भुभवत्स्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।

भुञ्जीयातां ततः पश्चादवशिष्टं तु दम्पती ॥ ११६ ॥

जो अज्ञानी इन सबको न खिलाकर पहले स्वयं खाता है, वह यह नहीं जानता कि मरने के बाद उसके शरीर को कुत्ते और गीध नोंच-नोंच कर खायेंगे । पहले ब्राह्मणों और अपने भृत्यों को भोजन कराकर पीछे जो अन्न बचे वह पति-पत्नी भोजन करें । ११५-११६ ।

देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः ।

पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥ ११७ ॥

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।

यज्ञाशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर और गृह देवताओं का अन्नदि से पूजन करके पीछे बचा हुआ अन्न गृहस्थ करें । जो केवल अपने ही लिए भोजन बनाकर खाता है, वह अन्न न खाकर केवल पाप खाता है । सज्जनों के लिए यज्ञावशिष्ट अन्न ही भोजन के लिए प्रशस्त है ।

राजर्त्विक्स्नातकगुन्धियश्वशुरमातुलान् ।

अहयेन्मधुपर्केण षरिसंवत्सरात्पुनः ॥ ११९ ॥

राजा च श्रोतियश्चैव यज्ञकर्मण्युपस्थितौ ।

मधुपर्केण संपूज्यौ न त्वयज्ञ इति स्थितिः ॥ १२० ॥

राजा, यज्ञपुरोहित, स्नातक, गुरु, जंबाई, ससुर और मामा लोग जब एक वर्ष के लिए घर पर आयें तो मधुपर्क से इनकी पूजा करनी चाहिए । राजा

और स्त्रोत्रिय वैदिक यज्ञकर्म में उपस्थित हों तो मधुपर्क से पूजा करनी चाहिए, यज्ञातरिक्त समय में नहीं। ११९-१२०।

सायं त्वत्रस्य सिद्धस्य पत्न्यमन्नं बलिं हरेत्।

वैश्यदेवं हि नामैतत्सायंप्रातर्विधीयते ॥ १२१ ॥

पितृयज्ञं तु निर्वर्त्य विप्रश्चेन्दुक्षयेऽग्रिमान्।

पिण्डान्वाहार्यकं श्राद्धं कुर्यान्मासानुमासिकम् ॥ १२२ ॥

सायंकाल स्त्री बिना मन्त्र के सिद्धान्त की बली दे। देव नामक कर्म गृहस्थ को सायं प्रातः करना चाहिए। अग्निहोत्री ब्राह्मण अमावस्या तिथि में पितृयज्ञ करके प्रत्येक मास पिण्डान्वाहार्यक श्राद्ध करे।

पितृणां मासिकं श्राद्धमन्वाहार्यं बिदुर्बुधाः।

तच्चाभिषेण कर्तव्यं प्रशस्तेनः प्रयत्नतः ॥ १२३ ॥

तत्र ये भोजनीयाः स्युर्ये च वर्ज्या द्विजोत्तमाः।

यावन्तश्चैव यैश्चान्नैस्तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ १२४ ॥

पण्डितगण पितरों के इस मासिक श्राद्ध को अन्वाहार्य कहते हैं, यत्पूर्वक विहित मौसं द्वारा करना चाहिए। उस श्राद्ध में खिलाने योग्य और न खिलाने योग्य ब्राह्मण को किन अन्नों से कितने ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए इत्यादि सब बातें कहता हूँ। १२३-१२४।

द्वौ दैये पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा।

भोजयेत्सुसमृद्धऽपि न प्रसज्येत विस्तरे ॥ १२५ ॥

सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसंपदः।

पञ्चैतान्विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेतविस्तरम् ॥ १२६ ॥

देवकार्य में दो पितृश्राद्ध में तीन या दोनों में एक-एक ब्राह्मण को भोजन करावे। अधिक ब्राह्मण भोजन कराने की सामर्थ्य हो तो भी इस संख्या को न बढ़ावे। इस संख्या को बढ़ाने से संस्कार देश, काल पवित्रता और ब्राह्मणत्व श्राद्ध के इन पाँचों आवश्यक अंगों को साधने में बाधा पड़ती है। इसलिए संख्या नहीं बढ़ानी चाहिए। १२५-१२६।

प्रथिता प्रेतकृत्येषा पित्र्यं नाम विधुक्षये।

तस्मिन्युक्तस्यैति नित्यं प्रेतकृत्यैव लौकिकी ॥ १२७ ॥

श्रोतियायैव देयानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।

अर्हत्तमाय विप्राय तस्मै दत्तै महाफलम् ॥ १२८ ॥

अमावस्या में जो पितृश्राद्ध किया जाता है उसे प्रेतकृत्या (पितृक्रिया) कहते हैं। उस कर्म में जो तत्पर रहता है, उसका नित्य लौकिकी प्रेतकृत्या प्राप्त होती है। अर्थात् उसके पुत्र पौत्रादि और धन की वृद्धि होती है। दाता को वेदाध्यायी को ही हव्य-कव्य देना चाहिए क्योंकि उस पूज्यतम ब्राह्मण को देवान्न या श्राद्धान्न देने से बहुत फल होता है। १२७-१२८।

एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत् ।

पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्वहूनपि ॥ १२९ ॥

दूरादेव परीक्षेत ब्राह्मणं वैदपारगम् ।

तीर्थं तद्धव्यकव्यानां प्रदाने सोऽतिथिः स्मृतः ॥ १३० ॥

देवकार्य और पितृकार्य में एक भी विद्वान् ब्राह्मण को भोजन करने से जो विशेष फल प्राप्त होता है, वह देव विद्या से विहीन बहुत ब्राह्मणों को खिलाने से भी नहीं होता। वेद निष्णात ब्राह्मण को दूर से (अर्थात् पहले उसकी वंश परम्परा को और पवित्रता को जान लें) क्योंकि वह हव्य कव्यों में पात्र और दान के लिए अतिथि के तुल्य पवित्र कहा गया है। १२९-१३०।

सहस्रं हि सहस्राणानृचां यत्र भुञ्जते ।

एकस्मान्मन्त्रवित्प्रीतः सर्वानर्हति धर्मतः ॥ १३१ ॥

ज्ञानोत्कृष्टाय देयानि कव्यानि च हवीपि च ।

न हि हस्तावसुग्दिग्धौ रुधिरेणैव शुद्ध्यतः ॥ १३२ ॥

जिस श्राद्ध में वेदविहीन दस लाख ब्राह्मण भोजन करते हों उनमें यदि वेद जानने वाला एक ही ब्राह्मण प्रसन्न होकर भोजन करे तो वह अकेला ही सम्पूर्ण ब्राह्मण भोजन के दान के फल को पाता है। जो विद्या में बड़ा हो, उसी को हव्य (देवान्न) और कव्य (पित्रान्न) देना चाहिए। क्योंकि लोहू में भीगे हुए हाथ लोहू से शुद्ध नहीं होते हैं। १३१-१३२।

यावतो ग्रसते ग्रासान्हव्यकव्येष्वमन्त्रवित् ।

तावतो ग्रसते प्रेत्य दीप्तशूलष्ठर्ययोगुडान् ॥ १३३ ॥

ज्ञाननिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठास्तथापरे ।

तपःस्वाध्यायनिष्ठाश्च कर्मनिष्ठास्तथापरे ॥ १३४ ॥

वेद विद्यारहित ब्राह्मण हव्य कव्यों के जितने कौर खाते हैं श्राद्ध कर्ता के मरने के उतने ही आगे तपाये शूलष्टि नाम लोहे के गोले खाने पड़ते हैं। जो ब्राह्मण ज्ञानी विद्वान्, कोई तपस्वी, कोई वेद व्रतनिष्ठ और क्रियानिष्ठ होते हैं। १३३-१३४।

ज्ञाननिष्ठेषु कव्यानि प्रतिष्ठाप्यानि यत्नतः ।

हव्यानि तु यथान्यायं सर्वेष्वेव चतुर्ष्वपि ॥ १३५ ॥

अश्रोत्रियः पिता यस्य पुत्रः स्याद्वेदपारगः ।

अश्रोत्रियो वा पुत्रः स्यात्पिता स्याद्वेदपारगः ॥ १३६ ॥

ज्ञाननिष्ठों को यत्नपूर्वक कव्य (श्राद्धात्र) और शेष चारों ब्राह्मणों को यथायोग्य हव्य देना चाहिए जिसका पिता वेद न जानता हो और पुत्र वेदपारंगत् हो अथवा बाप वेदपारंगत् हो, बेटा वेद न जानता हो। १३५-१३६।

ज्यायांसमगयोर्विद्याद्यस्य स्याच्छ्रोत्रियः पिता ।

मन्त्रसंपूजनार्थं तु सत्कामितरोऽर्हति ॥ १३७ ॥

न श्राद्धे भोजयेन्मित्रं धनैः कार्योऽस्य संग्रहः ।

नारि न मित्रं यं विद्यात्तं श्राद्धे भोजनेद् द्विजम् ॥ १३८ ॥

दोनों में बड़ा वही है जिसका बाप वेदविज्ञ है, किन्तु दूसरा केवल वेद पढ़ने के कारण सम्मानार्थ सत्कार पाने योग्य है। श्राद्ध में मित्र को न खिलावे, किन्तु अन्य सत्कारों से मैत्री की रक्षा करे। जो शत्रु और मित्र न हो उसी ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन करावे। १३७-१३८।

यस्य मित्र प्रधानानि श्राद्धानि च हवीषि च ।

तस्य प्रेत्य फलं नास्ति श्चाद्वेष च हविःषु च ॥ १३९ ॥

यः संगतानि कुरुते मोहाच्छ्रद्धेष मानवः ।

स स्वर्गाच्च्यवते लोकाच्छ्राद्धामित्रो द्विजाधमः ॥ १४० ॥

जिसके श्राद्ध और हव्य में मित्र ही प्रधान होते हैं। अर्थात् मित्रों को ही जिनमें भोजनादि कराया जाता है उन्हें मरने पर हव्य-कव्य का फल नहीं

होता। जो मनुष्य अज्ञान से श्राद्ध द्वारा किसी के साथ मैत्री जोड़ता है, वह श्राद्धमित्र द्विजाधम स्वर्गलोक से वंचित होता है। १३९-१४०।

संभोजनो साभिहिता पैशाची दक्षिणाद्विजैः।

इहैवास्ते तु सा लोके गोरन्धेवैकवेश्मनि॥ १४१॥

यथेरिणे बीजमुप्तवा न वसा लभते फलम्।

तथाऽनृचे हविर्दत्त्वा न दाता लभते फलम्॥ १४२॥

जो मैत्रादिकों के साथ भोजनादि से युक्त दान क्रिया होती है उसे पैशाची दान-क्रिया कहते हैं, क्योंकि वह दान दक्षिणा इसी लोक में रह जाती है जैसे अन्धी गाय एक ही घर में रहती है। जैसे ऊसर में बीज बोने से बोने वाले को फल का लाभ नहीं होता, वैसे ही मूर्ख को हवि (देवान्न) देने वाले को कोई फल नहीं मिलता। १४१-१४२।

दातृन्प्रतिग्रहीतश्च कुरुते फलभागिनः।

विदुषे दक्षिणां दत्त्व विधिवत्प्रेत्य चेह च॥ १४३॥

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरूपमि त्वरिम्।

द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम्॥ १४४॥

वेदविज्ञ ब्राह्मण को विधिपूर्वक दी जाने वाली दान-दक्षिणा इस लोक और परलोक में दाता और प्रतिग्रहीता दोनों को यथोक्त फल देती है। (विद्वान् ब्राह्मण के अभाव में) गुणवान् मित्र को सादर भोजन करावे, पर विद्वान् शत्रु को नहीं। क्योंकि शत्रु का खाया हुआ श्राद्ध परलोक में निष्फल होता है। १४३-१४४।

यत्नेन भोजयेच्छ्राद्धे बहवृचं वेदपारगम्।

शाखान्तगमथाध्वर्यु छन्दोगं तु समाप्तिकम्॥ १४५॥

एषामन्यतमो यस्य भुञ्जात श्राद्धमर्चितः।

तिृणां तस्य तृप्तिः स्याच्छाश्वती साप्तपौरुषी॥ १४६॥

श्राद्ध में यत्नपूर्वक ऐसे ब्राह्मण को जो बहुत ऋत्वाओं (मन्त्रों को जानने वाला वेदपारंगत हो अथवा जिसने वेद की कोई शाखा पूरी पढ़ी हो, या जिसने सम्पूर्ण वेद पढ़ हो भोजन करावे। ऐसा एक भी ब्राह्मण यदि पूजित होकर श्राद्ध में भोजन करे तो श्राद्धकर्त्ता के पितरों को सात पीढ़ियों तक

निरन्तर तृप्ति होती है। १४५-१४६।

एष वै प्रथमः कल्पः प्रदाने हव्यकव्ययोः।

अनुकल्पस्त्वयं ज्ञेयः सदा सदिभरनुष्ठितः॥ १४७॥

मातामहं मातुलं य स्वस्त्रीयं वसुरं गुरुम्।

दौहित्रं विदपतिं बन्धुमृत्विग्याज्यौ च भोजयेत्॥ १४८॥

हव्य-कव्य देने में यह मुख्य विचार हुआ। अब साधु पुरुषों ने जिस गौण विचार का सदा अनुष्ठान किया है वह इस प्रकार है। मातामह, (नाना), मामा, भांजा, स्वसुर, गुरु, दौहित्र, जामाता, मौसेरा-फुफेरा भाई, पुरोहित, और यज्ञकर्ता-इनको श्राद्ध में भोजन करावे। १४७-१४८।

न ब्राह्मणं परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित्।

पित्र्ये कर्मणि तु प्राप्ते परीक्षेत प्रयत्नतः॥ १४९॥

य स्तेनपतितक्लीबा ये च नास्तिकहृत्तयः।

तान्हव्यकव्ययोर्विप्राननहान्मनुरब्रवीत् ॥ १५०॥

धर्मज्ञ पुरुष दैवकर्म से ब्राह्मण की परीक्षा न करे। किन्तु पितृकर्म में (उसके आचार, विचार, विद्या, कुल, शील की) अच्छी तरह परीक्षा करे। जो चोर हों, नपुंसक हों नास्तिक हों-वे ब्राह्मण हव्य-कव्य के योग्य नहीं हैं, ऐसा मनुजी ने कहा है। १४९-१५०।

जटिलं चानधीयानं दुर्बलं कितवं तथा।

याजयन्ति च ये पूगांस्तांश्च श्राद्धे न भोजयेत्॥ १५१॥

चिकित्सकान्देबलकान्मरसविक्रयिणस्तथा ।

विपणेन च जीवन्ता वर्ज्याः स्युर्हव्यकव्यकोः॥ १५२॥

वेदपाठरहित जटाधारी ब्रह्मचारी, दुर्बल (अजितेन्द्रिय), जुआरी और ग्राम्य पुरोहित-इनको श्राद्ध न खिलावे। वैद्य, पुजारी (देवांश खाने वाले) माँस बेचने वाले और वणिक्वृत्ति से (व्यापार से) जीने वाले ब्राह्मण देव और श्राद्ध दोनों में त्याज्य हैं। १५१-१५२।

प्रेष्यो ग्रामस्य राज्ञश्च कुनखी श्यावदन्तकः।

प्रतिरोद्धा गुरोश्चैव त्यक्ताग्निर्वार्धुषिस्तथा॥ १५३॥

लक्ष्मी च पशुपालश्च परिवेत्ता निराकृतिः।

ब्रह्मद्विद् परवित्तिश्च गणाभ्यन्तर एव च॥ १५४॥

रजा व गाँव का दासकर्म करने वाला, जिसके नख खराब हों, जिसके दांत काले हों, गुरु की आज्ञा के प्रतिकूल चलने वाला ब्राह्मण हव्य कव्य में त्याज्य है। यक्ष्मा (क्षय) रोग वाला, पशुओं को पोसकर गुजर करने वाला, परिवेत्ता^१ परिवित्ति^२ देवपितृकर्मादिरहित, ब्राह्मण-द्वेषी और किसी लोकोपकार के लिए पैदा किए हुए धन से अपनी जीविका चलाने वाला—ये सब देवकर्म और श्राद्ध में त्याज्य हैं। १५३-१५४।

कुशीलवोऽवकोर्णी च वृषलीपतिरेव च।

पौनर्भवश्च काणश्च यस्य चोपपतिर्गृहे॥ १५५॥

भृतकाध्यापको यश्च भृतकाध्यापितस्तथा।

शूद्रशिष्यो गुरुश्चैव वाग्दुष्टः कुण्डगोलकौ॥ १५६॥

नाचगान से जीविका चलाने वाला, ब्रह्मचर्यव्रत से रहित कामति, ब्रह्मचारी या यती, शूद्रा स्त्री या जो पुनर्विवाहिता स्त्री का पुत्र है तथा काना और जिस घर में स्त्री का उपपति हो, ये सब देवकर्म और श्राद्ध में त्याज्य हैं। वेतन लेकर पढ़ाने वाला, वेतन देकर पढ़ने वाला, शूद्र से पढ़ने वाला या शूद्र को पढ़ाने वाला कटुभाषी सधवा या विधवा के पेट से पर-पुरुष द्वारा उत्पन्न ब्राह्मण देव और पित्र्य दोनों कार्यों में त्याज्य है। १५५-१५६।

अकारणपरित्यक्ता मातापित्रोर्गुरोस्तथा।

ब्राह्मैर्योनश्च सम्बन्धैः संयोगं पतितैर्गतः॥ १५७॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।

समुद्रदायी वन्दी च तैलिकः कूटकारकः॥ १५८॥

माता, पिता और गुरु को अकारण त्यागने वाला, पतितों के साथ विवाहादि सम्बन्ध का पठन-पाठन का व्यवहार करने वाला त्याज्य है।^१ घिर में आग लगाने वाला, विष देने वाला, कारज का अन्न खाने वाला, मादक

१. जेठा भाई का विवाह न हुआ हो, किन्तु छोटे भाई का विवाह हुआ हो वह अग्निहोत्र करता हो तो उसे परिवेत्ता कहते हैं।

२. परिवेत्ता के जेठे भाई को परिवित्ति कहते हैं।

वस्तु बेचने वाला, समुद्र यात्रा करने वाला, भाट, तिलादि से तेल निकालने वाला और झूठी गवाही देने वाला त्याज्य है। १५७-१५८।

पित्रा विवदमानश्च कितवो मद्यपस्तथा।

पापरोग्यमिशस्तश्च दम्भिको रसविक्रयी ॥ १५९ ॥

धनुः शराणां कर्ता च यश्चग्रेदिधिषूपतिः।

मित्रधुग्धूतवृत्तिश्च पुत्राचार्यस्तथैव च ॥ १६० ॥

पिता के साथ वृथा विवाद करने वाला, जुआ खेलने वाला, शराबी महारोगी, महापापापवादयुक्त, दम्भिक और रसों को बेचने वाला, देवान्न श्राद्धात्र के लिए उपयुक्त नहीं है। धनुषबाण बनाने वाला, उस कन्या से व्याह करने वाला जिसकी बड़ी बहन कुंवारी हो, मित्रप्रोही, धूत (जुआ) वृत्ति से निर्वाह करने वाला, बेटे से वेद पढ़ने वाला श्राद्धादि कर्म में त्याज्य है। १५९-१६०।

भ्रामरी गण्डमाली च श्वित्र्यथो पिशनस्तथा।

उन्मत्तोऽन्धश्च वर्ण्याः स्युर्वेदनिन्दक एव च ॥ १६१ ॥

हस्तिगोऽश्वोष्ट्रदमको नक्षत्रैर्यश्च जीवति।

पक्षिणां पोषको यश्च युद्धाचार्यस्तथैव च ॥ १६२ ॥

जिसे मृगी, गण्डमाला, श्वेतकुष्ठ जैसे रोग हों, चुगली खाने वाला, पागल, अन्धा और वेदनिन्दक श्राद्ध में वर्जित है। हाथी, बैल, घोड़े और ऊँट को शिक्षा देने वाला, राशि नक्षत्र की गणना से जीवन निर्वाह करने वाला, पक्षियों को पोसने वाला और युद्ध सिखाने वाला श्राद्धादि में त्याज्य है। १६१-१६२।

स्त्रोतसां भेदको यश्च तेषां चावरणे रतः।

गृहसंवेशको दूतो वृक्षारोपक एव च ॥ १६३ ॥

श्वक्रीडी श्येनजीवी च कन्यादूषक एव च।

हिंस्रो वृषलवृत्तिश्च गणानां चैव याजकः ॥ १६४ ॥

नदी के बहाव को दूसरी ओर ले जाने वाला अथवा उसके प्रवाह को रोकने वाला, वास्तु विद्या से जीविका चलाने वाला, प्यादे का काम करने वाला और पेड़ रोपने वाला श्राद्धादि कर्म में त्याज्य है। कुत्ते के साथ क्रीड़ा करने वाला, बाज पक्षी द्वारा शिकार कर जीविका चलाने वाला, कन्या को

द्रष्टित करने वाला, हिंसास्त, शूद्र की वृत्ति वाला और विनायक आदि गणों के यज्ञ करने वाला ये सब श्राद्धादि कर्म में त्याज्य हैं। १६३-१६४।

आचारहीनः क्लीवश्च नित्यं याचनकस्तथा।

कृषिजीवी श्लीपदी च सदिभनिन्दित एव च॥ १६५॥

औरभ्रिकौ माहिषिकः परपूर्वापत्तिस्तथा।

प्रेतनिर्यातकश्चैव वर्जनीयाः प्रयत्नतः॥ १६६॥

पूज्य जनों के प्रति शिष्टाचार रहित और स्वधर्म पालन में कातर नित्य याचना करने वाला, खेती करके जीने वाला और पीलपाँव वाला, इन सबको पण्डितों ने श्राद्ध में निन्दित बताया है। भेड़ और भैंसों से जीविका चलाने वाला, विधवा से विवाह करने वाला और द्रव्य के लिए प्रेत का दाहादि कर्म करने वाला श्राद्ध में यत्न से त्याग देना चाहिए। १६५-१६६।

एतान्विगहिंताचारानपाङ्क्तेयान्द्विजाधमान् ।

द्विजातिप्रवरो विद्वानुभयत्र विवर्जयेत्॥ १६७॥

ब्राह्मणस्त्वनधीयानस्तृणाग्निरिव शाम्यति।

तस्मै हव्यं न दातव्यं न हि भस्मनि हूयते॥ १६८॥

इन निन्दित आचार वाले अपाँक्तैय (पंक्ति में न बैठाने योग्य) अधम ब्राह्मणों को देवकर्म और पितृकर्म दोनों में विद्वान त्याग दें। वेदाध्ययन से हीन ब्राह्मण तिनके की आग के समान निस्तेज होता है। उसको हव्य नहीं देना चाहिए, क्योंकि भस्म (राख) में होम नहीं किया जाता। १६७-१६८।

अपाङ्क्तदाने यो दातुर्भवत्यूर्ध्वं फलोदयः।

दैवेहविषि पित्र्ये वा तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ १६९॥

अवतैर्यद्विजैर्भक्तं परिवेत्त्रादिभिस्तथा।

अपाङ्क्तेर्यैर्यदन्यैश्च तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥ १७०॥

अपाँक्तैय ब्राह्मण को देवकर्म या श्राद्ध में भोजन करने का जो फल होता है वह सब मैं अब कहूँगा। ब्राह्मचर्य से हीन और परिवेत्ता आदि जितने अपाँक्तैय ब्राह्मण हैं, उनका किया हुआ भोजन राक्षस के पेट में चला जाता है। १६९-१७०।

दाराग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते ।

परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः ॥ १७१ ॥

परिवित्तिः परिवेत्ता यथा च परिवीद्यते ।

सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः ॥ १७२ ॥

बड़े भाई के रहते यदि छोटा भाई ब्याह कर ले और अग्निहोत्र की क्रिया करे तो वह परिवेत्ता और उसका बड़ा भाई परिवृत्ति कहा जाता है। परिवृत्ति, परिवेत्ता और जिस कन्या से इनका विवाह होता है, कन्यादान करने वाला और विवाह में होम करने वाला, ये पाँचों नरकगामी होते हैं। १७१-१७२।

धातुर्मृतस्य भार्यायां योऽनुरज्येत कागतः ।

धर्मेणापितयुक्तायां सज्ञेयो दिधिभूपतिः ॥ १७३ ॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ गुण्डगोलकौ ।

पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥ १७४ ॥

बड़े भाई के मरने पर उसकी स्त्री से धर्म पूर्वक नियोग करने पर यदि कामवश वह उस स्त्री में अनुक्त हो तो उसे दिधिभूषित कहते हैं। परस्त्रियों में कुण्ड और गोलक नामक दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। जिसका स्वामी जीता हो उस स्त्री में दूसरे पुरुष से जो पुत्र जन्म ग्रहण करता है उसे कुण्ड और पति के मरने पर जो अन्य पुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है उसे गोलक कहते हैं। १७३-१७४।

तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च ।

दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम् ॥ १७५ ॥

अपाङ्क्तयो यावतः पाङ्क्तयान्भुञ्जानाननुपश्यति ।

तावतां न फलं तत्र दाता प्राप्नोति बालिशः ॥ १७६ ॥

परस्त्रियों में उत्पन्न ये दोनों पुत्र (कुण्ड और गोलक) दाताओं के दिए हुए हव्य-कव्य को नष्ट करते हैं। इस लोक में या परलोक में कहीं भी दाता को फल नहीं मिलता। पांक्तेय ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजन करते समय जितने अपांक्तेय ब्राह्मणों की दृष्टि पड़ती है, श्राद्धकर्ता को उतने ब्राह्मणों को भोजन करने का फल नहीं मिलता। १७५-१७६।

वीक्ष्यान्धो नवतेः काणः षष्ठे शिवत्री शतस्यतु ।

पापरोगी सहस्रस्य दातुर्नाशयते फलम् ॥ १७७ ॥

यावतः संस्पृशेदङ्गैर्ब्राह्मणाञ्छूद्रयाजकः ।

तावतां न भवद्दातुः फलं दानस्य पौर्तिकम् ॥ १७८ ॥

श्राद्ध में भोजन करने वाला एक अन्धा ९० सद्ब्राह्मणों को, काना ६० ब्राह्मणों को, श्वेतकुष्ठ वाला १०० ब्राह्मणों को और पाप रोगी दाता के १०० ब्राह्मणों को खिलाने का फल नाश करता है । शूद्रों का यज्ञ कराने वाला विप्र जितने ब्राह्मणों को अपने शरीर से स्पर्श करता है उतने ब्राह्मणों को भोजन कराने का पूरा फल श्राद्धकर्ता को नहीं मिलता । १७७-१७८ ।

वेदविच्चापि विप्रोऽस्य लोभास्यकृत्वा प्रतिग्रहम् ।

विनाशं व्रजति क्षिप्रमामपात्रमिवाम्भसि ॥ १७९ ॥

सामविक्रयिणे विष्ठा भिषजे पूयशोणितम् ।

नष्टं देवलके दत्तमप्रतिष्ठं तु वर्धुषो ॥ १८० ॥

वेद जानने वाला ब्राह्मण यदि लोभ से शूद्र पुरोहित का दान ले ले तो वह पानी में डाले हुए मिट्टी के कच्चे घड़े की तरह शीघ्र नष्ट हो जाता है । सोमरस बेचने वाले को दिया हुआ श्राद्धान्न विष्ठा और वैद्य को दिया हुआ पीव-लहू होकर प्राप्त होता है । देवाँशभोजी को दिया हुआ स्वयं नष्ट हो जाता है और सूद खाने वाले को देने से कोई फल नहीं होता । १७९-१८० ।

यत्तु वाणिजके दत्तं नेह नातुत्र तदभवेत् ।

भस्मनीव हुतं हव्यं तथा पौनर्भवे द्विजे ॥ १८१ ॥

इतरेषु त्वपाङ्क्तयेषु यथोद्दिष्टेष्वसाधुषु ।

मेदोसृङ्मांसजास्थि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ १८२ ॥

वाणिकवृत्ति से जीने वाले को श्राद्धान्न खिलाने से इहलोक और परलोक दोनों में कुछ फल नहीं मिलता है । पुनर्विवाहिता स्त्री के पुत्र को दिया हुआ हव्य भी भस्म में डाली हुई आहुति तुल्य निष्फल होता है । अन्य अपाङ्क्तेय और नीच वृत्ति वाले ब्राह्मण त्याज्य कहे गए हैं, उन्हें श्राद्धादि में दिया हुआ अन्नदाता के जन्मान्तर में मेद, माँस, रक्त, मज्जा और हड्डी होता है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं । १८१-१८२ ।

अपांक्त्योपहता पंक्ति पाव्यते यैर्द्विजोत्तमैः ।

तन्निबोधत कात्स्न्येन द्विजाग्रयान्यङ्क्तिपावनम् ॥ १८३ ॥

अग्न्याः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च ।

श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः ॥ १८४ ॥

अपांक्तियों (जो पंक्ति में बैठने के योग्य नहीं हैं) से दूषित पंक्ति जिन श्रेष्ठ ब्राह्मणों से पवित्र होती है, उन पंक्तिपावन ब्राह्मणों का पूरा परिचय सुनिये। जो षडंग सहित चारों वेदों में अग्रगण्य हों, श्रोत्रिय के वंश में जिनका जन्म हो, उन्हें पंक्तिपावन जानना चाहिए। १८३-१८४।

त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निस्त्रिसुपर्णः षडङ्गवित् ।

ब्रह्मदेयात्मसंतानो ज्येष्ठसामग एव च ॥ १८५ ॥

वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः ।

शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः ॥ १८६ ॥

त्रिणाचिकेत (अर्थात् यजुर्वेद को पढ़कर उसमें कहे हुए व्रत को किया है) और अग्निहोत्री, त्रिसुपर्ण (ऋग्वेद का ज्ञाता या तदुक्त व्रत का व्रती), शिक्षा आदि छः अंगों का ज्ञाता तथा उसकी शिक्षा देने वाला ब्राह्म विवाह से विधिपूर्वक ब्याही हुई स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और अरण्यक उपनिषदों में पायमान सामवेद को गाने वाला ये छः पंक्तिपावन हैं। वेद का अर्थ जानने वाला, वेदवक्ता, ब्रह्मचारी, सहस्रों गौओं का दान करने वाला और सौ वर्ष का वृद्ध ब्राह्मण ये सभी पंक्तिपावन हैं। १८५-१८६।

पूर्वेष्टुरपरेष्टुर्वा श्राद्धकर्मण्युपस्थिते ।

निमन्त्रयेत् त्र्यवरान्सम्यग्विप्रान्यथोदितान् ॥ १८७ ॥

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।

न च छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवेत् ॥ १८८ ॥

श्राद्धकर्म उपस्थित होने पर श्राद्ध के पहले दिन या उसी दिन पूर्वोक्त लक्षणों युक्त तीन ब्राह्मणों को विनयपूर्वक निमन्त्रण दें। श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण (निमन्त्रण पाने के समय से) संयतेन्द्रिय होकर रहे। नित्य के कर्म जपादि के अतिरिक्त अन्य वेदपाद न करे। श्राद्धकर्त्ता भी इस नियम का पालन करे। १८७-१८८।

निमन्त्रिताहि पितर उपतिष्ठन्ति तान्द्विजान्।

वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ॥ १८९ ॥

केतितस्तु यथान्यायं हव्यकव्ये द्विजोत्तमः।

कथंचिदप्यतिक्रामन्यायः सूकरतां व्रजेत् ॥ १९० ॥

उन निमन्त्रित ब्राह्मणों में पितर गुप्त रूप से निवास करते हैं। प्राणवायु की भाँति उनके चलते समय वे चलते हैं और बैठते हैं। देवकर्म या पितृकर्म में निमन्त्रित ब्राह्मण निमन्त्रण स्वीकार करके किसी कारण से यदि भोजन न करें तो उस पाप से जन्मान्तर में वह सूअर होता है। १८९-१९०।

आमन्त्रितस्तु यः श्राद्धे वृषल्या सह मोदते।

दातुर्यददुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ १९१ ॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः।

न्यस्तशस्त्र महाभागः पितरः पूर्वदेवताः ॥ १९२ ॥

यदि श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मण शूद्रा के साथ विहार करता है, तो यह श्राद्धकर्ता के किए हुए सभी पापों को स्वयं भोगता है। क्रोधरहित, अन्तर्वहिः शुद्धि से युक्त, सर्वदा ब्रह्मचारी, न्यस्त शस्त्र इत्यादि गुणों से युक्त अनादि देवता रूप, पितर होते हैं। १९१-१९२।

यस्मादुत्पत्तिरेषां सर्वेषामप्यशेषतः।

ये च येरुपचर्या स्युर्नियमैस्तान्निबोधत ॥ १९३ ॥

मनोहैरण्यगर्भस्य ये मरीच्यादयः सुताः।

तेषामृषीणां सर्वेषां पुत्राः पितृगणाः स्मृताः ॥ १९४ ॥

जिसके द्वारा सब पितरों की उत्पत्ति हुई है, जो पितर हैं, निज नियमों से उनकी उपचर्या करनी चाहिए, यह सब विषय अब सुनिये। हिरण्यगर्भ के पुत्र मुनुजी के जो मरीचि आदि पुत्र हैं उन सब ऋषियों के पुत्र ही पितर कहे गये हैं। १९३-१९४।

विराट्नुताः सोमसदः साध्यानां पितरः स्मृताः।

अग्निष्वात्तश्च देवानां मरीचा लोकविश्रुताः ॥ १९५ ॥

दैत्यदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।

सुपर्णाकिन्नराणां ए स्मृता बर्हिषदोऽत्रिजाः ॥ १९६ ॥

विराट् के पुत्र सोमसद साध्यगण के पितर हैं। मरीचि के प्रसिद्ध पुत्र अग्निदाता देवताओं के पितर हैं। अत्रि के पुत्र वर्हिषद दैत्य, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, सुपर्ण और किन्नरों के पितर हैं। १९५-१९६।

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।

वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः॥ १९७॥

सोमपास्तु कयेः पुत्रा हविष्मन्तोऽङ्गिरः सुताः।

पुलस्त्यस्याज्यपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः॥ १९८॥

ब्राह्मणों के पितर सोमप, क्षत्रियों के हविष्मन्त, वैश्यों के आज्यस और शूद्रों के सुकालिन हैं। सोमप भृगु के, हविष्मन्त अंगिर के, आज्यप पुलस्त्य और सुकालिन वशिष्ठ के पुत्र हैं। १९७-१९८।

अग्निदग्धानग्निदग्धान्काव्यान्वर्हिषदस्तथा ।

अग्निष्वात्तांश्च सौम्यांश्च विप्राणामेव निर्दिशेत्॥ १९९॥

य एते तु गणा मुख्याः पितॄणां परिकीर्तिताः।

तेषामपीह विज्ञेयं पुत्रपौत्रमनन्तकम्॥ २००॥

अग्निदग्ध, अनग्निदग्ध, काव्य, वर्हिषद, अग्निष्वात्ता और सौम्य-ये ब्राह्मणों के पितर हैं। पितरों के जो इतने मुख्य गण हैं उनके भी असंख्य पुत्र-पौत्रादि हैं। १९९-२००।

ऋषिभ्यः पितरो जाता पितृभ्यो देवमानवाः।

देवेभ्यस्तु जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥ २०१॥

राजतैर्भाजनैरेषामयो वा राजतान्वितैः।

वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते॥ २०२॥

ऋषियों से पितर, पितरों से देवता और मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। देवताओं से ये सारा जगत् क्रम से उत्पन्न हुआ है। इन पितरों के चांदी के बर्तन में या चांदी ताँबे के पात्रों में श्रद्धा से दिया हुआ जल अक्षय सुख के लिए होता है। २०१-२०२।

देवकार्याद्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते।

दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्याननं श्रुतम्॥ २०३॥

तेषामारक्षभूतं तु पूर्वं दैव नियोजयेत्।

रक्षांसि हि विलुम्पन्ति श्राद्धमारक्षवर्जितम् ॥ २०४ ॥

द्विजातियों का देवकर्म से पितृकर्म विशेष है, क्योंकि देवकर्म पितृकर्म का ही सदा परिपूरक कहा गया है। इन पितरों के रक्षा स्वरूप देव कर्म (वैश्यदेव) पहले कर लें तब श्राद्ध करें, रक्षा रहित श्राद्ध को राक्षस लोप कर देते हैं। २०३-२०४।

दैवाद्यन्तं तदीहेत पित्राद्यन्तं न तदभवेत्।

पित्राद्यन्तं त्वीहमानः क्षिप्रं नश्यति सान्वयः ॥ २०५ ॥

शुचिं देश विविक्तं च गोमयेनोपलेपयेत्।

दक्षिणाप्रवणं चैव प्रयत्नेनोपपादयेत् ॥ २०६ ॥

श्राद्धकर्म का आदि और अन्त भी देवकर्म से ही करें, पित्राद्यन्त न करें। पित्राद्यन्त जो श्राद्ध करता है वह सर्वशः नष्ट होता है। श्राद्ध का स्थान पवित्र और निर्जन हो। उसको गोबर से लीपा-पोत दे। पिण्ड स्थान दक्षिण और ढालुआ हो, ऐसा बनाना चाहिए। २०५-२०६ ॥

अवकाशेषु चोक्षेषु नदीतीरेषु चैव हि।

विविक्तेषु च तुष्यन्ति दत्तेन पितरः सदा ॥ २०७ ॥

आसनेषूपकलृप्तेषु बहिष्मत्सु पृथक्पृथक्।

उपस्पृष्टोदकान्सम्यग्विप्रांस्तानुप वेशयेत् ॥ २०८ ॥

उपवन या वन की पवित्र भूमि में या नदी तट या निर्जन स्थान में पिण्डदान आदि से पितर सदा सन्तुष्ट होते हैं। सम्यक् इस प्रकार से आचमन किए हुए उन निमन्त्रित ब्राह्मणों को पृथक्-पृथक् कुशासन पर बैठाये। २०७-२०८।

उप वेश्य तु तान्विप्रानासनेष्वजु गुप्सितान्।

गन्धमाल्यैः सुरभिभिरर्चयेद्देवपूर्वम् ॥ २०९ ॥

तेषामुदकमानीय सपवित्रांस्तिलानपि।

अग्नौ कुर्यादनुज्ञातो ब्राह्मणो ब्राह्मणेः सहः ॥ २१० ॥

उन ब्राह्मणों को आसन पर बैठाकर चन्दन, माला और धूप आदि से

देयपूर्वक भोजन करे। (पहले वैश्वदेव निमित्तक, पीछे पितृनिमित्तक ब्राह्मण का)। उन ब्राह्मणों को तिल और कुश से अर्घ्य देकर उनसे आज्ञा लेकर, श्राद्धकर्त्ता अग्नि में मन्त्रपूर्वक होम करे। २०९-२१०।

अग्ने सोमयमाभ्यां च कृत्वाप्यायनमादितः।

हविर्दानेन विधिवन्यश्चातसंतर्षयेत्पितृन् ॥ २११ ॥

अग्न्यभावे तु विप्रस्य पाणावेवोपपादयेत्।

यो ह्यग्निः स द्विजो विप्रैर्मन्त्रदर्शिभरुच्यते ॥ २१२ ॥

पहले अग्नि, सोम और यम के निमित्त विधिपूर्वक पर्युक्षण करके हविष्य देकर पीछे पिण्डदानादि से पितरों को तृप्त करे। अग्नि के अभाव में ब्राह्मण के हाथ में ही पूर्वोक्त देवताओं के निमित्त आहुति दे। वेदमन्त्र के तत्त्वदर्शियों ने ब्राह्मण और अग्नि को ही कहा है।

अक्रोधनान्सुसादान्वदन्त्येपान्पुरातनान् ।

लोकस्याप्यायने युक्ताञ्छाद्देवान्द्रिजोत्तमान् ॥ २१३ ॥

अपसव्यमग्नौ कृत्वा सर्वमावृत्य विक्रमम्।

अपसव्येन हस्तेन निर्वपेदुदकं भुवि ॥ २१४ ॥

जो क्रोधरहित, प्रसन्नमुख और लोकोपकार में निरत हैं ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों को मुनियों ने श्राद्ध के लिए देवतुल्य कहा है। अपसव्य (जनेऊ को दाहिने कन्धे पर रखकर) (पितृकर्म के आरम्भ में देवताओं के निमित्त) अग्नि में होम करे, इसके बाद दाहिने हाथ में पिण्ड रखने की जगह में जल प्रक्षेप करे। २१३-२१४।

त्रींस्तु तस्माद्भाविः शेषात्पिण्डान्कृत्वा समाहितः।

ओदकेनैव विधिना निवपेदक्षिणामुखः ॥ २१५ ॥

न्युष्य पिणंस्ततस्तास्तु प्रयतो विधिपूर्वकम्।

तेषु दर्भेषु तं हस्तं निमृज्याल्लेपभागिनाम् ॥ २१६ ॥

इसके बाद एकाग्रचित्त होकर होम से बचे हुए अन्न के तीन पिण्ड बनाये। उन पिण्डों को उदक (जल) से विधिपूर्वक अभिषिक्त कर दक्षिण की ओर मुंह करके उन पिण्डों को उनके साथ में रखें। उन पिण्डों को विधिपूर्वक

कुशों पर रखकर कुशों के मूल में लेप भाग पितरों की तृप्ति के लिए अपना हाथ पोंछ लें। २१५-२१६।

आचम्योदक्परावृत्य त्रियायम्य शनैरसून।
षड्भ्रतूश्च नमस्कुर्यात्पितुनेव च मन्त्रवित्॥ २१७॥
उदकं निनयेच्छेषं शनैः पिण्डान्तिके पुनः।
अवजिघ्रेच्च तान्पिण्डान्यथान्युप्तान्समाहितः॥ २१८॥

इसके बाद आचमन कर उत्तराभिमुख तीन बार प्राणायाम करके छः ऋतुओं और पितरों को नमस्कार करे। (पिण्डदान से पहले भूमि पर जल छोड़ने के पश्चात) बचे हुए जल को पुनः प्रत्येक पिण्ड के समीप छोड़े और उन पिण्डों को जिस क्रम से जल दिया हो उसी क्रम से एक-एक को सूँघे। २१७-२१८।

पिण्डेभ्यस्त्वल्पिकां मात्रां समादायानुपूर्वशः।
तेनैव विप्रानासानान्विधिवत्पूर्वमाशयेत्॥ २१९॥
घ्रियमाणे तु पितरि पूर्वेषामेव निर्वपेत्।
विप्रदद्वापि तं श्राद्धे स्वकं पितरमाशयेत्॥ २२०॥

पिण्डान्न से थोड़ा-थोड़ा भाग लेकर, भोजन के पूर्व उन आमन्त्रित (पितृ-पितामह-प्रपितामह रूप) ब्राह्मणों को यथाक्रम खिलाये। यदि पिता जीवित हो तो पितामह पितरों को श्राद्ध करे और उन्हीं को पिण्ड दे और अपने जीवित पिता को ब्राह्मण के स्थान में भोजन कराए। २१९-२२०।

पिता यस्य निवृत्तः स्याज्जीवेच्यापि पितामहः।
पितुः स नाम संकीर्त्य कीर्तयेत्प्रपितामहम्॥ २२१॥
पितामहो वा ताच्छाब्दं भुज्जीतेत्यब्रवीन्मनुः।
कामं वा समनुज्ञातः स्वयमेव समाचरेत्॥ २२२॥

जिसका पिता मर गया हो और पितामह (बाबा) जीवित हो वह पितामह को छोड़कर पितामह और प्रपितामह का श्राद्ध करे। श्राद्ध में पिता को खिलाने की जो विधि कही गई है उसी विधि से पितामह जीता हो तो उसे भी खिलाए अथवा पितामह अपने लिए जो आज्ञा दे वही करे। २२१-२२२।

तेषां दत्त्वा तु हस्तेषु सपवित्रं तिलोदकम्।

तत्पिण्डाग्रं प्रयच्छेत् स्वधेषामस्त्विति ब्रुवन् ॥ २२३ ॥

पाणिभ्यां तूपसंगृह्य स्वयंमन्नस्य वर्धितम्।

विप्रान्तिके पितृभ्यादन्शनकैरुपनिक्षिपेत् ॥ २२४ ॥

उन ब्राह्मणों के हाथों में पवित्र कुश सहित तिलोदक देकर पूर्वोक्त पिण्डों में से थोड़ा उन्हें दे। भोजन की सामग्रियों से भरे पात्र तो दोनों हाथों से धीरे-धीरे लाकर पितरों का ध्यान करता हुआ ब्राह्मणों के समीप रखे। २२३-२२४।

उभयोर्हस्तयोर्मुक्तं

यदन्नमुपनीयते।

तद्विप्रलुम्पन्त्यसुराः सहसा दुष्टचेतसः ॥ २२५ ॥

गुणांश्च शूपशाकाद्यान्ययो दधि घृतं मधु।

विन्यसेत्प्रयतः पूर्वं भूमामेव समाहितः ॥ २२६ ॥

परोसने के लिए जो अन्न एक हाथ से लाया जाता है, उसे दुष्टबुद्धि रक्षस सहसा हरण कर लेते हैं। पहले अचार, चटनी, रायता आदि व्यंजन, सूप शाकादि यथा दूध, दही, घी और मधु आदि सब पदार्थ यत्नपूर्वक सावधानी से भूमि पर ही लाकर रखें। २२५-२२६।

भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च।

हृद्यानि चैव मांसानि पानानि सुरभीणि च ॥ २२७ ॥

उपनीय तु तत्सर्वं शनकैः सुसमाहितः।

परिवेषयेत् प्रयतो गुणान्सर्वान्प्रचोदयन् ॥ २२८ ॥

विविध प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, फल मूल, रोचक, मांस और सुगन्धित जलादि ये सब चीजें भी रखें। बड़ी सावधानी से भोजन की सब वस्तुएं लाकर उनके गुण वर्णन करते हुए परोसे। २२७-२२८।

नास्त्रुमापातयैजातु न कुप्येत्रानृतं वदेत्।

न पादेन स्पृशेदन्नं न चैतद्वधूनयेत् ॥ २२९ ॥

अस्त्रं गमयति प्रेतान्कोपोऽरीनृतं शुनः।

पादस्पर्शस्तु रक्षांसि दुष्कृतीनवधूननम् ॥ २३० ॥

ब्राह्मण भोजन के समय कदापि अस्त्र न गिराये, क्रोध न करे, झूठ न

बोले, पैर से अन्न को न छुए और उसे परोसते हुए न हिलाए। आँसू गिराने से श्राद्धान्न भूतों को, क्रोध करने से शत्रु को, झूठ बोलने से कुत्तों को, पैर छुआने से राक्षसों को और उछालने से पापियों को प्राप्त होता है। २२९-२३०।

यद्यद्रोचेत विप्रेभ्यस्तस्मिन्तद्दद्यादमत्सरः।

ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥ २३१ ॥

स्वाध्यायं श्रावयेत्पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि।

आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ २३२ ॥

ब्राह्मणों को जो वस्तु अच्छी लगे वह प्रसन्न होकर उन्हें दे। प्रमात्मा के सम्बन्ध की कथा-वार्ता करे। क्योंकि पितरों को यही कथा प्रिय लगती है। श्राद्ध में वेद, धर्मशास्त्र, आख्यान, इतिहास (महाभारत आदि), पुराण ब्रह्मपुराण आदि) और खिल (श्रीसुक्तादि) पितरों को सुनाए। २३१-२३२।

हर्षयेद् ब्राह्मणांस्तुष्टो भोजयेच्च शनैः शनैः।

अन्नाद्येनासकृच्चैतान्गुणैश्च परिचोदयेत् ॥ २३३ ॥

व्रतस्थमपि दौहित्रं श्राद्धे यत्नेन भोजयेत्।

कुतपं चासने दद्यात्तिलैश्च विकिरेन्महीम् ॥ २३४ ॥

प्रसन्न होकर ब्राह्मणों को हर्षित करें। उन्हें धीरे-धीरे भोजन कराए। खाद्य पदार्थों के गुणों का वर्णन करते हुए बार-बार उन्हें लेने के लिए आग्रह करे। यदि कन्या का पुत्र ब्रह्मचारी हो तो भी उसे श्राद्ध में यत्नपूर्वक भोजन कराए। और कमबल उन्हें बैठने के लिए दे और जिस स्थान पर श्राद्ध करना हो तो वहाँ तिलों को छिड़क दें। २३३-२३४।

त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतपस्तिलाः।

त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम ॥ २३५ ॥

अत्युष्ण सर्वमन्नं स्वाद्भञ्जीरंस्ते च वाग्मताः।

न च द्विजातयो ब्यूर्दात्रा पृष्ठा हविगुणान् ॥ २३६ ॥

दौहित्र, कुपुत^१ और तिल, ये तीनों श्राद्ध में पवित्र कहे गए हैं शौच

१. शीतातप के मत से "दिवसत्याष्टमे भागे मन्दी भगवति भास्करः।

सः कालः कुपती ज्ञेयः पितृणामन्न भक्षयम्।"

(पवित्रता), शान्तचित्तता तथा स्थिरता, इन तीनों की प्रशंसा की गई है। भोजन के सभी पदार्थों को खाये। श्राद्धकर्त्ता भोज्य वस्तुओं का गुण-दोष पूछे तो भी ब्राह्मण कुछ न बतलाये। २३५-२३६।

यावदुष्णं भवत्यन्नं यावदश्नन्ति वाग्मताः।

पितरस्तावदश्नन्ति यावन्नोक्ता हविर्गुणाः॥ २३७॥

यद्वेष्टितशिरा भुङ्क्ते यदभुङ्क्ते दक्षिणामुखः।

सोपानत्कश्च यदभुङ्क्ते तद्वै रक्षांसि भुञ्जते॥ २३८॥

जब तक अन्न गरम रहता है और ब्राह्मण मौन होकर भोजन करते हैं एवं जब तक भोज्य वस्तुओं के गुण नहीं बतलाते तब तक पितर भोजन करते हैं। सिर में पगड़ी बाँधकर या दक्षिण की ओर मुँह करके या खड़ाऊँ पहनकर जो भोजन किया जाता है वह राक्षस खा जाते हैं। २३७-२३८।

चाण्डालश्च वराहश्च कुक्कुटः श्वान तथैव च।

रजस्वला च षण्ढश्च नेक्षेत्रन्नश्नतो द्विजान्॥ २३९॥

होमे प्रदाने भोज्ये च यदेभिरभिवीक्ष्यते।

दैवे कर्मणि पित्र्ये वा तद्गच्छत्ययथातथम्॥ २४०॥

चाण्डाल, सुअर, मुर्गा, कुत्ता, रजस्वला स्त्री और नपुंसक-ये भोजन करते समय ब्राह्मणों को न देखें। होम, दान, ब्राह्मण भोजन, देवकर्म और पितृकर्म को यदि ये देख लें तो वह निष्फल हो जाता है। २३९-२४०।

घ्राणेन सूकरो हन्ति षक्षवातेन कुक्कुटः।

श्वा तु दृष्टिनिपातेन स्पर्शनावरवर्णजः॥ २४१॥

खञ्जो वा यदि वा काणो दातुः प्रेष्योऽपि वा भवेत्।

हीनातिरिक्तगात्रो वा तमप्यपनयेत्पुनः॥ २४२॥

सूअर के सूंघने से, मुर्गी के पंख की हवा लगने से, कुत्ता के देखने से और शूद्र के छूने से श्राद्धान्न निष्फल हो जाता है। लंगड़ा, काना, श्राद्धकर्त्ता का सेवक, हीनाँग, अधिकांग इन सबको श्राद्ध-स्थल से हटा दे। २४१-२४२।

ब्राह्मणं भिक्षुकं वापि भोजनार्थमुपस्थितम्।

ब्राह्मणैरम्यनुज्ञातः शक्तितः प्रतिपूजयेत्॥ २४३॥

सार्ववर्णिकमन्नाद्यं सत्रीयाप्लाव्य वारिणा।

समुत्सृजेदभुक्तावतामग्रतो विकिरन्भुवि ॥ २४४ ॥

ब्राह्मण या भिक्षुक कोई भोजनार्थ उपस्थित हो तो निमन्त्रित ब्राह्मणों से आदेश आने पर श्राद्धकर्ता उन्हें यथाशक्ति भोजन देकर सत्कार करे। सब प्रकार के भोजन के अन्नों को लाकर उन्हें जल से आप्लावित करके भोजन किए हुए ब्राह्मणों के आगे भूमि पर कुशों पर डाल दे। २४३-२४४।

असंस्कृतप्रमीतानां त्यागिनां कुलयोषिताम्।

उच्छिष्टं भागधेयं स्याद्दर्भेषु विकिरश्च यः ॥ २४५ ॥

उच्छेषणं भूमिगतमजिहस्याशठस्य च।

दासवस्य तत्पित्र्ये भागधेयं प्रचक्षते ॥ २४६ ॥

यह कुशों पर डाला हुआ अन्न दाह-संस्कार से हीन और कुलबन्धुओं को त्यागने वालों का भाग होता है। श्राद्ध में भूमि पर गिरा हुआ जूठा अन्न शील स्वभाव वाले दासवर्ग का भाग होता है, ऐसा ऋषियों ने कहा है। २४५-२४६।

आसपिण्डक्रियाकर्म द्विजातेः सस्थिवस्य तु।

अदैवं भोजयेच्छ्राद्धं पिण्डमेकं तु निर्वपेत् ॥ २४७ ॥

सहपिण्डक्रियायां तु कृतायामस्य धर्मतः।

अनयैवावृता कार्यं पिण्डनिर्वपणं सुतैः ॥ २४८ ॥

मृत द्विजाति का सपिंडीकरण श्राद्धपर्यन्त अर्थात् एदादिष्ट श्राद्ध में देवस्थान में ब्राह्मण न बैठकर केवल पितृस्थान में ब्राह्मण को भोजन कराके ही करना चाहिए और एक ही पिण्ड देना चाहिए। सपिण्डीकरण श्राद्ध कर चुकने पर अमावस्या में जो पार्वणश्राद्ध की विधि कही है, उसी विधि से क्षयाहादि में पुत्रों को पितृनिमित्त पिण्डदान करना चाहिए। २४७-२४८।

श्राद्धं भुक्त्वा य उच्छिष्टं वृषलाय प्रयच्छतिः।

स मूढो नरकं याति कालसूत्रभवाक्क्षिराः ॥ २४९ ॥

श्राद्धभुग्वृषलीतल्यं तदहर्योऽधिगच्छति।

तस्याः पुरीषे तन्मासं पितरस्तस्यशेरते ॥ २५० ॥

श्राद्धान्न खाकर जो ब्राह्मण शूद्र को उच्छिष्ट देता है, वह नीचे सिर, ऊपर टाँग करके कालसूत्र नामक नरक में जा गिरता है। श्राद्धान्न खाकर यदि ब्राह्मण उस दिन शूद्रा के साथ रमण करे तो उसके पितर एक मास तक इस स्त्री की विष्टा में वास करते हैं। २४९-२५०।

पृष्ट्वा स्वदितमित्येवं तृप्तानाचामयेत्ततः।

आचान्तांश्चानुजानीयादमितो रम्यतामिति ॥ २५१ ॥

स्वधास्त्वित्येव तं ब्रूयुर्ब्राह्मणास्तदनन्तरम्।

स्वधाकारः परा ह्याशीः सर्वेषु पितृकर्मसु ॥ २५२ ॥

भोजन से तृप्त हुए ब्राह्मणों से पूछे कि अच्छी तरह भोजन हुआ ? तब उनके मुखादि प्रक्षालन और आचमन कर चुकने पर उनसे विनय के साथ कहे कि अब आपकी जैसी इच्छा हो, यहाँ रहें, या अपने घर जायें। इसके अनन्तर ब्राह्मण उसे—“स्वधाअस्तु” ऐसा कहे, क्योंकि पितृ कर्मों में स्वधाकार सबसे श्रेष्ठ आशीर्वाद है। २५१-२५२।

ततो भुक्तवतां तेषामन्नशेषं निवेदयेत्।

यथा ब्रूयुस्तथा कुर्यादनुज्ञातस्ततो द्विजैः ॥ २५३ ॥

पित्र्ये स्वदितमित्येव वाच्यं गोष्ठे तु सुश्रुतम्।

संपन्नमित्यभ्युदये दैवे रुचितमित्यपि ॥ २५४ ॥

इसके बाद जो भोज्य-सामग्री बची हो वह भोजन किये उन ब्राह्मणों से निवेदन करे। वे उस अन्न के सम्बन्ध में जो करने को कहें वह करे। एकोद्दिष्ट श्राद्ध में “स्वहित” गोष्ठे श्राद्ध में “सुश्रुत”, आभ्युदयिक श्राद्ध में “सम्पन्न” और देवताप्रीत्यर्थ किए गए श्राद्ध में “रुचित” इस प्रकार तृप्ति का प्रश्न करे। २५३-२५४।

असराहस्तथा दर्भा वास्तुसम्पादनं तिलाः।

सृष्टिर्मृष्टिद्विजाश्चाग्रयाः श्राद्धकर्मसुसंपदः ॥ २५५ ॥

दर्भाः पवित्रं पूर्वाह्नी हविष्यामि च सर्वशः।

पवित्र यच्च पूर्वोक्तं विज्ञेया हव्यसम्पदः ॥ २५६ ॥

अपरान्ह, कुश, गाय के गोबर से श्राद्धस्थान का संशोधन, तिल,

उदास्तापूर्वक अन्न दान, भोज्य वस्तुओं का परिष्कार, पंक्ति-पावन (वेदाध्यायी) ब्राह्मण, यही सब श्राद्ध की सम्पत्ति है। कुश, मन्त्र, पूर्वान्ह, सब प्रकार के हविष्य और पूर्व श्लोक में जो सब पवित्र वस्तुएँ कही हैं यह सब हव्य-सम्पदा अर्थात् देव कर्म की सम्पत्ति हैं। २५५-२५६।

मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम्।

अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते॥ २५७॥

विसृज्य ब्राह्मणांस्तांस्तु नियतो वाग्यतः शुचि।

दक्षिणां दिशमाकाङ्क्षन्याचेतेमान्वरान्पितृन्॥ २५८॥

मुनियों के खाद्य-अन्न, दूध, सोमरस, अविकृत मांस और सेंधा नमक-ये स्वभाव से ही हवि कहे गए हैं। निमन्त्रित ब्राह्मणों को विदा कर एकाग्रचित्त, मौन और पवित्र होकर दक्षिण दिशा की ओर देखता हुआ पितरों से ये अभिलाषित वर माँगे। २५७-२५८।

दातारो नोऽभिवर्धन्तां वेदाः संततिरेव च।

श्रद्धा च नो माव्यगमद्बहुदेयं च नोऽस्विति॥ २५९॥

एवं निर्वपणं कृत्वा पिण्डांस्तांस्तदनन्तरम्।

गां विप्रमजमग्निं वा प्राशयेदप्सु वा क्षिपेत्॥ २६०॥

हमारे कुल में दाता पुरुषों की वृद्धि हो, यज्ञादिकों के अनुष्ठान से वेद की वृद्धि हो, पुत्र-पौत्रादि संतति की वृद्धि हो, वेद ब्राह्मणों के प्रति हमारी श्रद्धा न घटे और हमारे पास दातव्य अन्न-धन भी बहुत हो। इस प्रकार पिण्डदान करके वर माँगने के पश्चात् वे पिण्ड गौ या ब्राह्मण, या बकरे को खिलाये अथवा आग या पानी में डाल दे। २५९-२६०।

पिण्डनिर्वपणं केचित्प्रस्तादेव कुर्वन्ते।

क्योभिः खादयत्यन्ये प्रक्षिपन्त्यनलेऽप्सु वा॥ २६१॥

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा।

मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सन्यक्सुतार्थिनी॥ २६२॥

कोई आचार्य ब्राह्मण भोजन के बाद पिण्डदान करते हैं, कोई पिण्ड को पक्षियों को खिलाते हैं, कोई आग या पानी में डाल देते हैं। जो पतिव्रता

७ धर्मपत्नी पितरों की पूजा में तन मन से लगी हो और पुत्र की इच्छा रखती हो वह तीनों पिण्डों के बीच के (पितामह के निमित्त दिया हुआ) पिण्ड को खाय तो। २६१-२६२।

आयुष्मन्तं सुतं सूते यशोमेधासमन्वितम्।

धनवन्तं प्रजावन्तं सात्त्विकं धार्मिकं तथा॥ २६३॥

प्रक्षाल्य हस्तावाचम्य ज्ञातिप्रापं प्रकल्पयेत्।

ज्ञातिभ्यः सत्कृतं दत्त्वा बांधवानपि भोजयेत्॥ २६४॥

उस स्त्री को दीर्घजीवी, यशस्वी, बुद्धिमान, धनवान, प्रजावान, सत्वगुणी और धार्मिक पुत्र पैदा होता है। इसके बाद हाथ धो आचमन कर कुटुम्बियों को सादर भोजन करकर बान्धवों को भी खिलाये। २६३-२६४।

उच्छेषणं तु तत्तिष्ठेद्यावद्विप्रा विसर्जिताः।

ततो गृहबलिं कुर्यादिति धर्मो व्यवस्थितः॥ २६५॥

हविर्यच्चिररात्राय यच्चानन्त्याय कल्प्यते।

पितृभ्यो विधिवद्दत्तं तत्प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ २६६॥

जब तक ब्राह्मणों का विसर्जन न हो तब तक उनका जूठा न हटाना चाहिए। श्राद्ध-क्रिया सम्पन्न हो जाने पर बलिवैश्यदेव होम आदि नित्य कर्म करना चाहिए। पितरों को विधिवत् दिया हुआ हव्य जो उन्हें चिरकाल या अनन्त कार्य के लिए तृप्ति देने वाला होता है, वह सब कहता हूँ। २६५-२६६।

तिलैर्बर्हीहिर्यवैर्मापैरदिभर्मूलफलेन वा।

दत्तेन मासं तृष्यन्ति विधिवत्पितरो नृणाम्॥ २६७॥

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान्हरिणेन तु।

औरध्रेणाथ चतुर शाकुनेमाथ पञ्च वै॥ २६८॥

तिल, धान्य, यव, उर्दू-मूल और फल इसमें से कोई एक वस्तु विधिवत् देने से मनुष्य के पितर एक महीने तक तृप्त होते हैं। मछलियों के मांस से दो महीने, हिरण के मांस से तीन महीने, भेड़ के मांस से चार महीने और खाद्य पक्षी के मांस से पांच महीने तक पितरों की तृप्ति होती है। २६७-२६८।

षण्मासांच्छागमांसेन पार्श्वतेन च सप्तवै।

अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु॥ २६९॥

दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषैः।

शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव तु॥ २७०॥

बकरे के मांस से छः महीने पषत् (चित्र मृग) के मांस से सात महीने, एक जातिय हरिण के मांस से आठ महीने और रुरु नामक मृग के मांस से नौ महीने तक पितरों की तृप्ति होती है। जंगली सूअर और जंगली भैसे के मांस से दस मास, खरहे तथा कछुए के मांस से ग्यारह मास तक तृप्त रहते हैं। २६९-२७०।

संवत्सरं तु गव्येन पयासेन च।

वार्धीणस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशावार्षिकी॥ २७१॥

कालशाकं महाशल्काः खंगलोहामिषं मधु।

आनन्त्यायैव कल्पन्ते मुन्यन्नानि च सर्वशः॥ २७२॥

गाय के दूध अथवा पायस (खीर) से एक वर्ष तक और वार्धीणस (जल पीते समय जिस बकरे का कान जल में भीगे और श्वेत वर्ण का हो) के मांस से बारह वर्ष तक पितरों की तृप्ति होती है। कालशाक, महाशलक (मछली) गेंडे और लाल वर्ण के बकरे का मांस, शहद तथा नीवार आदि इन सबसे पितरों को अनन्त काल तक तृप्ति होती है। २७१-२७२।

यत्किञ्जिन्मधुना मिश्रं पदद्यात्तु त्रयोदशीम्।

तदप्यक्षयमेव स्याद्वर्षासु च मघासु च॥ २७३॥

अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात्त्रयोदशीम्।

पायसं मधुसर्पिभ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च॥ २७४॥

वर्षा ऋतु की मघा नक्षत्रयुक्त त्रयोदशी तिथि में मधु से मिला हुआ जो कुछ पितरों को दिया जाता है वह भी अक्षय होता है। पितर यह आशा करते हैं कि हमारे कुल में कोई ऐसा जन्म ले जो हम लोगों को त्रयोदशी तिथि में या ऐसे समय में जब हाथी की छाया पूर्व दिशा में हो, मधु और घृत से मिला हुआ पावस (गोदुग्ध की खीर) दे। २७३-२७४।

यद्यददाति विधिवत्सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।

तत्तत्पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ २७५ ॥

कृष्णपक्षे दशम्यादौ वर्जयित्वा चतुर्दशीम् ।

श्राद्धे प्रशस्तास्थितयो यथैता न तथेतराः ॥ २७६ ॥

श्रद्धा सहित विधिपूर्वक सम्यक् प्रकार से जो पितरों को दिया जाता है, वह परलोक्त में उनकी तृप्ति के लिए सदा अक्षय होता है। कृष्ण पक्ष की दशमी से लेकर अमावस्या पर्यन्त तिथियों में चतुर्दशी को छोड़ शेष तिथियाँ श्राद्ध के लिए जैसी श्रेष्ठ हैं वैसी और तिथियाँ नहीं हैं। २७५-२७६ ।

युक्षु कुर्वन्दिनर्क्षेषु सर्वान्कामान्समश्नुते ।

अयुक्षु तु पितृन्सर्वान्प्रजां प्राप्नोति पुष्कलाम् ॥ २७७ ॥

तथा चैवापरः पक्षः पूर्वपक्षाद्विशिष्यते ।

तथा श्राद्धस्य पूर्वाह्णदापराह्ण विशिष्यते ॥ २७८ ॥

युग्म (सम) तिथि और नक्षत्र में श्राद्ध करने से सम्पूर्ण कामनायें सिद्ध होती हैं। विषम तिथि और नक्षत्र में श्राद्ध करने से धन, विद्या से परिपूर्ण सन्तानें प्राप्त होती हैं। श्राद्ध में जैसे पूर्व (शुक्ल) पक्ष से अपर (कृष्ण) पक्ष विशेष है वैसे ही पूर्वाह्ण की अपेक्षा अपराह्ण विशेष है। २७७-२७८ ।

प्राचीनावीतिना सम्यगपसव्यमतन्द्रिणा ।

पित्र्यमानिधनात्कार्यं विधिवद्दर्भपाणिना ॥ २७९ ॥

रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत राक्षसी कीर्तिता हि सा ।

संध्ययोरुभयोश्चैव सूर्ये चैवाचिरोदते ॥ २८० ॥

दाहिने कन्धे पर जनेऊ रख (अपसव्य होकर) आलस्य रहित हो हाथ में कुशा लेकर शास्त्रोक्त विधि से जब तक जिए पितृकर्म करे। रात में श्राद्ध न करे, क्योंकि रात राक्षसी कही गई है। दोनों समय (प्रातः सायंकाल) में श्राद्ध न करे और सूर्योदय समकाल में न करे। २७९-२८० ।

अनेन विधिना श्राद्धं त्रिरब्दस्येह निर्वपेत् ।

हेमन्तग्रीष्मवर्षासु पाञ्चयज्ञिकमन्वहम् ॥ २८१ ॥

न पैतृयज्ञियो होमो लोकि केऽग्नौ विधीयते ।

न दर्शन विना श्राद्धमाहिताग्नेर्द्विजन्मनः ॥ २८२ ॥

इस प्रकार वर्ष में तीन बार अर्थात् हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा में श्राद्ध अवश्य करना चाहिए और पंच महायज्ञान्तर्गत श्राद्ध तो नित्य ही करे। पितृयज्ञीय होम लौकिक अग्नि में नहीं करना चाहिए। श्वादृताग्नि द्विज को अमावस्या तिथि के अतिरिक्त अन्य तिथि में श्राद्ध नहीं करना चाहिए। २८१-२८२।

यदेव तर्पयत्यदिभः पितृन्नात्वा द्विजोत्तमः ।

तथैव कृत्स्नमाप्नोति पितृयज्ञक्रियाफलम् ॥ २८३ ॥

वसून्वदन्ति तु पितृन्द्रांश्चैव पितामहान् ।

प्रपितामहांस्तथादित्याञ्छु तिरेषा सनातनो ॥ २८४ ॥

ब्राह्मण स्नान करके जो जल से पितृतर्पण करता है, उसी से वह नित्य श्राद्ध क्रिया का फल पाता है। ऋषियों ने पिता को वसु और पितामह को रुद्र और प्रपितामह को आदित्य कहा है (इसीलिए पितरों का ध्यान देवता रूप में करे) यह सनातन श्रुति है। २८३-२८४।

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वामृतभोजनः ।

विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ॥ २८५ ॥

एतद्वोऽभिहित सर्वं विधानं पाञ्चयज्ञिकम् ।

द्विजातिमुख्यवृत्तीनां विधानं श्रूयतामिति ॥ २८६ ॥

नित्य विघसाशी हो या नित्य अमृत भोजी हो, अतिथि ब्राह्मणों को खिलाकर जो अन्न बचे उसे विघस कहते हैं और यज्ञावशिष्ट अन्न को अमृत कहते हैं। यह पंचयज्ञ सम्बन्धी सारा विधान आप लोगों से कहा, अब ब्राह्मणों की वृत्ति का विधान सुनिए। २८५-२८६।

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥



चौथा अध्याय

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १ ॥
अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि ॥ २ ॥

ब्राह्मण अपने आयुष्य के पहले, चौथे हिस्से को गुरु के आश्रम में रहकर बिताये। (सौ वर्ष आयु के) जीवन का दूसरा हिस्सा विवाह करके गृह में व्यतीत करे। ब्राह्मण किसी को बिना कष्ट पहुँचाए अथवा दूसरे को थोड़ा कष्ट देकर (अर्थात् याचना वृत्ति से) निरपद जीवन निर्वाह करे। १-२।

यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थ सर्वैः कर्मभिरगहितैः ।
अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयम् ॥ ३ ॥
ऋतामृताभ्यां जीवेत्त मृतेन प्रमृतेन वा ।
सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन ॥ ४ ॥

विहित कर्मों द्वारा, शरीर को कष्ट न देकर, केवल प्राण रक्षा के निमित्त धन-धान्य का संग्रह करे। ब्राह्मण ऋत या अमृत सत्य या असत्य से जीवन निर्वाह करे परन्तु कुत्ते की वृत्ति का अवलम्बन कभी न करे। ३-४।

ऋतुमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् ॥ ५ ॥

शिलोच्छ्वत्ति खेत में गिरे हुए धान को चुनकर खाने को कहते हैं।

सत्यानृतं तु वाणिज्यं तेन चैवापि जीव्यते।

सेवा श्ववृत्तिराख्याता तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ ६ ॥

प्राप्त अन्न को शिलोंछ वृत्ति से ऋत, बिना माँगे जो मिले उसे अमृत, याचना करने से जो मिले मृत और कृषिकर्म से जो मिले उसे प्रमृत कहते हैं। सत्यानृत वाणिज्य को कहते हैं, इससे भी जीवन निर्वाह करे। सेवा कुत्ते की वृत्ति को कहते हैं। इसलिए इस वृत्ति को नहीं करना चाहिए। ५-६।

कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।

त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥ ७ ॥

चतुर्णामपि चैतेषां द्विजानां गृहमेधिनाम्।

ज्यायान्यरः षरो ज्ञेयो धर्मतो लोकजित्तमः॥ ८ ॥

कुसूलधान्यक (अर्थात् इतना अन्न इकट्ठा करे जिससे तीन वर्ष या उससे भी अधिक समय तक घर का खर्च चल सके) अथवा कुम्भीधान्यक (अर्थात् एक साल के खर्च योग्य अन्न संचित करे) अथवा त्र्यहैहिक (अर्थात् तीन दिन योग्य अन्न संचित करे) अश्वस्तनिक (अर्थात् उतना ही अन्न संग्रह करे जो अगले दिन के लिए न बचे) गृहस्थ होना चाहिए। इन चारों प्रकार के गृहस्थ ब्राह्मणों में एक दूसरे से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं, श्रेष्ठ गृहस्थ स्वर्गादि लोकों में जीतने वाला होता है। ७-८।

षट्कर्मैको भवत्येषां त्रिभिरन्यः प्रवर्तते।

द्विभ्योमेकश्चतुर्थस्ते ब्रह्मसत्रेण जीवति॥ ९ ॥

वर्तयंश्च शिलोज्छाभ्यामग्निहोत्रपरायणः।

इष्टीः पार्यायनान्तीयाः केवला निर्वपेत्सदा॥ १० ॥

इन चारों प्रकार के गृहस्थों में एक षट्कर्मों होता है अर्थात् ऋतु, आर्याचित, याचित, वाणिज्य और ब्याज, इन छहों कर्मों से जीता है। अन्य तीन कर्मों से (अर्थात् याजन-अध्यापन और दान लेने से और एक (याजन-अध्यापन से) तथा चौथा ब्राह्मण वेदाध्ययन से ही जीता है। शिलोंछवृत्ति से निर्वाह करता हुआ अग्निहोत्र करे। अमावस्या, पूर्णिमा तथा अयनी के अन्त में होने वाले इष्टी नामक यज्ञ को सदा करे। ९-१०।

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथंचन।

अजिह्वामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मणजीविकाम॥ ११॥

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।

संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः॥ १२॥

जीविका के लिए अन्य लोगों की भाँति छल-प्रपंच आदि नीच वृत्ति का अवलम्बन न करे। झूठी आत्म-प्रशंसा और दम्भ-कपट आदि त्यागकर ब्राह्मण की जो शुद्ध जीविका हो उसी से जिए। सुख की इच्छा से परम सन्तोष धारण कर मन को किसी ओर बहकने न दे, क्योंकि सन्तोष सुख का और असन्तोष दुःख का मूल है। ११-१२।

अतोऽन्यततमया वृत्त्या तीव्रंस्तु स्नातको द्विजः।

स्वर्गापुष्ययशस्यानि व्रतानिमानि धारयेत्॥ १३॥

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्दिरतः।

तद्वि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्॥ १४॥

गृहस्थ ब्राह्मणों को पूर्वोक्त वृत्तियों में से किसी एक वृत्ति के आश्रय से अपनी जीविका को चलाते हुए स्वर्ग, आयु और यज्ञ को देने वाले आगे कहे व्रतों का पालन करे। आलस्य को छोड़कर नित्य अपने वेदोक्त कर्म को करे, क्योंकि यह यथाशक्ति करने से कर्म करने वाला परम गति को पाता है। १३-१४।

नेहेतार्थान्प्रसङ्गेन न विरुद्धेन कर्मणा।

न विद्यमानेष्वर्थेषु नात्यामपि यतस्ततः॥ १५॥

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः।

अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्तयेत्॥ १६॥

गाने-बजाने की वृत्ति से या शास्त्र विरुद्ध कर्म से धन प्राप्त न करे। पास में धन हो या न हो विपत्ति में जिस-तिस से अर्थात् पतितों से द्रव्य न ले। इन्द्रियों के सभी नियमों की (रूप, रस, गन्ध आदि जो पांच) उपभोग बुद्धि में उनमें आसक्त न हो। विषयों को अनित्य जान इनकी अत्यासक्ति को मन से रोके। १५-१६।

सर्वान्परित्यजेदर्थान्स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।

यथातथाध्यापयन्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १७ ॥

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।

वेषवारबुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह ॥ १८ ॥

वेद विरुद्ध सभी प्रकार के अर्थों का त्याग कर जिस प्रकार हो वेद पढ़ता हुआ परिवार के साथ अपनी जीविका चलाए। गृहस्थ ब्राह्मण की सार्थकता इसी में है। अवस्था क्रिया, धन, विद्या और कुल इनके अनुरूप वेष, वचन और बुद्धि रखता हुआ संसार में रहे। १७-१८।

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान् ॥ १९ ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।

तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ २० ॥

बुद्धि को बढ़ाने वाला और धन तथा आरोग्य की शिक्षा देने वाला शास्त्रों का नित्य अध्ययन करे और वेदार्थ के प्रतिपादक निगम ग्रन्थों को भी पढ़े। पुरुष जैसे-जैसे शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन करता है, वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता है और विज्ञान उज्ज्वल होता है। १९-२०।

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।

नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ २१ ॥

एतानेके महायज्ञान्यज्ञशास्त्रविदो जनाः ।

अनीहमानाः सततमिन्द्रियेष्वेव जुह्वति ॥ २२ ॥

ऋषियज्ञ (वेदाध्ययन), देवयज्ञ (होम), भूतयज्ञ (बलि), नृयज्ञ (अतिथि सेवा) और पितृयज्ञ (तर्पण) इनका यथाशक्ति त्याग न करे। यज्ञशास्त्र के जानने वाले इन महायज्ञों को न करते हुए सदा ज्ञानेन्द्रियों में विषयों का हवन करके इन यज्ञों का सम्पादन करते हैं। २१-२२।

वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा ।

वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम् ॥ २३ ॥

ज्ञानेनैवापरे विप्रा यजन्त्येतैर्मखै सदा ।

ज्ञानमूमां क्रियामेषां पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषा ॥ २४ ॥

वाणी और प्राण में यज्ञ का अक्षय फल देखकर सदा वाणी में प्राण और प्राण में वाणी का हवन करते हैं अर्थात् प्राण और वचन दोनों को अपने अधीन कर लेते हैं। अन्य ज्ञानी ब्राह्मण ज्ञान चक्षु से इन यज्ञों की क्रिया को ज्ञानमूलक जानकर ज्ञान से ही इन पंचमहायज्ञों के फलभागी होते हैं। २३-२४।

अग्निहोत्रं च जुहुयादाद्यन्ते द्युनिशोः सदा।

दर्शेन चार्धमासन्ते पौर्णमासेन चैव हि॥ २५॥

सस्यान्ते नवसस्येष्टया तथर्त्वन्ते द्विजोऽध्वरैः।

पशुना स्वयनस्यादौ समान्ते सौमिकैर्मखैः॥ २६॥

दिन-रात के आदि-अन्त में सर्वदा अग्निहोत्र करे तथा अमावस्या और पूर्णिमा को दर्श और पौर्णमास यज्ञ करे। धान की समाप्ति होने पर नए अन्न से यज्ञ करे। अयन के (दक्षिणायन और उत्तरायण के) आरम्भ में पशु के द्वारा यज्ञ करे तथा वर्ष के अन्त में (चैत्रशुक्ल प्रतिपदा से) सौमिक अर्थात् सोमरस प्रधान अग्निष्ठोम आदि यज्ञ करे। २५-२६।

नानिष्ट्वा नवसस्येष्टया पशुना चाग्निमान्द्विजः।

नवान्नमद्याग्मांसं च दीर्घमायुर्जिजीविषुः॥ २७॥

नवेनानर्चिता ह्यस्य पशुहव्येन चाग्नयः।

प्राणानेवात्तुमिच्छन्ति नवन्नामिषगंधिनः॥ २८॥

दीर्घ आयुष्य की इच्छा वाला अग्निहोत्री ब्राह्मण, आग्रयणेष्टि पशु यज्ञ किये बिना नवान्न और मांस न खाय। नये अन्न और मांस के अभिलाषी अग्निदेव नवान्न और पशु से पूजित न होने पर अर्थात् उन दोनों वस्तुओं की आहुति न पाने पर अग्निहोत्री के ही प्राण को लेना चाहते हैं। २७-२८।

आसनाशनशय्याभिरदिभर्मूपफलेन वा।

नास्य कश्चिद्वसेद्गृहे शक्तियोऽनर्चितोऽतिथिः॥ २९॥

पाषण्डिनो विकर्मस्थान्वैडालव्रतिकांछठाः।

हेतुकान्वकवृत्तीश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥ ३०॥

गृहस्थ को अपने घर में शक्ति के अनुसार कोई भी अतिथि आसन, भोजन, शय्या और कन्दमूल फल जल से अतिथि सत्कार हुए बिना न रहे। पाखंडी, निषिद्ध कर्म करने वाले, वैद्यलवृत्तिक (धार्मिक बनने वाले, लोभी, कपटी, दम्भ और हिंसा की वृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाले) शठ (गुरु, देवता और शास्त्रों में जिनकी श्रद्धा न हो), हैतुक (वेद के विरुद्ध तर्क करने वाला) और वक्त्रतो (नीचे दृष्टि रखते हुए अपने स्वार्थ को सिद्ध करने वाले और झूठी ही विनयशीलता से जीवन निर्वाह करने वाले) ये लोग यदि अतिथि रूप में घर पर आयें तो वचन से भी उनका सत्कार न करे। २९-३०।

वेदविद्याव्रतस्नातान्श्रोत्रियान्गृहमेधिनः ।

पूजयेद्धव्यकव्येन विपरीतांश्च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

शक्तितोऽपचमानेभ्यो दातव्यं गृहमेधिना।

संविभागश्च भूतेभ्यः कर्तव्योऽनुपरोधतः ॥ ३२ ॥

वेदविद्या स्नातक, व्रतस्नातक या विद्याव्रत स्नातक वैदिक गृहस्थ ब्राह्मण के घर आने पर हव्य-कव्य से उनकी पूजा करे और जो इनके विपरीत हों उन्हें न पूजे। जो संन्यासी या ब्रह्मचारी स्वयं भोजन न बना सकें उन्हें गृहस्थ यथाशक्ति अन्न दे। कुटुम्ब के लोकों को तथा अन्य प्राणियों को भी कष्ट दिए बिना ही यथाशक्ति अन्न-जल का भाग देना चाहिए। ३१-३२।

राजतो धनमन्विच्छेत्संसीदन्स्नातकः क्षुधा।

याज्यान्तेवासिनोर्यापि व त्वन्यत इति स्थितिः ॥ ३३ ॥

न सीदेत्स्नातको विप्रः क्षुधा शक्तः कथंचन।

न तीर्णमलवद्वासा भवेच्च विभवे मतिः ॥ ३४ ॥

अन्न भाग से कष्ट उपस्थित होने पर गृहस्थ ब्राह्मण पहले राजा से यजमान से तथा विद्यार्थियों से भी द्रव्य की अभिलाषा प्रकट करे, परन्तु दूसरे से कुछ न माँगे यही शास्त्र की मर्यादा है। विद्वान् स्नातक ब्राह्मण दान लेने में समर्थ होते हुए पूर्वोक्त राजा आदि से दान प्राप्त होने पर उसका त्याग कर भूखों न मरे। धन मिलने पर मैले फटे पुराने वस्त्रों को धारण न करे। ३३-३४।

कलृप्तकेशनखश्मश्रुर्दान्तः शुक्लाम्बरः शुचि।

स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्नित्यमात्महितेषु च॥ ३५॥

वैष्णवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।

यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रीकमे च कुण्डले॥ ३६॥

ब्राह्मण को केश, नख और दाढ़ी मुड़ाकर साफ रहना चाहिए। दन्त और स्वच्छ वस्त्र धारण करे। पवित्रात्मा हो और तपस्या के क्लेश को सहते हुए वेद का नित्य अध्ययन करे तथा अपने कल्याण का सदा ध्यान रखे। बांस का डंडा, सजल कमंडलु, यज्ञोपवीत, वेद और हाथ में कुश दो सुन्दर सोने के कुण्डल धारण करे। ३५-३६।

नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तयन्तं कदाचन।

नोपसृष्टं च वारिस्थं न मध्यं न भसो गतम्॥ ३७॥

न लङ्घयेद्वत्सतन्त्रीं न प्रधावेच्च वर्षति।

न चोदके निरीक्षेत स्वं रूपमिति धारणा॥ ३८॥

उदय और अस्तकाल में, ग्रहण के समय, जल में प्रतिबिम्ब और आकाश के मध्य भाग में सूर्य को न देखे। बछड़ा बाँधने की रस्सी को न लांघे, बरसते समय न दौड़े और न अपनी परछाई देखे यह शास्त्र का निश्चय है। ३७-३८।

मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम्।

प्रदक्षिणानि कुर्वीत प्रज्ञातांश्च वनस्पतीन्॥ ३९॥

नोपगच्छेत्प्रमत्तोऽपि स्त्रियमार्तवदर्शने।

समानशयने चैव न शयीत तथा सह॥ ४०॥

बाहर जाते हुए मिट्टी का ढेर, गाय, देवमूर्ति, ब्राह्मण, घी, मधु, चौरहा बड़े-बड़े प्रसिद्ध वृक्ष-इन सबको मार्ग में अपने दाहिने करके चले। कामासक्त होने पर भी रजोदर्शन में (पहले चार दिन) स्त्री से प्रसंग न करे। और न उसके साथ एक बिछौने पर सोए। ३९-४०।

रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः।

प्रज्ञा तेजो बलं च भुरायुश्चैव प्रहीयते॥ ४१॥

तां विवर्जयतस्तस्व रजसा समभिप्नुताम्।

प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रवर्धते ॥ ४२ ॥

क्योंकि रजस्वला स्त्री के साथ प्रसंग करने वाले पुरुष की बुद्धि, बल, दृष्टि और आयु क्षीण होती है। जो पुरुष रजस्वला स्त्री का स्पर्श नहीं करते उनका प्रज्ञा, तेज, बल, दृष्टि और आयु की वृद्धि होती है। ४१-४२।

ताश्नीयाद्भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्।

क्षुवर्ती जृम्भमाणां वा न चासीनां यथासुखम् ॥ ४३ ॥

नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम्।

न पश्येत्प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

स्त्री के साथ न खाये भोजन करती हुई छींकती हुई जम्भाई लेती हुई या एकान्त में स्वच्छन्द बैठी हुई स्त्री को न देखे। अपनी आँखों में काजल दे रही हो या उबटन लगा रही हो, या खुले अंग बैठी हो, अथवा सन्तान जनती हुई स्त्री को तेज चाहने वाला द्विजोत्तम न देखे। ४३-४४।

नान्नमद्यादेकवासा न नग्नः स्नानमाचरेत्।

न मूत्रं पथि कुर्वीत न भस्मनि न गोव्रजे ॥ ४५ ॥

न फालकृष्टे न जले न चित्यां न च पर्वते।

न जीर्णदेवायतने न वल्मीके कदाचन ॥ ४६ ॥

एक ही वस्त्र पहनकर भोजन न करे। नग्न होकर स्नान न करे। रास्ते में राख के ढेर में या गोशाला में मलमूत्र न करे। जुते हुए खेत में, पानी में, ईंट के भट्टे पर, पहाड़ पर, पुगने देव मन्दिर में और वाल्मीकि (विमोट) पर कभी मलमूत्र न करे। ४५-४६।

न ससत्त्वेषु गर्तेशु न गच्छन्नापि च स्थितः।

न नदीनीरमासाद्य न च पर्वतमस्तके ॥ ४७ ॥

वाय्वग्निविप्रमादित्यमपः पश्यंस्तस्थैव गाः।

न कदाचन कुर्वीत विण्मूत्रस्य विसर्जनम् ॥ ४८ ॥

जो गड्ढे जीवों से युक्त हों, उनमें चलते-चलते या खड़े होकर नदी के तट पर या पहाड़ की चोटी पर मूत्रमूत्र न करे। वायु जिस ओर बहती हो

उस ओर मुंह करके तथा अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल और गाय को देखता हुआ कदापि मल-मूत्र न करे। ४७-४८।

तिरस्कृत्योच्चरेत्काष्ठलोष्ठपत्रतृणादिना ।

नियम्य प्रयतो वाचं संवीतांगोऽवगुण्ठितः ॥ ४९ ॥

मूत्रोच्चारसमुत्सर्गं दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ।

दक्षिणाभिमुखो रात्रौ संध्ययाश्च तथा दिवा ॥ ५० ॥

सूखी लकड़ी, पत्ते, तृण, मिट्टी आदि से भूमि को ढककर वस्त्र से शरीर को ढककर, सिर में कपड़ा लपेटकर, मौन धारण कर, स्थिर चित्त से मल-मूत्र का त्याग करे। दिन में उत्तर और रात में दक्षिण में मल-मूत्र का त्याग करे। प्रातःकाल और सायंकाल में दिन की ही तरह करे। ४९-५०।

छायायामन्धकारे वा रात्रावहनि वा द्विजः ।

यथासुखमुखः कुर्यात्प्राणबाधाभयेषु च ॥ ५१ ॥

प्रत्यग्निं प्रतिसूयं च प्रतिसोमोदकद्विजान् ।

प्रतिगां प्रतिवातं च प्रजा नश्यति मेहतः ॥ ५२ ॥

रात हो या दिन छाया में, या अन्धेरे में या जहाँ प्राण पर बाधा आ पड़ने का भय हो वहाँ ब्राह्मण जिधर चाहें मुख करके मल-मूत्र का त्याग करें। अग्नि, सूर्य, चन्द्र, जलाशय, ब्राह्मण, गाय और वायु इनके सामने मुख करके मलमूत्र करने से बुद्धि नष्ट होती है। ५१-५२।

नाग्निं मुखेनोपधमेन्नानां नेक्षेत च स्त्रियम् ।

नामेध्यं प्रतिषेदग्नौ न च पादौ प्रतापयेत् ॥ ५३ ॥

अधस्तान्नोपदध्याच्चा न चैनमभिलंघयेत् ।

न चैनं षादतः कुर्यान्न प्राणवाधमाचरेत् ॥ ५४ ॥

आग को मुंह से न फूँके, नग्न स्त्री को न देखे, आग में अपवित्र वस्तु न डाले और पैर को अग्नि के ऊपर उठाकर न सेके। चारपाई के नीचे आग न रखे, आग को लाँघकर न जाय, पायताने में आग न रखे और जिससे प्राणपर संकट आवे ऐसा कोई काम न करे। ५३-५४।

नाशनीयात्संधिवेलायां न गच्छेन्नापि संविशेत् ।

न चैव प्रखिलेद्भूमिं नात्मनोपहरेत्स्त्रजम् ॥ ५५ ॥

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं समुत्सृजेत् ।

अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ॥ ५६ ॥

सायंकाल में भोजन, ग्रामान्तर की यात्रा और शयन न करना चाहिए । भूमि पर रेखा न लिखे, धारण की हुई माला को अपने गले से न उतारे । पानी में मलमूत्र त्याग न करे, थूके नहीं अथवा अन्य दूषित पदार्थ रक्त मांस या विष आदि न डाले । ५५-५६ ।

नैकः सुप्याच्छून्यगेहे श्रेयांसं न प्रबोधयेत् ।

नोदक्ययाभिभाषेत यज्ञं गच्छेन्न चावृतः ॥ ५७ ॥

अग्न्यागरे गवां गोष्ठे ब्राह्मणानां च सन्निधौ ।

स्वाध्याये भोजने चैव दक्षिणं पाणिमुद्धरेत् ॥ ५८ ॥

सूने घर में अकेला न सोवे, अपने से श्रेष्ठ पुरुष सोए हों तो उन्हें न जगावे, रजस्वला स्त्री से संभाषण न करे, बिना आमन्त्रण के यज्ञ में न जाए । अग्निशाला में, गौशाला में, ब्राह्मणों के समीप में और वेद पढ़ने तथा भोजन करने के समय में दाहिना हाथ बाहर कर ले । ५७-५८ ।

न वारयेद्गां धयन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित् ।

न दिवीन्द्रायुधं दृष्ट्वा कस्यचिद्दर्शयेद्बुधः ॥ ५९ ॥

नाधार्मिके वसेद्ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम् ।

नैकः प्रपद्येताध्यानं न चिरं पर्वते वसेत् ॥ ६० ॥

पानी पीती हुई गौ को न रोके और दूसरे का दाना घास खाती हो तो उससे न कहे । आकाश में इन्द्र धनुष देखकर औरों को वह इन्द्रधनुष न दिखावे । जिस गाँव में अधार्मिक लोग बसते हों अथवा जहाँ अनेक असाध्य रोगों से पीड़ित लोग रहते हों वहाँ भी अधिक काल तक न रहे, मार्ग में अकेले न चले और चिरकाल तक पहाड़ पर न रहे । ५९-६० ।

न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते ।

न पाषण्डिगणाक्रांते नोपसृष्टिऽन्त्यजैर्नृभिः ॥ ६१ ॥

न भुंजीतोद्धृतस्नेहं नातिसौहित्यमाचरेत् ।

नातिप्रगे नाति सायं न सायं पातराशितः ॥ ६२ ॥

जिस देश का राजा शूद्र हो, उस देश में निवास न करे। जो गाँव चोर-डाकू, छली-कपटी आदि दुष्टत्माओं की बस्तियों से घिरा हो या नास्तिकों, वेद निन्दकों से आक्रान्त हो अथवा जहाँ चाण्डाल आदि अधम जातियों से उपद्रव होता हो, वहाँ भी न रहे जिस पदार्थ की स्नेह (चिकनाई) निकाल ली गई हो उसे न खाये, एक बार तृप्तिपूर्वक भोजन करके ऊपर से और कुछ न खाये, सूर्योदय और सूर्य अस्त के समय भोजन न करे। सवेरे जिसने प्रति भोजन किया हो वह शाम को न खाये। ६१-६२।

नत कुर्वीत वृथाचेष्टां न वार्यज्जलिना पिवेत्।

नोत्सङ्ग भक्षयेद्भक्ष्यान्न जातु स्वात्कुतूहली ॥ ६३ ॥

न नृत्येदथवा गोयेन्न वादित्राणि वादयेत्।

नास्फोटयेन्न च क्ष्वेडेन्न च रक्तो विरावयेत् ॥ ६४ ॥

निस्वस्थ कोई कार्य न करे, अंजलि से जल न पिये, जाँघ पर भक्ष्य पदार्थ को रखकर न खाए। केवल कौतूहलवश बेमतलब किसी से कोई बात न पूछे। ब्राह्मण नृत्य न करे, गायन न करे, बाजा न बजावे, ताल न ठोके, दौत न कटकटाये और उमंग में आकर गधे आदि पशुओं की बोली न बोले। ६३-६४।

न पादौ धावयेत्कांस्से कदाचिदपि भाजने।

न छिन्नभाण्डे भुंजीत न भावप्रतिदूषिते ॥ ६५ ॥

उपानहौ च वासश्च घृतमन्यैर्न धारयेत्।

उपवीतमलंकारं स्त्रजं करकमेव च ॥ ६६ ॥

कैसे के बर्तन में कभी पैर न धोवे। अन्य किसी फूटे हुए बर्तन में भोजन न करे और जिस बर्तन में मन न करे उसमें भी भोजन न करे। दूसरे किसी का उपयोग किया हुआ जूता, वस्त्र, जनेऊ, आभूषण, माला और कमण्डलु धारण न करे। ६५-६६।

नाविनीतैर्ब्रजेद्धुर्यैर्न च क्षुद्रव्याधिपीडितैः।

न भिन्नशृंगाक्षिखुरैर्न वालधिविरूपितैः ॥ ६७ ॥

विनीतैस्तु ब्रजेन्नित्यमाशुगैलक्षणांस्वितैः।

वर्णरूपोपसंपन्नैः प्रतोदेनातुदन्भृशम् ॥ ६८ ॥

जो सिखाये हुए न हों, जो भूख, प्यास और व्याधियों से पीड़ित हों जिनके सींग, नेत्र और खुर टूटे-फूटे और कटे हों और जिनकी पूँछ कटी हो, ऐसे घोड़े, बैल आदि पशुओं पर चढ़कर न जाए। जो सिखाये हुए हों शीघ्रगामी हों, शुभ लक्षणों से युक्त हों, जिनका वर्णरूप अच्छा हो, ऐसे जूते हुए बैलों के रथ में अथवा घोड़े पर सवार होकर बिना बार-बार चाबुक से मारे, चाहे जब यात्रा करे। ६७-६८।

बालातपः प्रेतधूमो वर्ज्य भिन्न तथासनम्।

न छिन्द्यान्नखलोमानि दन्तैर्नोत्पाटयेन्नखान् ॥ ६९ ॥

न मृल्लोष्ठं च मृदगीयात्रच्छिन्द्यात्करजैस्तृणम्।

न कर्म निष्फलं कुर्यान्नायत्यामसुखोदयम् ॥ ७० ॥

सूर्योदय समय की धूप, मुर्दे का धुआँ और टूटे-फूटे आसन को त्याग देना चाहिए। बड़े हुए नख और रोम को न काटे और नाखून को दाँत से न उखाड़े। मिट्टी के ढेलों को न मले, नाखूनों से तिनके न तोड़े, व्यर्थ कर्म न करे और परिणाम में दुःख देने वाला कर्म कभी न करे। ६९-७०।

लोष्ठमर्दो तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।

स विनाशं व्रजत्याशु सुचकोऽशुचिरेव च ॥ ७१ ॥

न विगर्ह्य कथां कुर्याद्बहिर्मात्यं न धारयेत्।

गवां च यानं पृष्ठेन सर्वथैव विगर्हितम् ॥ ७२ ॥

ढेले को मलने वाला, तिनके तोड़ने वाला और दाँतों से नख काटने वाला, कृपण और अनाचारी (शौचरहित) से सब शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। अभिमान के साथ किसी से बात न करे। केशसमूह के बाहर माला न धारण करे। गौओं की पीठ पर चढ़कर जाना सर्वथा निन्दित है। ७१-७२।

अद्वारेण च नातीयाद् ग्राम वा वेश्म वावृतम्।

रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ॥ ७३ ॥

नाक्षैः क्रीडेत्कदाचित्तु स्वयं नापानहौ हरेत्।

शयनस्थो न भुंजीत न पाणिस्थं न चासने ॥ ७४ ॥

जो गाँव या घर दीवार से घिरा हो उसके भीतर प्रधान दरवाजे को छोड़कर दूसरे रास्ते से न जाए। रात में पेड़ की जड़ को दूर से ही त्याग

दे अर्थात् क्षणमात्र भी वृक्ष के नीचे न रहे। कभी जुआ न खेले, स्वयं हाथ से जूता उठाकर न चले, बिछौने पर या हाथ में कोई चीज रखकर न जाए। ७३-७४।

सर्वं च तिलसम्बद्धं नाद्यादस्तमिले रवौ।

न च नग्नः शयीतेह च चोच्छिष्टः क्वचिद्ब्रजेत् ॥ ७५ ॥

आर्द्रपादस्तु भुंजीत नार्द्रपादस्तु संविशेत्।

आर्द्रपादस्तु भुंजानो दीर्घमायुरवाप्नुयात् ॥ ७६ ॥

सूर्यास्त के बाद तिल मिला हुआ कोई चीज न खाय। नग्न होकर न सोये, जूटे मुंह कहीं न जाये। भीगे पैर भोजन न करे, भीगे पैर सोये नहीं। नंगे पैर भोजन करने वाला दीर्घ आयु को पाता है। ६५-६६।

अचक्षुर्विषयं दुर्गं न प्रपद्येत कर्हिचित्।

न विण्मूत्रमुदीक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेत् ॥ ७७ ॥

अधितिष्ठेन्न केशास्तु न भस्काधिकपालिकाः।

न कार्पासास्थि न तुपान्दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ ७८ ॥

जो गस्ता घना और झाड़ियों से घिरा हो, जिससे उस तरफ की चीज इस तरफ से न दिखाई देती हो ऐसे दुर्गम स्थान में न जाए। दीर्घ जीवन की इच्छा रखने वाला पुरुष केश, भस्म, हड्डी, ठिकरे, कपास की डंठियों और धान की भूसी पर पैर देकर खड़ा न हो। ७७-७८।

न संवसेच्च पतितैर्न चाण्डालेन पुल्लसैः।

न मूर्खैर्नावसिप्तैश्च नान्त्यैर्नान्त्यावसायिभिः ॥ ७९ ॥

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।

न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥ ८० ॥

पतित, चाण्डाल, पुल्लस (निषाद से शूद्री में उत्पन्न), मूर्ख, धन मद से गर्वित, अन्त्यजों और अन्त्यजी के साथ व्यवसाय करने वाले के साथ भी न बैठे। शूद्र को युक्ति न बताए। उच्छिष्ट और हवि का शेषांश न दे। उसे धर्म और व्रत का प्रत्यक्ष (बीच में ब्राह्मणों को व्यवधान रख कर दे सकते हैं) उपदेश भी न दे। ७९-८०।

यो ह्यस्य धर्ममाचष्टे यश्चैवादिशति व्रतम् ।
 सोऽसंवृतं नाम तमः सह तेनैव भंजति ॥ ८१ ॥
 न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
 न स्पृशेच्चैतदुच्छिष्टो न च स्नायाद्विना ततः ॥ ८२ ॥

जो दूसरे धर्म का उपदेश और व्रत का आदेश करता है, वह उस शूद्र के साथ असंवृत नामक अन्धकारमय नरक में जा गिरता है। एक साथ दोनों हाथों से अपने शिर को न खुजलाये, जूठे मुंह शिर न छुए और पहले सिर धोये बिना स्नान न करे। ८१-८२।

केशग्रहान्प्रहारांश्च शिरस्येतान्विवर्जयेत् ।
 शिरः स्नातश्च तैलेन नागं किञ्चिदपि स्पृशेत् ॥ ८३ ॥
 न राज्ञः प्रतिगृहीयादराजन्यप्रसूतिनः ।
 सूनाचक्रध्वजवंतां वेशेनैव च जीवताम् ॥ ८४ ॥

चोटी पकड़कर किसी के शिर में न मारे। शिर से नहाया हुआ (अर्थात् नहाने के बाद तेल न लगावे) तेल से किसी अंग को स्पर्श न करे। जिस राजा का जन्म क्षत्रिय से न हो, उसका दान न ले। पशु मार कर मांस बेचने वाला कसाई, तेली, कलाल और वेशोपजीवी (कुटना-कुटनियों) से भी दान न ले। ८३-८४।

दशसूनासमं चक्रं दसचक्रसमो ध्वजः ।
 दशध्वजसमो वेशो दशवेशसमो नृपः ॥ ८५ ॥
 दस सूनासहस्राणि यो वाहयति सैनिकः ।
 तेन तुल्यः स्मृतो राजा घोरस्तस्य प्रतिग्रहः ॥ ८६ ॥

दस बधिकों के समान एक तेली होता है, दस तेलियों के बराबर एक कलाल होता है, दस कलालों के बराबर एक वेशोपजीवी होता है और दस वेशोपजीवियों के समान एक राजा होता है। जो अधिक दस हजार प्राणियों की हिंसा करता है, उसके तुल्य अक्षत्रिय राजा होता है। इसलिए उसका दान भयानक होता है। ८५-८६।

यो रात्रः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्तिनः ।
 स पर्यायेण यातीमान्नरकानेकविंशतिम् ॥ ८७ ॥

तामिस्रमन्धतामिस्रं

महारौरवरौरवो ।

नरकं कालसत्रं च महानरकमेव च ॥ ८८ ॥

जो कृपण और शास्त्र की आज्ञा न मानने वाले राजा से दान लेता है क्रम से इक्कीस नरकों में गिरता है। तामिस्र, अन्धतामिस्र, महारौरव, रौरव, कालसूत्र, महानरक । ८७-८८ ।

संजीवनं महाबीविं तपनं संप्रतापनम् ।

संहातं च सकाकोलं कुड्मलं प्रतिमूर्तिकम् ॥ ८९ ॥

लोहशंकुमृजाषं च पन्थानं शाल्मलीं नदीम् ।

असिपत्रवनं चैव लोहदारकमेव च ॥ ९० ॥

संजीवन, महाबीचि, तपन, संप्रतापनम् संहात, सकाकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्तिक । लोहशंकु, ऋजीष, पन्था, शाल्मली, वैतरणी नदी, असिपत्रवन और लोहदारक (ये वे इक्कीस नरक हैं) । ८९-९० ।

एतद्विदन्तो विद्वांसो ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।

न राज्ञः प्रतिगृह्णन्ति प्रेत्य श्रेयोऽभिकांक्षिः ॥ ९१ ॥

ब्राह्मो मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।

कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वामेव च ॥ ९२ ॥

(पूर्व कथित ८७ श्लोकोक्त आदेश को) कर्मनिष्ठ (धर्मशास्त्रादि को जानने वाले) विद्वान् जन्मान्तर में विशेष कल्याण की इच्छा रखने वाले ब्राह्मण राजा का दान नहीं लेते । सूर्योदय के पहले (ब्राह्ममुहूर्त में) जागकर धर्म और अर्थ की चिन्ता करे और उसके लिये जो शरीर को क्लेश उठाना पड़ता है उसका भी विचार करे और वेद के तत्त्वार्थ का भी चिन्तन करे । ९१-९२ ।

अत्यायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः ।

पूर्वा संध्यां जपस्तिष्ठेत्स्वकाले क्षापरां चिरम् ॥ ९३ ॥

ऋषयो दीर्घसंध्यत्वादीर्घमायुरवाप्नुयुः ।

प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवसर्चमेव च ॥ ९४ ॥

(इसके बाद) उठकर आवश्यक कृत्य कर, शौचादि करके एकाग्रचित्त

हो प्रातःकालिक सन्ध्या कर (सूर्योदय पर्यन्त) गायत्री मन्त्र जपे। सायंकालिक सन्ध्या भी ठीक समय पर करके देर तक गायत्री जपे। ऋषिगण देर तक सन्ध्योपासनादि करने में ही दीर्घजीवी होते थे और बुद्धि, यश कीर्ति तथा ब्रह्मतेज को प्राप्त करते थे। ९३-९४।

श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।

युक्तश्छन्दांत्यधीयीत मासान्विप्रोऽर्धपंचमान् ॥ ९५ ॥

पुष्ये तु छन्दांसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विज।

माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वाह्ने प्रथमेऽहनि ॥ ९६ ॥

ब्राह्मण को चाहिए कि सावन या भादों की पूर्णिमा को वेदविधि से उपाकर्म करके साढ़े चार महीने तक तत्पर होकर वेद पढ़े। उसके बाद पुष्य नक्षत्र में गाँव से बाहर वेदों का उत्सर्जन कर्म करे अथवा माघ शुक्ल की पहली तिथि के पूर्वाह्न में करे। ९५-९६।

यथाशास्त्रं तु कृत्वेवमुत्सर्गं छन्दां बहिः।

विरमेत्यक्षिणीं रात्रिं तदेवैकमहर्निशम् ॥ ९७ ॥

अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्ललेषु नियतः पठेत्।

वेदांगानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥ ९८ ॥

यथोक्त रीति में गाँव के बाहर वेद का उत्सर्जन कर्म करके दो दिन और उनके बीच की रात को अनध्याय करे। इस कर्म के अनन्तर शुक्ल पक्ष में एकाग्रचित्त होकर वेद पढ़े और कृष्णपक्ष में वेद का अंग शिक्षा व्याकरण आदि पढ़े। ९७-९८।

नाविस्पष्टमधीयीत न शूद्रजनसंन्निधौ।

न निशांते परिश्रान्तो ब्रह्माधीत्य पुनः स्वपेत् ॥ ९९ ॥

यथोदितेन विधिना नित्यं छन्दस्कृतं पठेत्।

ब्रह्म छन्दस्कृतं चैव द्विजो युक्ता ह्यनापदि ॥ १०० ॥

स्वर वर्ण आदि का स्पष्ट उच्चारण किये बिना या शूद्रों के समीप में वेद न पढ़े। रात के पिछले पहर में वेद पढ़कर थके हुए ब्राह्मण को न सोना चाहिए। यथोक्त विधि से नित्य गायत्री आदि छन्दों से युक्त मन्त्रों का ही

पाठ करे। निरापद अवस्था में ब्राह्मण भाग और मन्त्र दोनों भागों का अध्ययन करें। १९-१००।

इमात्रियुमनध्यायानधीयानो विवर्जयेत्।

अध्यापनं च कुर्वाणः शिष्याणां विधिपूर्वकम् ॥ १०१ ॥

कर्णश्रवेऽनिले रात्रौ दिवा पांसुसमूहने।

एतौ वर्षास्वनध्यायावध्यायज्ञाः प्रचक्षते ॥ १०२ ॥

विधिपूर्वक नित्य वेद पढ़ने-पढ़ाने वालों को इन अनध्यायों का त्याग करना चाहिए। रात में यदि वर्षा ऋतु में वायु बहने का शब्द सुनाई दे और दिन में धूल उड़ती हुई हवा बहे तो वे दोनों रात-दिन उस ऋतु में अनध्याय होते हैं ऐसा अध्यापन के जानने वाले मुनि कहते हैं। १०१-१०२।

विद्यत्स्तनिवर्षेषु महोल्कानां च संप्लवे।

आकालिकसनध्यायमेतेषु मनुरब्रवीत् ॥ १०३ ॥

एतांस्त्वभ्युदितान्विद्याद्यदा प्रादुष्कृताग्नियु।

तदा विद्यादनध्यायभृतौ चाभ्रदर्शने ॥ १०४ ॥

यदि मेघ और बिजली के गरजते, चमकते हुए वर्षा होती हो और महान उल्कापात होता हो ऐसे समय को मनुजी ने अकालिक अनध्याय कहा है, इसमें भी वेदाध्ययन न करे। (वर्षा ऋतु में) संध्या समय में होमार्थ अग्निं प्रज्वलित करने के समय यदि गर्जना हो तो अनध्याय जानना। अन्य ऋतु में अग्नि प्रज्वलित करने के समय (अभ्र) मेघ देखने से ही अनध्याय हो जाता है। १०३-१०४।

निर्घाते भूमिचलने ज्योतिषां चोपसर्जने।

एतानाकलिकान्विद्यादनध्यायानुतावपि ॥ १०५ ॥

प्रादुष्कृतेष्वग्निषु तु विद्युत्स्तनितनिःस्वने।

सज्योतिः स्यादनध्यायः शेषे रात्रौ यथा दिवा ॥ १०६ ॥

दिगर्जन, भूकम्प और ग्रह ताराओं के परस्पर युद्ध होने से अन्य ऋतु और वर्षा ऋतु में भी यह आकालिक अनध्याय जानना। प्रातः सन्ध्या करने के समय होमार्थ अग्नि प्रज्वलित करने पर यदि बिजली चमकने के साथ-

साथ मेघ गरजे, तो यह सज्ज्योति अनध्याय है अर्थात् सूर्य किरण के प्रकट होने तक अनध्याय है और यदि सायंकाल में हो तो नक्षत्रों के उदय होने तक सायंकाल में अनध्याय होता है। १०५-१०६।

नित्यानध्याय एव स्याद्ग्रामेषु नगरेषु च।

धर्मनैपुण्यकामानां पूतिगन्धे च सर्वदा ॥ १०७ ॥

अन्तर्गतशवे ग्रामेवृषलस्य च सन्निधी।

अनध्यायो रूढ्यद्यमाने समवाये क्षनस्य च ॥ १०८ ॥

धर्म की विशेष अभिलाषा वालों को ग्राम में, नगर तथा जहाँ दुर्गन्ध आती हो वहाँ सर्वदा अनध्याय होता है। गाँव में मुर्दा पड़ हो, अधार्मिक मनुष्य समीप में हो और जहाँ लोगों की भीड़ हो वहाँ अनध्याय होता है। १०७-१०८।

उदके मध्यरात्रे च विण्मूत्रस्य विसर्जने।

उच्छिष्ट श्राद्धभुक्चैव मनसापि न चिन्तयेत् ॥ १०९ ॥

प्रतिगृह्य द्विजो विद्वानेकोद्दिष्टस्य केतनम्।

त्र्यहं न कीर्तयेद्ब्रह्म राज्ञो राहोश्च सूतके ॥ ११० ॥

जल में खड़े होकर, मध्य रात्रि में, मल-मूत्र विसर्जन करते समय जूठे मुँह, श्राद्ध भोजन करने के पश्चात् मन से भी वेद का चिन्तन न करे। विद्वान् ब्राह्मण एकोद्दिष्ट (श्राद्ध) का निमन्त्रण स्वीकार करके तीन दिन तक वेद का पाठ न करे। राजा के सम्बन्धी अशौच में सूर्य और चन्द्र ग्रहण तीन दिन तक अनध्याय करें। १०९-११०।

यावददेकानुदिष्टस्य लेपश्च तिष्ठति।

विप्रस्य विदुषो देहे तावद्ब्रह्म न कीर्तयेत् ॥ १११ ॥

शायानः प्रौढषाश्च कृत्वा चैवावसक्थिकाम्।

नाधीयोतामिषं जग्ध्वा सूतकान्नाद्यमेव च ॥ ११२ ॥

विद्वान् ब्राह्मण के शरीर पर जब तक एकोद्दिष्ट श्राद्ध की गंध और लेप रहे तब तक वह वेदाध्ययन न करे। बिछौने पर लेटकर, पाँव पर पाँव रखकर, घुटनों के बल बैठकर तथा अशौचान्न और माँस खाकर वेद न पढ़े। १११-११२।

नीहारे वाणशब्दे च संध्ययोरेव चोभयोः।

अमावस्याचतुर्दश्योः पूर्णिमास्यष्टकासु च॥ ११३॥

अमावस्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी।

ब्रह्माष्टकापूर्णिमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्॥ ११४॥

धूल उड़ती हो, बाण का शब्द सुनाई देता हो, ऐसे समय में प्रातः सायं संध्या के समय और अमावस्या, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी-इन तिथियों में वेद न पढ़े। अमावस्या गुरु का और चतुर्दशी शिष्य का नाश करती है पूर्णिमा और अष्टमी पढ़े हुए वेद मन्त्रों को भुला देती है, इसलिए वेदों के अध्ययन में इन तिथियों को त्याग देना चाहिए। ११३-११४।

पांसुवर्षे दिशां दाहे गोमायुविरुते तथा।

श्वखरोष्ट्रे च रुवति षड्क्तौ च न पठेद्विजः॥ ११५॥

नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा।

वासित्वा मैथुनं वासः श्राद्धिकं प्रतिगृह्य च॥ ११६॥

धूल बरस रही हो, दिग्दाह हो रहा हो, शृगाल, कुत्ते, गधे और ऊँट उच्च स्वर से शब्द कर रहे हों, ऐसे समय और इनके साथ बैठ कर वेदाध्ययन न करे। श्मशान के समीप, ग्राम के समीप, गोशाला में, रतिकाल में, पहने हुए वस्त्र धारण कर और श्राद्धीय वस्तुएं प्रतिग्रह कर वेद न पढ़े। ११५-११६।

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किञ्चिद्भिकं भवेत्।

तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्यो हि द्विजः स्मृतः॥ ११७॥

चौररुपद्रुते ग्रामे संभ्रमे चाग्निकारिते।

आकालिकमनध्यायं विद्यात्सर्वादभूतेषु च॥ ११८॥

श्राद्धीय वस्तु सजीव हो (गौ, घोड़े आदि) अथवा निर्जीव हो (वस्त्र भूषण आदि) उनका दान लेने से अनध्याय होता है, क्योंकि ब्राह्मण के हाथ को मुनियों ने मुख कहा है। गाँव में चोरों का उपद्रव, गृहदाहादि का भय और सब प्रकार के अद्भुत उत्पात दृष्टिगोचर होने पर अकालिका अनध्याय जानना। ११७-११८।

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षेपणं स्मृतम्।

अष्टकासु त्वहोरात्रं मृत्वन्तासु च रात्रिषु॥ ११९॥

नाधीयीताश्वमारूढो न वृक्षं न च हस्तिनम्।

न नावं खरं नोष्ट्रं नोरिणस्थो न यानगः॥ १२०॥

उपाकर्म और उत्सर्ग में तीन, मार्गशीर्ष की पूर्णिमा के बाद कृष्णपक्ष की अष्टमी में एक अहोरात्र और ऋतु के अन्त की रात्रियों में भी एक अहोरात्र (दिन-रात) अनाध्याय होता है। घोड़े, हाथी, गधे, ऊँट, नाव और पेड़ पर चढ़कर वेद न पढ़े। ऊसर भूमि में या रथ पर बैठा हुआ भी, वेदमन्त्रों का पाठ न करे। ११९-१२०।

न विवादे न कलहे न सेनाया न संगरे।

न भुक्तभात्रे नाजीर्णे न वमित्वा न शुक्तके॥ १२१॥

अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम्।

रुधिरे च स्त्रुते गात्राच्छस्त्रेण न परिक्षते॥ १२२॥

किसी के साथ विवाद होता हो, या झगड़ा होता हो ऐसे समय और सेना के बीच में, युद्ध में, भोजन करके तुरन्त अजीर्ण होने पर, वमन करके और खट्टी डकार आने पर वेद का पाठ न करे। अतिथि को बताये बिना, हवा खूब तेज बहती हो उस समय शरीर से लहू गिरने या कोई अंग हथियार से कट जाने पर अध्ययन न करना चाहिए। १२१-१२२।

सामध्वनावृग्यजुषी नाधीयीत कदाचन।

वेदस्याधीत्य वाप्यन्तमारण्यकमधीत्य च॥ १२३॥

ऋग्वेदो देवदैवत्यो यजुर्वेदस्तु मानुषः।

सामवेदः स्मृतः पित्र्यस्तमात्तस्याशुचिर्ध्वनिः॥ १२४॥

सामवेद की ध्वनि सुनाई देती हो तो ऋग्वेद और यजुर्वेद का भी अध्ययन न करे। किसी वेद को या अरण्यक संज्ञक वेद के एक अंश को समाप्त कर उस दिन या उस रात में पुनः वेद का कोई भाग न पढ़े। ऋग्वेद के देवता देव हैं, यजुर्वेद के मनुष्य और सामवेद के लिये देवता हैं। इसलिए उसकी (सामवेद को) ध्वनि अपवित्र है। १२३-१२४।

एतिद्विदन्तो विद्वांसस्त्रयीनिष्कर्षमन्वहम्।

क्रमतः पूर्वमभ्यस्य पश्चाद्वेदमधीयते॥ १२५॥

पशूमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलाखुभिः ।

अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ॥ १२६ ॥

पूर्वोक्त तीनों वेदों से देवताओं को जानता हुआ विद्वान् पहले प्रणव व्याहृतिपूर्वक सावित्री का क्रम से अभ्यास करने के पश्चात् वेद का अध्ययन करे। पशु, (गाय, भैस आदि) मेंढक, बिल्ली, कुत्ता, साँप, नेवला और चूहा इनमें से कोई गुरु-शिष्य के बीच में होकर निकल जाय तो एक दिन रत अनध्याय होता है। १२५-१२६।

द्वावे वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।

स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिंद्विजः ॥ १२७ ॥

अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।

ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ १२८ ॥

स्वाध्याय का अशुद्ध भूमि और अपना अशुद्ध शरीर इन दो अनध्यायों का नित्य यत्नपूर्वक त्याग करे। स्नातक ब्राह्मण अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा और चतुर्दशी तिथि को ब्रह्मचारी रहे। ऋतुमती स्त्री के साथ भी समागम न करे। १२७-१२८।

न स्नानमाचरेद्भक्त्वा नातुरो न महानिशि ।

न वासोभिः सहाजस्त्रं नाविज्ञाते जलाशये ॥ १२९ ॥

देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाचार्ययोस्तथा ।

नाक्रामेत्कामतश्छायां बभ्रुणो दीक्षितस्य च ॥ १३० ॥

भोजन करके स्नान न करे, रोगी स्नान न करे, रत के दूसरे-तीसरे पहर में स्नान न करे। बहुत कपड़े साथ लेकर स्नान न करे। बिना जाने हुए जलाशय में भी स्नान न करे। देवता, गुरु, राजा, स्नातक आचार्य, अग्नि और दीक्षित-इनकी छाया न लांघे।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे च श्राद्धंभुक्त्वा च सामिषम् ।

संध्ययोरुभयोश्चैव न सेवेत चतुष्पथम् ॥ १३१ ॥

उद्धर्तनमपस्नानं विण्मूत्रे रक्तमेव च ।

श्लेष्मनिष्ठयूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

दोपहर या आधी रात को, मांस सहित श्राद्धान्न खाने पर और दोनों सांझ चौगहे पर देर तक न रहे। उबटन का मैल, स्नान जल, मल, मूत्र, श्लेष्मनिष्ठयूतवान्तानि नाधितिष्ठेत्तु कामतः ॥ १३२ ॥

लहू, कफ, थूक और वमन आदि दूषित वस्तुओं के समीप जानकर न बैठें। १३१-१३२।

वैरिणं नोपसेवेत सहायं चैव वैरिणः।

अधार्मिकं तत्स्करं च परस्यैव च योषितम् ॥ १३३ ॥

न हीदुशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते।

यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥ १३४ ॥

शत्रु या शत्रु के मन्त्री, अधर्मी, चोर या परई स्त्री की सेवा न करे। संसार में पुरुष की आयु घटाने वाला ऐसा कोई पाप नहीं है जैसा कि परस्त्री गमन है। १३३-१३४।

क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम्।

नावन्मन्येत वै भूष्णुः कृशानपि कदाचन ॥ १३५ ॥

एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितम्।

तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान् ॥ १३६ ॥

क्षत्रिय, साँप और वैदपाठी ब्राह्मण निर्बल भी हो तो हितेच्छु पुरुष इनका कभी अपमान न करे। ये तीनों अपमानित होने पर अपमान करने वाले को भस्म कर देते हैं। इसलिए बुद्धिमान कभी इनका अपमान न करे। १३५-१३६।

नात्मानवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।

आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभम् ॥ १३७ ॥

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात्सत्यमप्रियम्॥

प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १३८ ॥

उद्योग करने पर यदि समृद्धि न मिले तो अपने को अपमानित न करे। मरते दम तक लक्ष्मी प्राप्ति के लिए यत्न करे उसे दुर्लभ न समझे। सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसा सत्य न बोले जो अप्रिय हो, ऐसा प्रिय भी न बोले जो असत्य हो—यह सनातन धर्म है। १३७-१३८।

भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भद्रमित्येव वा वदेत्।

शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥ १३९ ॥

नातिकल्यं नातिसायं नातिमध्यंदिने स्थिते।

नात्रातेन समं गच्छेन्नैको न वृषलैः सह ॥ १४० ॥

अशुभ बातों को अच्छे शब्दों में ही कहे अथवा केवल भद्र वचन (शुभ वार्ता) ही बोले। बेमतलब किसी से वैर या विवाद न करे। बहुत सवैरे, अत्यन्त शाम को, अपरिचित के साथ, अधर्मियों के साथ अकेला कहीं न जाय। १३९-१४०।

हीनांगानतिरिक्तांगन्विद्याहीनान्वयोधिकान् ।

रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च नक्षिपेत् ॥ १४१ ॥

न स्पृशेत्पाणिनोच्छिष्टो विप्रो गोब्राह्मणानलान् ।

न चापि पश्येदशुचिः सुस्थो ज्योतिर्गमणान्दिवि ॥ १४२ ॥

हीन अंग वाले, अधिक अंग वाले, मूर्ख, कुरूप, वृद्ध, दरिद्र और हीन जाति के मनुष्यों का उनके दोषों को कहकर तिरस्कार न करे। जूठे मुंह गौ, ब्राह्मण और आग को हाथ से स्पर्श न करे। स्वस्थ रहते कभी अपवित्र अवस्था में आकाश में ग्रह-नक्षत्रों की ओर न देखे। १४१-१४२।

स्पृष्ट्वैतानशुचिनित्यमदिभः प्राणानुपस्पृशेत् ।

गात्राणि चैव सर्वाणि नाभिं पाणितलेन तु ॥ १४३ ॥

अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेदनिमित्ततः ।

रोमाणि च रहस्यानि सर्वाण्येव विवर्जयेत् ॥ १४४ ॥

अशुचि अवस्था में ब्राह्मणादि को स्पर्श करने पर आचमन करे और हाथ में जल लेकर नासिका और नेत्र आदि इन्द्रियों को और सिर, कन्धे घुटनों पैर और नाभि को भी जल से स्पर्श करे। स्वस्थ अवस्था में इन्द्रियों के छिद्र तथा गुप्त स्थान के रोमों को निष्कारण न छुए। १४३-१४४।

मङ्गलाचारयुक्तः स्यात्प्रतात्मा जितेन्द्रियः ।

जपेच्च जुहुयाच्च व नित्यमग्निमतन्द्रियः ॥ १४५ ॥

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।

जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते ॥ १४६ ॥

शुभ आचारों से युक्त, पवित्र हृदय, जितेन्द्रिय पुरुष, आलस्य रहित होकर नित्य गायत्री मन्त्र जप और अग्नि में हवन करे। जो पवित्रता शुभ आचारों से युक्त होकर नित्य जप और हवने करते हैं, उन्हें किसी प्रकार का (दैवी या मानुषी) उपद्रव नहीं होता। १४५-१४६।

वेदधेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालगतन्द्रितः ।

तं ह्यस्यायुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥ १४७ ॥

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।

अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥ १४८ ॥

नित्य यथासमय आलस्य रहित होकर वेद मन्त्रों का जप करे, यह ब्राह्मण का मुख्य धर्म है। बाकी को उपधर्म कहते हैं। निरन्तर वेद के अभ्यास, पवित्रता, जप और प्राणियों की अहिंसा से पूर्वजन्म की जाति का स्मरण होता है। १४७-१४८।

पौर्विकीं संस्मरजातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः ।

ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥ १४९ ॥

सावित्राञ्छांतिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः ।

पितृंश्चवाष्टकास्वर्चेन्नित्यमन्वष्टकासु च ॥ १५० ॥

पूर्वजन्म की जाति स्मरण होने पर भी नित्य वेद का ही अभ्यास करता है। निरन्तर ब्रह्माभ्यास से वह अनन्त सुख (मोक्ष) को प्राप्त होता है। सावित्री नित्य होम और अनिष्ट निवत्यर्थ प्रत्येक पर्व में शान्ति होम करना चाहिए। उसी प्रकार अष्टका और अन्वष्टका में पितरों का श्राद्ध कर्म करे। १४९-१५०।

दूरादावस्थान्मूत्रं दूरात्पादावसेचनम् ।

उच्छिष्टान्न निषेकं च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

मैत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम् ।

पूर्वाह्न एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ १५२ ॥

अग्नि शालाओं से दूर जाकर मलमूत्र त्यागकर पैर धोये, उच्छिष्ट फेंके, गर्भाधान क्रिया भी वहाँ से दूर करे। शौच, तेलाभ्यंग, दन्तधावन, स्नान, अंजन और देवताओं का पूजन पूर्वाह्न में ही करना चाहिए। १५१-१५२।

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ।

ईश्वर चैव रक्षार्थं गुरुदेव च पर्वसु ॥ १५३ ॥

अभिवादयेद्वृद्धांश्च दद्याच्चैवासनं स्वकम् ।

कृताञ्जलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात् ॥ १५४ ॥

अपनी रक्षा के लिए देवताओं, धार्मिकों, ब्राह्मणों और गुरुओं तथा राजा के दर्शनार्थ (अमावस्यादि) पर्वों में उनके सामने जाय। वृद्धों (श्रेष्ठ पुरुषों) को घर आने पर उठकर उन्हें प्रणाम करे, अपना आसन बैठने को दे और अंजलिबद्ध होकर आगे खड़ा रहे। जब वे जाने लगें तो कुछ दूर तक उनके पीछे जाये। १५३-१५४।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्गिवद्धं स्वेषु कर्मसु।

धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रियः ॥ १५५ ॥

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादिप्सितः प्रजाः।

आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्तवलक्षणम् ॥ १५६ ॥

श्रुति और स्मृति में कहे हुए सदाचार, जो अपने कर्म सम्यक् रूप में मिले हुए हैं जो धर्म के मूल हैं, निरालस्य होकर उनका पालन करना चाहिए। आचार से आयु प्राप्त होती है, आचार से ही अभिमत सन्तान प्राप्त होती है, आचार से अक्षय धन लाभ होता है, आचार से अशुभ लक्षणों का नाश होता है। १५५-१५६।

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।

दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ १५७ ॥

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।

श्रद्धधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ १५८ ॥

दुराचारी पुरुष संसार में निरन्तर, सर्वदा दुःखी, रोगी और अल्पायु होता है। सब लक्षणों से हीन होने पर भी जो पुरुष सदाचारी और श्रद्धालु होता है तथा दूसरों के दोष को नहीं कहता, वह सौ वर्ष जीता है। १५७-१५८।

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्ययेत्।

यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत्सेवेत यत्नतः ॥ १५९ ॥

सर्व परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ १६० ॥

जो-जो कर्म दूसरे के वश में हो उन कर्मों को यत्न करके त्याग दे और जो-जो कर्म अपने अधीन हो उन-उन कर्मों का यत्नपूर्वक सेवन करे।

पराधीन सभी कर्म दुःख देने वाले और स्वाधीन सभी सुख देने वाले होते हैं, संक्षेप में यही सुख-दुःख का लक्षण जानना। १५९-१६०।

यत्कर्म कुर्वयोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।

तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥ १६१॥

आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम्।

न हिंस्याद्ब्राह्मणान्माश्च सर्वाश्चैव तपस्विनः॥ १६२॥

जिसके करने से अपने चित्त को संतोष हो उसे अवश्य करे और जिसके करने से चित्त को दुःख हो उसे न करे। उपनयन, वेदाध्ययन करने वाला आचार्य, वेदार्थव्याख्याता, पिता, माता, गुरु, ब्राह्मण गाय और तपस्वी इनकी हिंसा न करे, (दुःख न दे, विरुद्ध आचरण न करे)। १६१-१६२।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।

द्वेषं दम्भं च मानं क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥ १६३॥

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत्कुब्धो नैव निपातयेत्।

अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्टयर्थं तातयेत्त तौ॥ १६४॥

नास्तिकता (ईश्वर में अविश्वास), वेद और देवताओं की निन्दा, ईर्ष्या भाव, दम्भ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता इनको त्याग देना चाहिए। दूसरे के लिए क्रुद्ध होकर लाठी न लावे, न मारे। पुत्र तथा शिष्य के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति को दण्ड प्रहार न करे। किन्तु पुत्र तथा शिष्य को अनुशासन के लिए अवश्य ताड़न करे। १६३-१६४।

ब्राह्मणायावगुर्वैव द्विजातिर्विधकाम्यया।

शतं वर्षाणि तामिस्र नरके परिवर्तते॥ १६५॥

ताडयित्वा तृणेनापि संरम्भान्मतिपूर्वकम्।

एकविंशतिमाजातीः पापयोनिषु जाग्रते॥ १६६॥

जो द्विजाति ब्राह्मण को मारने की इच्छा से क्रुद्ध होकर लाठी उठाता है, वह सौ वर्ष तक तामिस्र नामक नरक में चक्कर खाता है। जो क्रोध में आकर ज्ञानतः एक तिन्के से भी ब्राह्मण को मारता है वह उस पाप के

फल से २१ बार पाप योनियों में (अर्थात् कुत्ता आदि नीच योनियों में जन्म लेता है। १६५-१६६।

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।

दुःखं सुमहदाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतयां नरः ॥ १६७ ॥

शोणितं यावतः पांसूंसंगृह्णाति महीतलात ।

तावतोऽब्दानमुत्रान्यैः शोणितोत्पादकेऽद्यते ॥ १६८ ॥

जो कोई न लड़ने वाले ब्राह्मण के शरीर से लहू बहाता है वह अपनी मूर्खता के कारण मरने पर परलोक में बहुत कष्ट पाता है। ब्राह्मण का गिरा हुआ रक्त मिट्टी के जितने अणुओं को भिगोता है, उतने वर्ष परलोक में उस रक्त बहाने वाले को हिंस्र जीव काटते और खाते हैं। १६७-१६८।

न कदाचिद् द्विजे तस्माद्विद्वानवगुरेदपि ।

न ताडयेत्तृणेनापि न गात्रात्स्ववयेदसृक् ॥ १६९ ॥

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम् ।

हिंसारतश्चयो नित्यं नेहासौ सुखमेधते ॥ १७० ॥

इस कारण विद्वान् पुरुष ब्राह्मण पर भूलकर भी कभी दण्ड न उठावे, तृण से भी न मारे और उसके शरीर से रक्त न बहावे। अधर्मी, झूठ ही बोलने वाले, दूसरे की हिंसा में लगे रहने वाले पुरुष इस लोक में भी सुख नहीं पाते। १६९-१७०।

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽऽधक्षमे निवेशयेत् ।

अधार्मिकाणां पापनामाशु पश्यन्विषयम् ॥ १७१ ॥

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गीरिव ।

शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥ १७२ ॥

अधर्माचारी पापियों कका शीघ्र नाश होते देखकर (अर्थात् दुर्दशापन्न देखकर) धर्माचरण से दुःख पाता हुआ मनुष्य अधर्म में मन को न लगावे। किया हुआ पाप पृथ्वी में बोए हुए बीज की भाँति तत्काल फल नहीं देता। किन्तु धीरे-धीरे फलित होने का समय आने पर पापकर्ता का मूलोच्छेदन कर देता है। १७१-१७२।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नमृषु।
 न त्वव तु कृयोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥ १७३ ॥
 अनर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
 ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्ते विनश्यति ॥ १७४ ॥

यदि पाप का फल अपने आपको न मिला तो पुत्रों को, पुत्रों को न मिला हो तो पौत्रों को मिलता ही है। अर्थात् किया हुआ पाप कभी निष्फल नहीं होता। अधर्म से कुछ काल वृद्धि होती है, उससे सभी प्रकार के वैभव दिखाई देते हैं। उससे शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है। उसके बाद उसका जड़मूल से नाश हो जाता है। १७३-१७४।

सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत्सदा।
 शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहुदरसंयतः ॥ १७५ ॥
 परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
 धर्मं चाप्तसुखोदरकं लोकविक्रष्टमेव च ॥ १७६ ॥

सत्य, धर्म, सदाचार और पवित्रता में सदा रत रहे। वाणी^१, बाहु^२ और पेट^३ संयत रखता हुआ धर्मपूर्वक शिष्यों को शिक्षा दे। जो अर्थ और काम धर्म के विरुद्ध हों, उन्हें त्याग दे और ऐसे धर्म को भी न करे जिससे पीछे दुःख हो, लोगों को रूलाने का कार्य न करे। १७५-१७६।

न षाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः।
 न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ॥ १७७ ॥
 येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
 तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यतै ॥ १७८ ॥

हाथ में वृथा किसी वस्तु को न ले और निष्प्रयोजन घूमे नहीं। नेत्र चपल न हों (अर्थात् बुरी दृष्टि से किसी को न देखे), व्यर्थ बहुत न बोले, कुटिल न हो, दूसरों की हानि की चेष्टा न करे। जिस मार्ग से बाप-दादा चले हों,

१. वाणी का संयम-थोड़ा और कम बोलना।

२. बाहु का संयम-किसी को बाहुबल से पीड़ित न करना।

३. उदर का संयम-जो कुछ खाने को मिले उसमें सन्तोष करना।

उसी अच्छे मार्ग से आप भी चलें, उस मार्ग से चलने पर पाप का भागी नहीं होना पड़ता। १७७-१७८।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसश्रितैः ।

बालवृद्धारैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥ १७९ ॥

मातापितृभ्यां जामीमिभ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।

दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥ १८० ॥

यज्ञ करने वाला पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रितवर्ग, बालक, वृद्ध, रोगी, दयाद्र सम्बन्धी (साले जामाता आदि) और मातृ कुल के लोगों के साथ तथा माँ, बाप, बहन, पति हो, भाई हो, बेटा, बेटा, स्त्री और नौकरों के साथ विवाद न करे। १७९-१८०।

एतैर्विवादान्संत्यज्य सर्वेषापैः प्रमुच्यते।

एभिर्जितैश्च जयति सर्वाल्लोकानिमानुही ॥ १८१ ॥

आचार्यो ब्रह्मलोकेशः प्राजापत्ये पिता प्रभुः।

अतिथिस्त्विन्द्रलोकेशो देवलोकस्यः चत्विजः ॥ १८२ ॥

जो इनसे विवाद नहीं करता, वह पापों से छूट जाता है। इनके साथ झगड़ा न करने वाला पुरुष इन (आगे कहे हुए) लोकों को प्राप्त करता है। आचार्य ब्रह्मलोक का, पिता प्राजापत्य लोक का, अतिथि इन्द्रलोक का और यज्ञ पुरोहित देवलोक का स्वामी होता है। १८१-१८२।

जामयोऽप्सरसां लोके वैश्वदेवस्य बान्धवाः।

संबन्धिनोद्वापां लोके पृथिव्यां मातृमातुलौ ॥ १८३ ॥

आकाशेशास्तु विज्ञेया बालवृद्धकृशातुराः।

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रांबका तनुः ॥ १८४ ॥

बहन और वधु का अप्सरा लोक पर, बान्धवों का वैश्वदेव लोक पर सम्बन्धियों का वरुण लोक पर, माता और मामा का भूलोक पर प्रभुत्व होता है। बालक, वृद्ध, कृश और रोगी आकाश के स्वामी होते हैं। बड़ा भाई पिता तुल्य होता है। स्त्री और पुत्र तो अपना शरीर ही ठहरा। (पित्र उनके

साथ विवाद कैसा ।) १८३-१८४।

छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कुपणं परम्।

तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥ १८५ ॥

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसंग तत्र वर्जयेत्।

प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजं प्रशाम्यति ॥ १८६ ॥

दास वर्ग अपनी छाया के तुल्य होते हैं, बेटी बड़ी दयापात्र होती है। इस कारण से ये लोग तिरस्कार भी करें तो भी चुपचाप सुन ले, विवाद न करे, दान लेने की योग्यता रखता हुआ भी बार-बार दान लेने की इच्छा को त्याग दे क्योंकि प्रतिग्रह से ब्रह्मतेज लुप्त हो जाता है। १८५-१८६।

न द्रव्याणामविज्ञाय विधिं धर्म्यं प्रतिग्रहे।

प्राज्ञः प्रतिग्रहं कुर्यादवसीदन्नपि क्षुधा ॥ १८७ ॥

हिरण्यं भूमिमश्वं गामन्नं वासस्तिलान्घृतम्।

प्रतिग्रहन्नविद्वास्तु भस्मीभवति दारुवत् ॥ १८८ ॥

द्रव्यों के दान लेने में धार्मिक विधान को न जानकर क्षुधा से पीड़ित होने पर भी बुद्धिमान ब्राह्मण दान न ले। सोना, भूमि, घोड़ा, गांव, अन्न, वस्त्र, तिल, और घृत वस्तुओं का दान लेने वाला मूर्ख ब्राह्मण लकड़ी की तरह भस्म हो जाता है। १८७-१८८।

हिरण्यमायुरन्नं च भूर्गोश्चाप्योषतस्तनुम्।

अश्वचक्षुस्त्वचं वासो घृतं तेजस्तिलाः प्रजाः ॥ १८९ ॥

अतपास्त्वमनीयानः प्रतिग्रहरुचिरैर्द्विजः।

अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ १९० ॥

सोना और अन्न का दान आयु को, भूमि और गाय का दान शरीर को, घोड़ा नेत्र को, वस्त्र त्वचा को, घृत तेज को और तिल का दान संतानों को जलाता है। तपस्या और वेद विद्या से रहित दान लेने वाला ब्राह्मण यजमान के साथ नरक में डूबता है, जैसे पत्थर की बनी नाव से पार उतरने वाले नाव के साथ पानी में डूबते हैं। १८९-१९०।

तस्मादविद्वान्विभियाद्यस्मात्तस्मात्प्रतिग्रहात् ।

स्वल्पकेनाप्यविद्वान्हि पंके गौरिव सीदति ॥ १९१ ॥

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।

न वक्रव्रतिके विप्रे नावेदाविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥

इसलिए थोड़ा-सा भी द्रव्य प्रतिग्रह करने से डरे, क्योंकि ऐसे थोड़े से प्रतिग्रह से भी धंसी हुई गौ की भाँति मूर्ख ब्राह्मण नरक में धंसता और क्लेश भोगता है। धर्मज्ञ को चाहिए कि वह वैडालवृत्तिक, वक्रवृत्तिक और वेदानभिज्ञ ब्राह्मण को जल तक भी न दे। १९१-१९२।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाऽप्यर्जितं धनम् ।

दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३ ॥

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।

तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छको ॥ १९४ ॥

उपर्युक्त तीनों को न्यायोपार्जित भी धन दिया जाय तो वह परलोक में भी दाता और प्रतिग्रहीता दोनों के लिए अनर्थ का कारण होता है। जैसे पत्थर की नाव से पार उतरने वाला नाव के साथ पानी में डूब जाता है वैसे ही दोनों मूर्ख दाता और ग्रहीता नरक में डूब जाते हैं। १९३-१९४।

धर्मध्वजी सदा लुब्धश्छादिभको लोकदम्भकः ।

वैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥ १९५ ॥

अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।

शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥ १९६ ॥

धर्मध्वज (जो लोगों को दिखलाने के लिए धर्म करता है) यथार्थ में दूसरों के धन का लोभी होता है कपट वेषधारी और वंचक होता है, जो सदा दूसरों की निन्दा करता है और हिंसा में रत रहता है उसे वैडालिक कहते हैं। जो नम्रता दिखलाने के लिए अपनी दृष्टि को सदा नीचे रोकता है, पर आचरण क्रूरता का करता है। स्वार्थ साधन में सर्वदा रहता है टेढ़ी चाल चलने वाला, कपट से युक्त नम्रता दिखाता है ऐसे ब्राह्मण को बकवादी कहते हैं। १९५-१९६।

ये ब्रवव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिङ्गिनः।

ते पतन्त्यन्धतामिस्त्रे तेन पापेन कर्मणा ॥ १९७ ॥

न धर्मस्योपदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत्।

व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन्स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥ १९८ ॥

जो ब्राह्मण वक्रवर्ती और वैडालवृत्तिक होते हैं, वे उस पाप कर्म फल से अन्धतामिस्त्र नरक में गिरते हैं। पाप करके (उसके प्रायश्चित्त के निमित्त) किसी व्रत का अनुष्ठान करना और फिर अनुष्ठान से स्त्री-शूद्रादि अज्ञानों को मारकर उस पाप को कभी नहीं छिपाना चाहिए। १९७-१९८।

प्रेत्येह चेदुशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः।

छद्मनाचरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ १९९ ॥

अलिङ्गी लिङ्गिवेषेण यो वृत्तिमुपजीवति।

स लिङ्गिनां हरत्येनस्तिर्ययोनीं च जायते ॥ २०० ॥

ऐसे ब्राह्मण इस लोक और परलोक दोनों जगह वेदवक्ताओं द्वारा निन्दित होते हैं। जो व्रत छल से किया जाता है, उसका फल रक्षकों को होता है। जो ब्रह्मचारी न होकर भी ब्रह्मचारी के चिन्ह धारण करके उनकी वृत्ति से जीवन निर्वाह करता है वह ब्रह्मचारियों के किये पापों को अपने लिए बटोस्ता है और मरने पर कुत्ता आदि तिर्यक योनियों में जन्म लेता है। १९९-२००।

परकीयनिपानेषु न स्नायाच्च कदाचन।

निपातकर्तुः स्नात्वा तु दुष्कृतांशेन लिप्यते ॥ २०१ ॥

यानशय्यासनान्यस्य कूपोद्यानगृहाणि च।

अदत्तान्युपभुजान एनसः स्यात्तुरीयभाक् ॥ २०२ ॥

दूसरे के बिना बनाए हुए जलाशय में कभी स्नान न करे। स्नान करने से स्नानकर्ता पुष्कर खुदवाने वाले के पापों के अंश (चतुर्थ भाग का भागी होता है) किसी के स्थ, शय्या, आसन कुआँ व बगीचा और गृह के दाता के दिए बिना उपभोग करने वाले उसके पाप के चतुर्थांश के भागी होते हैं। २०१-२०२।

१. यदि दूसरे के बनाए हुए जलाशय में स्नान करने का अवसर आ पड़े तो मिट्टी के पाँच लोटे निकालकर स्नान करे। याज्ञवल्क्य जी ने कहा है-

नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च ।

स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्त्रवणेषु च ॥ २०३ ॥

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।

यमान्यतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्मज्जन् ॥ २०४ ॥

नदी, देवकुण्ड, पोखर, सरोवर सोते हुए झरने में नित्य स्नान करना चाहिए। नियमों का पालन नित्य करे, तो भी यमों का सेवन सदा करना चाहिए। केवल नियमों का सेवन करके ही यम न करे तो वह नीचे गिरता है। २०३-२०४।

नाश्रोत्रियगते यज्ञे ग्रामयाजिकृते तथा ।

श्रियाक्लीवेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मःक्वचित् ॥ २०५ ॥

अश्लीकमेतत्साधूनां वत्र जुह्वत्यमी हविः ।

प्रतीपमेतद्देवानां तस्मात्तप्परिवर्जयेत् ॥ २०६ ॥

जिस यज्ञ में वैदिक ब्राह्मणों का अभाव हो और मूर्ख पुरोहित अन्य मनुष्यों द्वारा किया गया हो, जिस यज्ञ में स्त्री या नपुंसक ने हवन किया हो उस यज्ञ में ब्राह्मण कदापि भोजन न करें। इस प्रकार पूर्वोक्त याजक स्त्रियाँ आदि जिस यज्ञ में हवन करती हैं, वह सज्जनों का अमंगलकारी तथा देवताओं के प्रतिकूल होता है। २०५-२०६।

मत्तकुद्भ्रातुराणां न भुञ्जीत कदाचन ।

केशकीटावपत्रं च पदा स्पृष्टं च कामतः ॥ २०७ ॥

भूणघ्नावेक्षितं चैव संस्पृष्टं चाप्युदक्तया ।

पतात्रिणाणावलीढं च शुना संस्पृष्टमेव च ॥ २०८ ॥

क्षुब्ध, क्रोधी और रोगियों का अन्न कभी न खाय। जिस अन्न में केश और कीड़े पड़ गये हों, जो अन्न जानकर पैरों से छुआ गया हो वह न खाय। जो अन्न भूण हत्यादि करने वालों से देखा गया हो, रजस्वला से छू गया हो, कौवे आदि पक्षियों से जूठा हो गया हो या कुत्ते से छू गया हो, वह अन्न न खाये। २०७-२०८।

गवा चान्नमुपाघातं घुष्टान्नं च विशेषतः ।

गणान्नं गणिकात्रं च विदुषां च विशेषतः ॥ २०९ ॥

स्तेनगायनयोश्चात्रं तक्ष्णो बार्धुषिकस्य च।

दीक्षितस्य कदर्यस्य बद्धस्य निगडस्य च॥ २१०॥

जिस अन्न को गौ ने सूँघा हो, “कौन भोजन करना चाहता है?” ऐसा पूछकर जो अन्न दिया गया हो, शठ ब्राह्मणों के गणों का और वेश्या का अन्न और विद्वानों द्वारा निन्दित अन्न न खाय। चोर, गवैये, बड़ई और सूद खाने वालों का अन्न न खाये। यज्ञ की दीक्षा लिए हुए यमराज का दिया हवन के पूर्व का अन्न, कृपण का अन्न, कैदी का अन्न न खाये। २०९-२१०।

अभिशाप्तस्य षण्डस्य पुंश्चल्या दाम्भिकस्य च।

शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च॥ २११॥

चिकित्सकस्य मृगयोः क्रूरयोऽच्छिष्टभोजिनः।

उग्रान्नं सूतिकात्रं च पर्याचान्तमनिर्दशम्॥ २१२॥

जनापवाद से दूषित, नपुंसक, व्यभिचारिणी और कपट धर्माचारी (अर्थात् बैडालवृत्तिक आदि) का अन्न न खाय। सिरका, बासी अन्न और शूद्र का उच्छिष्ट अन्न भी न खाय। वैद्य का, व्याध का, क्रूर का, जूठन खाने वाले का, भयंकर कर्म करने वाले का और सूतिका के लिए तैयार किया हुआ अन्न न खाय। एक पंक्ति में बैठकर खाने वाले में किसी ने यदि आचमन कर लिया हो तो उसका शेष अन्न न खाय। २११-२१२।

अनर्चितं वृथामांसवीरायाश्च योषितः।

द्विषदन्नं नगर्यन्नं पतितान्नमवक्षुतम्॥ २१३॥

पिशुनानृतिनोश्चात्रं क्रतुविक्रयिणस्तथा।

शैलूषतुत्रवायात्रं कृतघ्नस्यान्नमेव च॥ २१४॥

सम्मानपूर्वक जो अन्न न दिया गया हो, वृथा मांस (जो देवता-पितरों को अर्पित न किया गया हो), पुत्रहीन स्त्री का अन्न, शत्रु का अन्न, नगर में मिलने वाला अन्न, पतित का अन्न तथा जिस अन्न पर किसी ने छींक दिया हो वह अन्न न खाय। चुगली खाने वाले, झूठ बोलने वाले, यज्ञ विक्रयी अर्थात् यज्ञ का फल आपको हो यह कहकर धन जमा करने वाले, नट, दर्जी और कृतघ्न इनका अन्न नहीं खाना चाहिए। २१३-२१४।

कीर्मारस्य निषादस्य रंगावताकरस्य च।

सुवर्णकर्तुर्वेणस्य शस्त्रविक्रयिणस्तथा ॥ २१५ ॥

श्ववतां शौण्डिकानां च चैलनिर्णेजकस्य च।

रज्जकस्य नृशंसस्य यस्य चोपपतिर्गृहे ॥ २१६ ॥

लोहार, केवट, रंगोपजीवी, सुनार, बांस वाले और हथियार बेचने वाले का अन्न न खाना चाहिए। कुत्ता पोसने वाले, मद्य बेचने वाले, धोबी, रंगरेज, निर्दय और जिसके घर में उपपत्ति (अर्थात् परस्त्रीगामी पुरुष) हो इन सबका अन्न न खाय। २१५-२१६।

मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितानां च सर्वशः।

अनिदशं च प्रेतान्नमतुष्टिकरमेव च ॥ २१७ ॥

राजान्नं तेज आदत्ते शुद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम्।

आयुः सुवर्णकारान्नं यशश्चर्मावकर्तिनः ॥ २१८ ॥

घर में पत्नी के उपपति को जानकर भी जो सहन करते हैं, जो स्त्री के वशीभूत हैं उनका और मृताशौच का अन्न तथा जो तृप्तिकारक न हो उस अन्न को न खाय। राजा का अन्न तेज को, शुद्रान्न ब्रह्मतेज को, सुनार का आयु को और चमार का अन्न यश को नष्ट करता है। २१७-२१८।

कारुकात्रं प्रजां हन्ति बलं निर्णेजकस्य च।

गणान्नं गणिकान्नं च लोकेभ्यः परिकृन्तति ॥ २१९ ॥

पूयं चिकित्सकल्याणं पुंश्चल्यास्त्वन्नमिन्द्रियम्।

विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं शस्त्रविक्रयिणो मलम् ॥ २२० ॥

सूपकारादि का अन्न सन्तानों और धोबी का अन्न बल को नष्ट करता है। गणों का और गणिकाओं का अन्न स्वर्गादि लोकों से विरत करता है चिकित्सक का अन्न पीव, पुंश्चली का अन्न वीर्य, सूद खाने वाला का अन्न विष्ठा और शस्त्र बेचने वाला का अन्न मल के समान है। २१९-२२०।

य एतेऽन्ये त्वभोज्यान्नाः क्रमशः परिकीर्तिताः।

तेषां त्वगस्थिरोमाणि वदन्त्यन्नं मनीषिणः ॥ २२१ ॥

भुक्त्वातोऽन्यतमस्यान्नयममत्या क्षपणं त्र्यहम्।

मत्या भुक्त्वाचरेत्कृच्छ्रं रेतोविण्मूत्रमेव च ॥ २२२ ॥

जिन-जिन का अन्न खाना यहाँ तक निषिद्ध बताया गया है तथा और भी जिन-जिन का अन्न अभोज्य है उनका अन्न चमड़े, हड्डी और रोम के बराबर है, ऐसा विद्वान कहते हैं। अतएव इनमें किसी का अन्न अज्ञानता से खाकर तीस दिन उपवास करे और जानकर खाय तो कृच्छ्रव्रत करे, वीर्य, विष्टा और मूत्र खाने से भी यही प्रायश्चित्त करे। २२१-२२२।

नाद्याच्छूद्रस्य पक्वान्नं विद्वानश्राद्धिनो द्विजः।

आददीताममेवास्मादवृत्तावेकरात्रिकम् ॥ २२३ ॥

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः

मीमांसित्वोभ्यं देवाः सममन्नमकल्पयन् ॥ २२४ ॥

विद्वान ब्राह्मण को श्राद्धादि पंच यज्ञ के अनधिकारी शूद्र का पक्वान्न भी नहीं खाना चाहिए। किन्तु खाने की कोई वस्तु न मिलने पर एक रात के निर्वाह योग्य कच्चा अन्न उससे ले ले। एक वेद पढ़ा हुआ है पर कृपण है, दूसरा दाता है पर ब्याजखोर है देवताओं ने इन दोनों के गुण दोषों को विचार, दोनों के अन्न को तुच्छ बताया है। २२३-२२४।

तान्प्रजापतिराहैत्म मा कृध्वं विषमं समम्।

श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत् ॥ २२५ ॥

श्रद्धयेष्टं च पूतं च नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।

श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः ॥ २२६ ॥

(तब ब्रह्मा ने उन देवताओं से कहा-इन विषम अन्नों को सम मत करो, क्योंकि दाता का श्रद्धा से दिया अन्न पवित्र होता है और कृपण का अश्रद्धा से दिया हुआ अन्न दूषित होता है। इसलिए इष्ट और पूर्व कर्मों को सदा आलस्य रहित होकर श्रद्धापूर्वक करना चाहिये। न्यायोपार्जित धन से श्रद्धा द्वारा किये गए ये दोनों शुभ कर्म मोक्ष के कारण होते हैं। २२५-२२६।

दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्।

परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः ॥ २२७ ॥

यत्किञ्चिदपि दातव्यं याचितेनानसूयया।

उच्चत्स्यते हि तत्पात्रं यत्तारयति सर्वत्रः ॥ २२८ ॥

यज्ञ और पूर्व सम्बन्धी दान धर्म सत्पात्र को पाकर सदा प्रसन्न मन से यथाशक्ति करना चाहिए। किसी के याचना करने पर जो कुछ हो सके उसे श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, क्योंकि दानशील पुरुष के पास किसी दिन ऐसा पात्र भी (अतिथि) आ जायेगा जो सब पापों से उसका उद्धार कर देगा। २२७-२२८।

वारिदस्तृप्तिमाप्नोति सुखमक्षय्यमन्नदः।

तिलप्रदः प्रजामिष्टां दीपश्चक्षुरुत्तमम् ॥ २२९ ॥

भूमिदो भूमिमाप्नोति दीर्घमायुर्हिरण्यदः।

गृहदोऽग्रायाणि वेश्मानि रूप्यदो रूपमुत्तमम् ॥ २३० ॥

प्यासे को पानी देने वाला तृप्ति को, भूखे को अन्न देने वाला अक्षय्य सुख को, तिल दान करने वाला अभिलाषित सन्तान और दीपदान करने वाला उत्तम नेत्र प्राप्त करता है। भूमि देने वाला उत्तम भवन और चाँदी दान करने वाला सुन्दर रूप पाता है। २२९-२३०।

वासोदश्चन्द्र सालोक्यमश्विसालोक्यमश्वदः।

अनडुहः श्रिय पुष्टां गोदो ब्रह्मस्य विष्टपम् ॥ २३१ ॥

यानशय्याप्रदो भार्यामैश्वर्यमभयप्रदं।

धान्यदः शाश्वतं सौख्यं ब्रह्मदो ब्रह्मसार्ष्टिताम् ॥ २३२ ॥

वस्त्रदाता चन्द्रलोक, घोड़ा दान करने वाला अश्विनी कुमार लोक, वृषभ का दाता लक्ष्मी, गौदान करने वाला सूर्यलोक प्राप्त करता है। रथ और पलंग का दाता स्त्री को, अभयदाता ऐश्वर्य को, अन्नदाता चिरस्थाई सुख को और वेद की शिक्षा देने वाला ब्रह्मतुल्य गति को प्राप्त होता है। २३१-२३२।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकांचनसर्पिषाम् ॥ २३३ ॥

येन येन तु भावेन यद्यद्दानं प्रयच्छति।

तत्तत्तेनैव भावेन प्राप्नोति प्रतिपूजितः ॥ २३४ ॥

जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सोना और घी आदि सब में वेद का दान सबसे बढ़कर है। जिस-जिस भाव से जिस फल की इच्छा कर जो-जो दान करता है जन्मान्तर में सम्मानित होकर वह उन-उन वस्तुओं को

उसी भाव से पाता है। २३३-२३४।

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव च।

तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ २३५ ॥

न विस्मयेत तपसा वदेदिष्ट्वा च नानृतम्।

नार्तोऽप्यपवदेद्विप्रात्र दत्त्वा परिकीर्तयेत् ॥ २३६ ॥

जो दाता आदर से प्रतिग्राही को दान देता है और प्रतिग्राही आदर से उस दान को ग्रहण करता है वह दोनों स्वर्ग को जाते हैं। इससे विपरीत अपमान से दान देने वाला और दान लेने वाला दोनों नरक में जाते हैं। तपस्या करके आश्चर्य न करे और यज्ञ करके झूठ न बोले, विप्रों से पीड़ित होने पर भी उनकी निन्दा न करे और दान करके लोगों में उसकी ख्याति न करे। २३५-२३६।

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात्।

आयुविप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ॥ २३७ ॥

धर्मं शनैः संचिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः।

परलोकसहायतार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ २३८ ॥

यज्ञ झूठ बोलने से, तप आश्चर्य करने से, आयु ब्राह्मण की निन्दा करने से, दान लोगों के आगे कहने से क्षीण होता है। सभी प्राणियों को पीड़ा न देता हुआ परलोक सुधारने के लिये अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे धर्म को संचय करे। जैसे दीमक धीरे-धीरे मिट्टी की दीवार खड़ी करती है। २३७-२३८।

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।

न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥ २३९ ॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते।

एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतभेक एव च दुष्कृतम् ॥ २४० ॥

परलोक में माँ-बाप, स्त्री, पुत्र या हित-परिजन कोई भी सहायता नहीं करता, केवल धर्म ही सहायक होता है, इसलिए यत्नपूर्वक धर्म का संचय करना चाहिए। यह जीव अकेला आता है और अकेला ही यहाँ से जाता है, अकेला ही पुण्य-पाप का फल भी भोगता है। २३९-२४०।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।

विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥ २४१ ॥

तस्माद्धर्मं सहायतार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।

धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ २४२ ॥

मृत शरीर (लाश) को काठ और ढेले की तरह धरती पर छोड़कर बान्धव लोग मुंह फेरकर चले जाते हैं, केवल धर्म ही उसके पीछे-पीछे जाता है। इसलिए अपनी सहायता के लिए सदा धर्म का थोड़ा-सा संग्रह करना चाहिए। धर्म की सहायता से ही पुरुष घोर तम को पार करता है। २४१-२४२।

धर्मप्रधानं पुरुषं तपसां हतकिल्बिषम् ।

परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं स्वशरीरिणम् ॥ २४३ ॥

उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सह ।

निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ॥ २४४ ॥

तपस्या से जिसका पाप नष्ट हो चुका है ऐसे धर्म प्रधान ब्रह्मस्वरूप तेजस्वी पुरुष का धर्म ही ब्रह्मलोक को शीघ्र प्राप्त कराता है। अपने वंश की उन्नति करने की इच्छा रखने वाला पुरुष अच्छे कुल शील विद्या आचार वालों के साथ (विवाहादि) सम्बन्ध करे, पर नीचों के साथ कभी सम्बन्ध न करे। २४३-२४४।

उत्तमानुत्तमानाच्छहीनान्हीनश्च वर्जयन् ।

ब्राह्मणः श्रेष्ठतामेति प्रत्यवायेद शूद्रताम् ॥ २४५ ॥

दृढकारी मृदुर्दान्तः क्रूराचारैरसंवसन् ।

अहिंस्रो दमदानाभ्यां जयेत्वर्गं तथाव्रत ॥ २४६ ॥

हीन सम्बन्ध को त्यागकर उत्तम पुरुषों के साथ सम्बन्ध करने वाला ब्राह्मण श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। किन्तु इसके विपरीत आचरण अर्थात् नीचों के साथ सम्बन्ध करने से वह शूद्रता को प्राप्त होता है। दृढ़ संकल्प निष्ठरता से रहित सुख-दुःखादि द्वंद्वों को सहने वाला क्रूर कर्म करने वालों के संसर्ग से दूर रहने वाला किसी को न सताने वाला ऐसा व्रती पुरुष अपने इन्द्रिय

निग्रह और दान से स्वर्ग को जीत लेता है। २४५-२४६।

एधोदकं मूलफलमन्नभ्युद्यतं च यत्।

सर्वतः प्रतिगृहीयान्मध्वथाभयदक्षिणम् ॥ २४७ ॥

आहयाभ्युद्यतां भिक्षां पुरस्तादप्रचोदिताम्।

भेने प्रजापतिग्राह्यामपि दुष्कृतकर्मणः ॥ २४८ ॥

लकड़ी पानी फल मूल कच्चा अन्न और मधु तथा अभयदक्षिणा बिना मांगे कोई दे तो ग्रहण कर लेना चाहिए। घर पर लाई हुई सामने रखी हुई जो किसी से मांगी न गई हो और न किसी ने पहले उसके देने की बात कही हो ऐसी भिक्षा पापी की ओर से भी दी गई हो तो वह ले लेनी चाहिए। प्रजापति ने इस भिक्षा को ग्राह्य माना है। २४७-२४८।

नाशनन्ति पितरस्तस्य दश वर्षाणि पंच च।

न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ २४९ ॥

शय्यां गृहान्कुशानगन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि।

धाना मत्स्यान्ययो मांसं शाकं चैव न निनुदेत् ॥ २५० ॥

जो उस भिक्षा का अनादर करता है उसके पितर उसका दिया हुआ कव्य पन्द्रह वर्ष तक नहीं खाते और अग्नि भी उसका हव्य देवताओं के पास नहीं पहुँचाती। शय्या गृह कुश गंध (कपूर आदि) जल फूल मणि दही चबैना साग मछली और मांस कोई बिना मांगे दे तो उसे भी अस्वीकार न करे। २४९-२५०।

गुरुभृत्यांश्चोजिहोर्षन्नचिष्यन्देवतातिथीन् ।

सर्वतः प्रतिगृहीयान् तु तृप्येत्स्वयं ततः ॥ २५१ ॥

गुरुषु त्वभ्यतीतेषु विना वा तैर्गृहे वसन्।

आत्मनो वृत्तिमन्विच्छन्नगृहीयात्साधुतः सदा ॥ २५२ ॥

गुरुओं (माता-पिता आदि) और भृत्यों के पोषणार्थ तथा देवता और अतिथियों के पूजनार्थ सबसे (अर्थात् शूद्रादि से भी) दान ले, किन्तु उस धन या वस्तु का उपयोग स्वयं न करे। माँ बाप आदि गुरुजनों के न रहते

या उनके जीवित रहने पर उनसे पृथक् वास करने वाला पुरुष अपने निर्वाह के लिए सदा सज्जन पुरुष से ही दान ले। २५१-२५२।

आर्धिकः कुलमित्रं च गोपालो दासनापितौ।

एते शुद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्॥ २५३॥

यादृशोऽस्य भवेदात्मा यादृशं च विकीर्तितम्।

यथा चोपचरेदेनं तदात्मानं निवेदयेत्॥ २५४॥

खेत जोतने वाला कुल का मित्र गौओं का पालक टहलू नाई तथा आत्मसमर्पण करने वाला ये शूद्रों में भोज्यान्न हैं। अर्थात् इनका अन्न खाने में दोष नहीं है। उपर्युक्त शूद्रों की जैसी आत्मा हो जो करने की इच्छा हो जिस प्रकार सेवा करनी हो उस प्रकार शुद्ध भाव से पूर्व ही आत्म-निवेदन करे। २५३-२५४।

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते।

स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः॥ २५५॥

वाच्यार्था नियतः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनीःसुताः।

तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकुत्ररः॥ २५६॥

जो अपना परिचय साधुजनों को ठीक-ठीक नहीं देता है कुछ का कुछ कहता है—वह संसार में बड़ा पापी और चोर है। क्योंकि वह आत्मा का अपहरण करता है। सब शब्दार्थ (वाच्यार्थ) नियत हैं शब्द ही उनका मूल है शब्दों से ही उनके अर्थों का बोध होता है इसलिए शब्दों की जो मनुष्य चोरी करता है वह सब कुछ चुराने वाला होता है। २५५-२५६।

महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि।

पुत्रे सर्वं समासृज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः॥ २५७॥

एकाकी चिन्तयेन्नित्यं विविक्ते हितमात्मनः।

एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति॥ २५८॥

महर्षि पितर और देवता इनके ऋण से यथाविधि उत्तीर्ण होकर गृहस्थी का सागं भार पुत्र पर छोड़कर आप भव्य भाव का अवलम्बन

कर अर्थात् ममता को छोड़कर (घर पर) रहे और निर्जन स्थान में अकेले बैठकर अपने हित की चिन्ता (ब्रह्म भाव की चिन्ता) करे। इस प्रकार एकान्त में आत्मचिन्तन करने वाला परम-कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होता है। २५७-२५८।

एषोदिता गृहस्थस्य वृत्तिर्विप्रस्य शाश्वती।

स्नातकव्रतकल्पश्च सत्त्ववृद्धिकरः शुभः ॥ २५९ ॥

अनेन विप्रो वृत्तेन वर्तयन्वेदशास्त्रवित्।

व्यषेतकल्मषो नित्यं ब्रह्मलोके महीयते ॥ २६० ॥

गृहस्थ ब्राह्मण की यह नित्य वृत्ति कही गई है। (उसी प्रकार) सत्त्वगुणों को बढ़ाने वाले स्नातक व्रतों की शुभ विधि का वर्णन हुआ। वेदशास्त्र का ज्ञाता ब्राह्मण इस आचार का पालन करे तो सब पापों से मुक्त होकर ब्रह्मलोक में महान् उत्कर्ष को पाता है। २५९-२६०।

इति चतुर्थ अध्यायः ॥ ४ ॥



पांचवाँ अध्याय

श्रुत्वैतानृषयो धर्मान्स्नातकस्य यथोदितान्।
इदमूचुर्महात्मानमनलप्रभवं भृगम् ॥ १ ॥
एवं यथोक्तं विप्राणां स्वधर्ममनुतिष्ठताम्।
कथं मृत्युः प्रभवति वेदशास्त्रविदां प्रभो ॥ २ ॥

ऋषियों ने स्नातक के यथोक्त धर्म सुनकर अग्नि से उत्पन्न हुए महात्मा भृगु से यह कहा—इस प्रकार यथोक्त रीति से अपने धर्म में रत रहने वाले वेदशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों की (अकालावस्था में ही) मृत्यु क्यों हो जाती है। १-२।

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।
श्रूयतां येन दोषेण मृत्युर्विप्राज्जिघांसति ॥ ३ ॥
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राज्जिघांसति ॥ ४ ॥

मनु के पुत्र धर्मात्मा भृगुजी ने उन महर्षियों से कहा—जिस दोष से मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है वृह सुनिये। वेदों का अभ्यास न करने से, अपने आचार को छोड़ देने से आलस्य करने से, और दुषित अन्न खाने से मृत्यु ब्राह्मणों को मारने की इच्छा करती है। ३-४।

लशुनं गज्जनं चैव पलाण्डुं कवकानि च।
अभक्ष्याणि द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च ॥ ५ ॥

लोहितान्वृक्षनिर्यासान्वृश्चनप्रभवांस्तथा ।

शेलुं गव्यं च पेयूषं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥ ६ ॥

लहसुन गाजर प्याज छत्राक (भूकन्द) तथा अशुद्ध (विषा इत्यादि से होने वाले) पदार्थ द्विजातियों के लिए अस्वाद्य हैं। पेड़ से निकला हुआ लाल गोंद या पेड़ के काटने पर जो गोंद निकलता है लिसोड़े के फल गाय का पेयूष (दूध) ये सब यत्नपूर्वक त्याग दे। ५-६।

वृथा कृसरसंयायं पायसापूपमेव च ।

अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवीषि च ॥ ७ ॥

अनिर्दशाया गोः क्षीरमौष्ट्रमैकशफं तथा ।

आविकं संधिनीक्षीरं विवत्सायाश्च गौ पयः ॥ ८ ॥

अपने लिए पकाया हुआ कृसर संयाव (जो गेहूं का मैदा घी में भूनकर दूध और गुड़ में सिद्ध किया जाता है, पायस (खीर) मालपूआ यज्ञ मांस देवताओं के निमित्त रखा हुआ अन्न और हवि ये सब न खाये। ब्यायी हुई गाय का दूध ब्याने के दिन से दस दिन तक, ऊँटनी का घोड़ी का और भेड़ी का तथा उस गाय का दूध जो ऋतुमती होने के कारण वृष को चाहती हो और जिस गाय के बछड़ा न हो उसका भी दूध न पियें। ७-८।

आरण्यानां च सर्वेषां मृगाणां माहिषं विना ।

स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वशुक्तानि चैव हि ॥ ९ ॥

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसंभवम् ।

यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलं शुभैः ॥ १० ॥

भैंस को छोड़कर अन्य जंगली पशुओं का और स्त्री का दूध तथा विकृत हुए रसों (मट्ठा कांजी इत्यादि) को त्याग देना चाहिए। कांजियों में दही और दही की बनी छछ आदि और पानी में सिझाये फल-मूल आदि यदि विकृत हों तो वे भी नहीं खाने योग्य हैं। ९-१०।

क्रव्यादजाञ्छकुनान्सर्वास्तथा ग्रामनिवासिनः ।

अनिर्दिष्टाश्चैकशफांष्ट्रिद्विभं च विवर्जयेत् ॥ ११ ॥

कलविंक प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।

सारसं रज्जुवालं च दात्ययूहं शुक्सारिके ॥ १२ ॥

कच्चे माँस खाने वाले (गिद्ध आदि) और गाँव घर में रहने वाले (कबूतर आदि) पक्षी का माँस न खाय। जिनके नाम का निर्देश न किया गया हो ऐसे एक खुर वाले घोड़े और गधे आदि भी अभक्ष्य हैं। टिटहरी पक्षी का माँस वर्जित है। चटका गौरैया पपीहा हंस चकवा ग्रामकुक्कट बत्तख रज्जुवाल जलकाक सुग्गा और मैना-इन पक्षियों का माँस न खाय। ११-१२।

प्रतुदाञ्जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्करान्।

निमज्जतश्च मत्स्यादां शौनं वल्लूरमेव च ॥ १३ ॥

बंक चैव बलाका च काकोलं खञ्जरीटकम्।

मत्स्यादान्विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥ १४ ॥

कठफोड़ा और जिनके चंगुल झिल्ली से जुटे हों या जलमुरगा नख से विदीर्ण कर खाने वाला, बाज आदि और पानी में डूबकर मछली खाने वाला, पक्षी बकुला वध स्थान का मांस और सूखा मांस वर्जित है। बगुला बलक द्रोणकाक खंजन मछली खाने वाला जलजीव (मगर आदि) ग्राम्य शूकर और सब प्रकार की मछलियाँ न खायेँ। १३-१४।

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।

मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मामत्स्यान्विवर्जयेत् ॥ १५ ॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः।

राजीवासिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥ १६ ॥

जो जिसके माँस को खाता है वह उसका माँस खाने वाला कहलाता है। जो मछली खाता है वह सभी मांसों को खाने वाला होता है इसलिए मछली न खाय। पाठीन बुआरी और रोहित (रोहू) मछली हव्य-कव्य के लिए प्रशस्त कही गई है। राजीव सिंहतुण्ड और चोयटे वाली मछलियाँ खाद्य हैं। १५-१६।

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान्।

भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान्सर्वान्यञ्चनखास्तथा ॥ १७ ॥

श्वाविधं शभ्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा।

भक्ष्यान्प्रचनखेष्वाहुरनुष्टांश्चैकतोदतः ॥ १८ ॥

अकेले चलने और रहने वाले सर्पादि जीवों की भक्ष्यों में कहे गये वे पक्षी जो परिचित न हों और नख वाले प्राणियों (वानर आदि) को न खाय। पचनखियों में सेध साही गोह गेंडा कछुआ और खरहा तथा एक खुर और दांत वाले पशुओं में ऊँट को छोड़कर बकरे आदि भक्ष्य हैं ऐसा कहा है। १७-१८।

छत्राकं विड्बराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम्।

पलाण्डुं गुंजनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेदिद्वजः ॥ १९ ॥

अमत्यैतानि षट् जग्ध्वां कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत्।

यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥ २० ॥

गोबरछत्ता ग्राम्य शूकर ग्रामकुक्कुट लहसुन प्याज और गाजर जानकर खाने से द्विज पतित होता है। उपयुक्त छः वस्तुओं में से कोई वस्तु बिना जाने खा ले तो कृच्छ्र सान्तपन या यति-चान्द्रायण व्रत करे और शेष जितने अखाद्य कहे गए हैं उनमें कोई चीज खा लेने से एक दिन उपवास करे। १९-२०।

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः।

अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥ २१ ॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः।

मृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमणस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥ २२ ॥

ब्राह्मण को अज्ञात भक्षण के दोष शान्त्यर्थ वर्ष में कम से कम एक कृच्छ्रव्रत करना चाहिए। किन्तु जिसने जानवर खाया हो उसे विशेष रूप से व्रत करना चाहिए। ब्राह्मण यज्ञ के निमित्त यज्ञ अथवा भृत्यों के रक्षार्थ प्रशस्त पशु-पक्षियों का वध कर सकते हैं कारण अगस्त्य मुनि ने पहले ऐसा किया है। २१-२२।

वभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम्।

पुरोणेष्वपि यज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसर्वेषु च ॥ २३ ॥

यत्किञ्चित्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमर्गहितम्।

तत्पर्युषितमप्याद्यं हविशेषं च यद्भक्ष्यम् ॥ २४ ॥

पहले ऋषियों ने और ब्राह्मण-क्षत्रियों ने जो यज्ञ किए उनमें भी भक्ष्य पशु-पक्षियों के माँस के पुरोडाश हुए हैं। भक्ष्य (पकात्र) और भोज्य

पायसादि पदार्थ जो श्रेष्ठ हों वे बासी होने पर भी घृत दधि आदि से स्निग्ध करके खाने योग्य हैं। उसी प्रकार हवि का शेष भी बासी होने पर बिना घृतादि मिलाये खाने योग्य है। २३-२४।

चिरस्थितमपि त्वाद्यमत्नेहाक्तं द्विजातिभिः।

यवगोधूमजं सर्वं पतसश्चैव विक्रियाः॥ २५॥

एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः।

मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने॥ २६॥

यव गेहूँ और खोये की बनी हुई वस्तुएं तेल-घी का सम्बन्ध न हो तो वह बहुत दिनों की बनी हुई होने पर भी खाने योग्य हैं यदि बिगड़ी न हों। यहाँ तक द्विजातियों के भक्ष्याभक्ष्य का सम्पूर्ण विचार कहा गया है। अब माँस खाने और छोड़ने की विधि कहता हूँ। २५-२६।

प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्पया।

यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यपे॥ २७॥

प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्।

स्थावरं जङ्गमं चैव सर्पं प्राणस्य भोजनम्॥ २८॥

मन्त्रों से पवित्र किया हुआ माँस खाना चाहिए। ब्राह्मण को जब माँस खाने की इच्छा हो तो वह नियम से एक बार माँस खा सकता है। रुग्ण अवस्था में अन्य आहार से प्राणान्त होने के भय से खा सकता है। ब्रह्मा ने यह सब प्राण के लिए अन्न कल्पित किया है। स्थावर (अन्न फल आदि) और जंगल के पशु-पक्षी आदि सब प्राण के ही भोजन हैं। २७-२८।

चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।

अहस्ताश्च सहस्सानां शूराणां चैव भीखः॥ २९॥

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान्प्राणिनीऽहन्यहन्यपि।

धातैव सृष्टा ह्यद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च॥ ३०॥

चरों का अन्न (अक्षर तृण आदि, दाढ़ वालों का (व्याघ्र आदि) बिना दाढ़ के जीव हिरन आदि हाथ वाले मनुष्य का बिना हाथ के जीव मछली आदि और शूरो (सिंह आदि) जीवों के भीरु जीव भक्ष्य हैं। खाने वाला जीव प्रतिदिन पचने-खाने योग्य प्राणियों को खाकर ही दोष भागी नहीं होता

क्योंकि ब्रह्मा ने ही खाद्य और खादक दोनों का निर्माण किया है। २९-३०।

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः।

अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥ ३१ ॥

क्रीत्वा स्वयं वाप्युत्पाद्य परोपकृतमेव वा।

देवान्पितृश्चार्चयित्वा खादन्मांसं न दुष्यति ॥ ३२ ॥

यज्ञ के निमित्त माँस-भक्षण को दैव विधि कहा है। इसके विरुद्ध माँस भक्षण की प्रवृत्ति राक्षसी विधि है। खरीदकर या स्वयं कहीं से लाकर या सौगात की तरह किसी का दिया हुआ माँस देवता और पितरों को अर्पित कर खाय तो खाने वाला दोषी नहीं होता। ३१-३२।

नाद्यादविधिना मांसं विधिज्ञोऽनापदि द्विजः।

जग्ध्वा ह्यविधिना मांसं प्रेत्य तैरद्यतेऽवशः ॥ ३३ ॥

न तादृशं भवत्येनो मृगहन्तुर्धनार्थिनः।

यादृशं भवति प्रेत्य वृथामांसानि खादतः ॥ ३४ ॥

विधि को जानने वाला ब्राह्मण सुखावस्था में अविधि पूर्वक माँस न खाये क्योंकि अविधि से माँस खाने वाले को जन्मान्तर में वे प्राणी खा जाते हैं जिनका माँस उसने खाया था। धन के निमित्त मृग मारने को वैसा पाप नहीं लगता जैसा वृथा माँस खाने वाले को होता है। ३३-३४।

नियुक्तस्तु यथान्यायं यो मांसं नास्ति मानवा।

स प्रेत्य पशुतां याति षंभवानेकविंशतिम् ॥ ३५ ॥

असंस्कृतान्यशून्मन्त्रैर्नाद्याद्विप्रः कदाचन।

मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याज्याश्वतं विधिमास्थितः ॥ ३६ ॥

(श्राद्ध और मधुपर्क में) तथा विधि नियुक्त होने पर जो मनुष्य माँस नहीं खाता वह मरने के इक्कीस जन्म तक पशु होता है। ब्राह्मण कभी मन्त्रों से बिना संस्कार किए पशुओं का माँस न खाय सनातन विधि को मानता हुआ मन्त्रों में संस्कृत किये पशुओं का माँस खाय। ३५-३६।

कुर्यादघृतपशुं स्वङ्गे कुर्यात्पिष्टपशुं तथा।

न स्वेवं तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्कदाचन ॥ ३७ ॥

यावन्ति पशुरोमाणि तावत्कृत्वोहि मारणम्।

वृथापशुघ्नः प्राप्नोति प्रेत्य जन्मनि जन्मनि ॥ ३८ ॥

पशु माँस-भक्षण की यदि प्रबल इच्छा हो जावे तो घृत या मैदा का पशु बनाकर खाय किन्तु कभी भी पशु को व्यर्थ मारने की इच्छा न करे (अर्थात् अपने लिए कभी पशु हिंसा न करे) देवतादि के उद्देश्य के बिना वृथा पशुओं को मारने वाला मनुष्य मरने पर उन पशुओं की रोम संख्या के बराबर जन्म-जन्म में मारा जाता है। (इसलिए वृथा पशु हिंसा न करे)। ३७-३८।

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।

यज्ञस्य भूतयै सर्वस्य तास्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ ३९ ॥

औषध्यः पशवो वक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा।

यथार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृती पुनः ॥ ४० ॥

स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए और सब यज्ञों की समृद्धि के लिए पशुओं का निर्माण किया है इसलिए यज्ञ में पशुओं का वध (अहिंसा) है। औषध पशु वृक्ष कछुए आदि और पक्षी ये सब यज्ञ के निमित्त मारे जाने पर फिर उत्तम योनि में जन्म ग्रहण करते हैं। ३९-४०।

मधुपर्कं च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।

अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥ ४१ ॥

एष्वर्येषु पशून् हिंसन्वेदतत्त्वार्थविद्विजः।

आत्मानं च पशुं चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥ ४२ ॥

मधुपर्क ज्योतिष्टोमादि यज्ञ पितृकर्म और देवकर्म इन्हीं में पशु हिंसा करनी चाहिए अन्यत्र नहीं-यह मनु जी ने कहा है। पूर्वोक्त कर्मों में पशु की हिंसा करने वाले वेदज्ञ ब्राह्मण अपने को और उस पशु को उत्तम गति प्राप्त कराता है। ४१-४२।

गृहे गुरावण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः।

नावेदविहितां हिंसानापद्यपि समाचरेत् ॥ ४३ ॥

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिश्चराचरे।

अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्वर्धौ ॥ ४४ ॥

कर्मनिष्ठ द्विज गृह में गुरुकुल या वन में (अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में या गृहस्थाश्रम में या वानप्रस्थ आश्रम में) रहकर आपत्ति में भी वेद विरुद्ध हिंसा

न करे। जो हिंसा वेदविदित है और इस चराचर जगत में नियत है उसे अहिंसा ही समझना चाहिए। क्योंकि धर्म वेद से ही निकला है। ४३-४४।

योऽहिंसकानि भूतानी हितस्त्यात्मसुखेच्छया।

स जीर्वश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥ ४५ ॥

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिनां न चिकीर्षति।

स सर्वस्य हितप्रेप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ४६ ॥

जो मनुष्य अपने सुख की इच्छा से अहिंसक जीवों को मारता है वह इस जीवन में या जन्मान्तर में कहीं सुख नहीं पाता। जो जीवों को बाँधने मापने या क्लेश देने की इच्छा नहीं करता वह सब जीवों का हित चाहने वाला अत्यन्त सुख पाता है। ४५-४६।

यद्धयायति यत्कुरुते घृतिं बध्नाति यत्र च।

तदवात्मात्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन ॥ ४७ ॥

नाकृत्वाप्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।

न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत् ॥ ४८ ॥

जो किसी जीव को दुःख नहीं देता वह जिस धर्म को मन से चाहता है जो कर्म करता है जिस पदार्थ को चाहता है वह उसे अनायास ही प्राप्त होता है। जीवों की हिंसा बिना किए कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता। पशुओं का वध करना स्वर्ग प्राप्त्यर्थ नहीं होता इसलिए मांस खाना छोड़ देना चाहिए। ४७-४८।

समुत्पत्तिं च मांसस्य बधबन्धौ च देहिनाम्।

प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ४९ ॥

न भक्तयति यो मांसं विधिं हित्वा पिशाचवत्।

स लोके प्रियां याति व्याधिभिश्च न पीडयते ॥ ५० ॥

मांस की उत्पत्ति को और जीवों के वध-बन्धन को अच्छी तरह सोचकर सब प्रकार का मांस भक्षण भी त्याग देना चाहिए। जो विधि को छोड़कर पिशाच की तरह मांस नहीं खाता है वह संसार में सबका प्यारा होता है और रोग से पीड़ित नहीं होता। ४९-५०।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।

संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥ ५१ ॥

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।

अनभ्यर्च्यपितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ ५२ ॥

मारने की आज्ञा देने वाला, उसके खण्ड-खण्ड करने वाला, मारने वाला, बेचने और मोल लेने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला—ये आठों घातक हैं। जो देवता और पितरों का पूजन किए बिना दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है उससे बढ़कर पापी दूसरा कोई नहीं है। ५१-५२।

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेन शतं समाः ।

मांसानि च खादेद्यस्तयोः तुल्यफलं समम् ॥ ५३ ॥

फलमूलाशनैर्मध्येर्मुन्यन्नानां च भोजनैः ।

न तत्फलमवाप्नोति यन्मांसपरिवर्जनात् ॥ ५४ ॥

जो प्रत्येक वर्ष सौ वर्ष तक अश्वमेध यज्ञ करता है और जो बिल्कुल ही मांस नहीं खाता इन दोनों का पुण्यफल बराबर है। फल, मूल और मुनियों के हविष्यान्न खाने से वह फल नहीं मिलता जो केवल मांस छोड़ देने से मिलता है। ५३-५४।

मांसं भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादम्यहम् ।

एतन्मांसस्य मांसत्वं ग्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५५ ॥

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ ५६ ॥

मैं यहाँ जिसका मांस खाता हूँ परलोक में वह मुझे ही खायेगा। यही मांस का मांसत्व है ऐसा पण्डितों का कहना है। मांस खाने, मद्य पीने, और स्त्री-प्रसंग करने में दोष नहीं है क्योंकि प्राणियों की प्रवृत्ति ही ऐसी है।

परन्तु उससे निवृत्त होना महाफलदाई है। ५५-५६।

प्रेतशुद्धिं प्रवक्ष्यामि द्रव्यशुद्धिं तथैव च ।

चतुर्णामपि वर्णानां यथावदनुपूर्वशः ॥ ५७ ॥

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते ।

अशुद्धा बांधवाः सर्वे सूतके च तथोच्यते ॥ ५८ ॥

अब चारों वर्णों की प्रेत शुद्धि और द्रव्य शुद्धि क्रम से कहता हूँ। दाँत

निकलने पर और दौत निकलने के पीछे चूड़ाकरण और उपनयन के अनन्तर बालक की मृत्यु होने पर सपिण्ड व समानोदक बान्धव अशुचि होते हैं और किसी का जन्म होने पर भी उन्हें अशौच होता है। ५७-५८।

दशाहंशावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।

अर्याक् संचयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥ ५९ ॥

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।

समानोदकभावस्तु जन्मानाम्नोरवेदने ॥ ६० ॥

दायादों को दस दिन तक मरणा शौच होता है। अथवा अस्थिसंचय के पूर्व दिन या एक दिन-रत अशौच होता है। सातवें पुस्त सपिण्डता निवृत्ति होती है। जन्म और नाम के न जानने पर समानोदक भाव निवृत्त होता है। ५९-६०।

यथेदं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।

जननेऽप्येवमेव स्यान्निषुणं शुद्धिमिच्छताम् ॥ ६१ ॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्।

सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ ६२ ॥

सपिण्ड दायादों को जैसे दस दिन का मृतक अशौच का विधान है वैसे ही शुद्धि चाहने वाले सपिण्डों के जन्म सम्बन्धी अशौच का भी विधान है। मरणा शौच सभी सपिण्डों को होता है जनना शौच बाप को ही होता है। किन्तु माता रत तक अपवित्र रहती है और पिता स्नानमात्र से ही शुद्ध होता है। ६१-६२।

निरस्य तु पुमाञ्छुक्रमुपस्पृश्यैव शुद्ध्यति।

वैजिकादभिसम्बन्धादनुरुन्ध्यादघं त्र्यहम् ॥ ६३ ॥

तद्वा चैकेन रात्र्या च त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः।

शवस्पृहो विशुद्ध्यन्ति त्र्यहादुदकदाचिनः ॥ ६४ ॥

इच्छा से वीर्य स्खलन कर पुरुष स्नान करने से शुद्ध होता है। बीज के सम्बन्ध से परस्त्री में सन्तानोत्पत्ति होने पर तीन दिन तक अशौच होता है। जो एक दिन या तीन दिन के अशौचाधिकारी हैं वे यदि मोहवश शव स्पर्श करें तो वे दस दिन में शुद्ध होते हैं और समानोदक तीन दिन में। ६३-६४।

गुरोः प्रेतस्य शिष्यस्तु पितृमेधं समाचरन्।

प्रेतहारैः समं तत्र दशरात्रेण शुद्ध्यति॥ ६५॥

रात्रिभिर्मासतुल्याभिर्गर्भस्त्रावे विशुद्ध्यति।

रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला॥ ६६॥

गुरु के मरने पर उनका विगोत्र शिष्य दाहादि क्रिया करे तो वह उनके दाहक वाहक सपिण्डों के समान दस रात में शुद्ध होता है। गर्भस्त्राव होने पर जितने महीने का गर्भ हो उतनी संख्यक रात में स्त्री शुद्ध होती है। (यह व्यवस्था छः महीने तक के लिए है) रजस्वला साध्वी स्त्री रजनिवृत्ति होने पर स्नान से शुद्ध होती है। ६५-६६।

नृणामकृतचूडानां विशुद्धिर्नैशिकी स्मृता।

निवृत्तचूडकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते॥ ६७॥

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः।

अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादुते॥ ६८॥

मुंडन के पूर्व बालक की मृत्यु होने से दायादों को एक अहोरात्र और मुंडन के बाद उपनयन के पूर्व मृत्यु होने से तीन रात तक अशौच होता है। दो वर्ष से कम उम्र का बालक मर जाय तो बन्धुवर्ग उसे फूल-मालाओं से अलंकृत कर गाँव से बाहर पवित्र भूमि में रख (गाड़ दे)। उसका अस्थि संचय न करें। ६७-६८।

नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो न च कार्योदकक्रिया।

अरण्ये काष्ठवत्यक्त्वा क्षपेयुस्त्र्यहमेव च॥ ६९॥

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या बान्धवैरुदकक्रिया।

जातदन्तस्य वा कुर्युर्नाम्नि वापि कृते सति॥ ७०॥

उनका अग्नि संस्कार न करे और न उनकी उदक क्रिया ही करें उसे जंगल में लकड़ी की तरह त्याग^१ कर तीन दिन तक अशौच मानें। तीन वर्ष से कम उम्र के बालक के मरने पर उसे जलाँजलि न दे। जिसके

१. यद्यपि मनुजी ने त्याग मात्र करने को कहा है तथापि ऊनद्विवार्षिकं निखनेत् याज्ञवल्क्य के इस वचन के अनुसार उसे विशुद्ध भूमि में गाड़ देना चाहिए। एवं व्यवहार भी ऐसा ही है।

दाँत निकल आए हों और नामकरण हो गया हो उसकी उदक क्रिया और अग्नि-संस्कार करे। ६९-७०।

सब्रह्मचारिण्येकाहमतीते क्षपणं स्मृतम्।
जन्मन्येकोदकानां तु त्रिरात्राच्छुद्धिरिष्यते ॥ ७१ ॥
स्त्रीणामसंस्कृतानां तु त्रायाहाच्छुद्ध्यन्ति बांधवाः।
यथोक्तेनैव कल्पेन शुद्ध्यन्ति तु सनाभयः ॥ ७२ ॥

सहपाठी (ब्रह्मचर्य के साथी की मृत्यु से एक दिन अशौच होता है।) समानोदकों के यहाँ पुत्र जन्म होने से तीन दिन अशौच होता है। अविवाहिता कन्या वाग्दान के अनन्तर मर जाये तो उसका भावी पति और देवर आदि तीन दिन में शुद्ध होते हैं और उनके पितृ पक्ष वाले भी उसी पूर्वोक्त व्यवस्था के अनुसार अर्थात् तीन दिन में शुद्ध होते हैं। ७१-७२।

अक्षारलवणात्राः स्युर्निर्मज्जेयुश्च ते त्र्यहम्।
मांसाशनं च नाशनीयुः शयीरंश्च पृथक् क्षितौ ॥ ७३ ॥
सन्निधावेषः वै कल्पः शावाशौचस्य कीर्तितः।
असन्निधावयं ज्ञेयो विधिः सम्बन्धिवान्धवैः ॥ ७४ ॥

मृताशौच में क्षार लवण (कृत्रिम लवण) न खाय, तीनों दिन नदी या झील में स्नान न करे माँस न खाय धरती पर अकेला न सोए। मृता शौच की यह विधि मृत पुरुष के सन्निधि (अर्थात् एक स्थान में) रहने वालों के लिए कही गई। दूरस्थ बन्धु-बान्धवों के लिए अशौच की विधि यह है:-

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्योह्यनिदर्शनम्।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ ७५ ॥
अतिक्रान्ते दशाहे च त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।
संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्टवैवापो विशुद्ध्यति ॥ ७६ ॥

दशाहा शौच के भीतर विदेशस्थ दायाद की मृत्युवार्ता सुनने पर दशाह में जितने दिन बाकी रहे उतने दिन अशौच होता है। दशाह बीत जाने पर मृत्युवार्ता होने से त्रिरात्र शौच होता है। वर्ष बीत जाने पर स्नान करने से ही शुद्धि होती है। ७५-७६।

निदशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च।

सवासा जलामाप्नुत्य शुद्धो भवति मानवः ॥ ७७ ॥

गाले देशान्तरस्थे च पृथक्पिण्डे च संस्थिते।

सवासा जलमाप्नुत्य सद्य एव विशुद्ध्यति ॥ ७८ ॥

दशाह के अनन्तर सपिण्ड दायाद का मरण या पुत्र जन्म समाचार सुनकर मनुष्य उस समय शरीर पर जो कपड़े हों उनके सहित जल में स्नान कर लेने से शुद्ध हो जाता है। असपिण्ड (समानोदक) बालक के देशान्तर में मर जाने की वार्ता पाकर तुरन्त वस्त्र सहित स्नान करने से शुद्ध होता है। ७७-७८।

अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्युनर्मरणजन्मनी।

तावत्स्यादशुचिर्विप्रौ यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ ७९ ॥

त्रिरात्रमाहुराशौचमाचार्ये संस्थिते सति।

तस्य पुत्रे च पत्न्यां च दिवारात्रमिति स्थितिः ॥ ८० ॥

दस दिन के भीतर यदि मरण शौच में पुनः दूसरा मरण और जनना शौच में दूसरा जन्म हो जाय तो ब्राह्मण पूर्व के दशाहा शौच में पूरा होने तक अशुद्ध रहता है। आचार्य के मरने पर तीन दिन अशौच कहा है। किन्तु उनके पुत्र या स्त्री की मृत्यु होने पर एक अहोरात्र (एक दिन रात) अशौच होता है यही शास्त्र की आज्ञा है। ७९-८०।

श्रोत्रिये तूपसंपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्।

मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यत्विग्बान्धवेषु च ॥ ८१ ॥

प्रेते राजनि सज्योतिर्धस्य स्याद्विषये स्थितः।

अश्रोत्रिये त्वहः कृत्स्नमनूचाने तथा गुरौ ॥ ८२ ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला कोई पुरुष किसी के घर पर मर जाये तो उसको त्रिरात्रा शौच होता है। मामा यज्ञ पुरोहित बान्धव और शिष्य की मृत्यु होने पर पक्षिणी अर्थात् दो दिन और एक रात अशौच होता है। जिस राज्य में ब्राह्मण निवास करते हों उस राजा की मृत्यु होने की वार्ता दिन को मिले तो सूर्यदर्शन और रात को मिले तो तारे जब तक दिखाई न दें तब तक अशौच होता है। वेदशास्त्र न जानने वाला दिन को जिसके घर

मरे उसे सारा दिन और रात में मरे तो सारी रात अशौच होता है। साँग वेदाध्यायी गुरु के मरने पर भी ऐसे ही एक दिन या एक रात अशौच जानना। ८१-८२।

शुद्धयेद्विप्रो दशाहेन द्वदशाहेन भूमिपः।

वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रो भासेन शुद्ध्यति॥ ८३॥

न वर्धयेदधाहानि प्रत्यूहेन्नाग्निषु क्रियाः।

न च तत्कर्म कुर्वाणः सधाभ्योप्यऽशुचिर्भवेत्॥ ८४॥

सपिण्ड के मरण या जन्म में ब्राह्मण दस दिन में क्षत्रिय बारह दिन में वैश्य पन्द्रह दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है। अशौच के दिन न बढ़ाने चाहिए और अग्निहोत्र की क्रिया में बाधा नहीं डालनी चाहिए उस कर्म को करता हुआ सपिण्ड भी अपवित्र नहीं होता। ८३-८४।

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिका तथा।

शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति॥ ८५॥

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने।

सौरान्मंत्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः॥ ८६॥

चाण्डाल रजस्वला पतित प्रसूतिका शव (मुद्रा) और शव के स्पर्शकर्ता को छूकर स्नान मात्र से ही शुद्धि होती है। स्नान आचमन आदि करने के बाद चाण्डाल आदि अपवित्र लोगों पर दृष्टि पड़े तो वह यथासाध्य सूर्य को मन्त्र (उदुस्यं जातवेद समित्यादि) और यथाशक्ति पावमानी (पुनन्तु माँ इत्यादि) मन्त्र जपे। ८५-८६।

वारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुद्ध्यति।

आचम्यैव तु निःस्नेहं गामालभ्यार्कमाक्ष्य वा॥ ८७॥

आदिष्टी नोदकं कुर्यादाव्रतस्य समापनात्।

समाप्ते तूदकं कृत्वा त्रिरात्रेणैव शुद्ध्यति॥ ८८॥

मनुष्य की मज्जा सहित हड्डी छूकर ब्राह्मण स्नान करने से शुद्ध होता है। सूखी हड्डी छूने पर आचमन करके गाय का स्पर्श कर या सूर्य देखकर शुद्ध होता है ब्रह्मचारी अपने व्रत की समाप्तिपर्यन्त प्रेत की उदक क्रिया न करे। ब्रह्मचर्य समाप्त होने पर वह प्रेत

को जलौंजलि देकर तीन रात में शुद्ध होता है। ८७-८८।

वृथासंकरजातानां पुत्रज्यासु च तिष्ठताम्।

आत्मनस्त्यागिनां चैव निवर्तंतोदकक्रिया ॥ ८९ ॥

पाषाण्डमाश्रितानां चरन्तीनां च कामतः।

गर्भभर्तृद्रुहां चैव सुरापीनां च योषिताम् ॥ ९० ॥

जिन्होंने अपने धर्म को छोड़ दिया हो जो प्रतिलोम वर्णसंकर हों जो संन्यासी हो गए हों जिन्होंने स्वेच्छ से आत्महत्या कर ली हो उनको जलांजलि न देना चाहिए। जो स्त्रियाँ पाखण्डी हों, स्वेच्छाचारिणी हों, गर्भ नष्ट करने वाली तथा पति से द्रोह करने वाली हों और मद्य पीती हों उनकी उदक क्रिया न करे। ८९-९०।

आचार्य स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरुम्।

निर्हृत्य तु व्रती प्रेतात्र व्रतेन वियुज्यते ॥ ९१ ॥

दक्षिणेन मृतं शूद्रं पुरारेण निर्हरेत्।

पश्चिमोत्तरपूर्वेस्तु यथायोगं द्विजन्मनः ॥ ९२ ॥

अपने आचार्य उपाध्यक्ष पिता माता गुरु इनके शव (मृतक शरीर) ढोने से ब्रह्मचारी का व्रत लोप नहीं होता। मृत शूद्र को नगर के दक्षिण द्वार से, वैश्य को पश्चिम, क्षत्रिय को उत्तर और ब्राह्मण को पूर्व द्वारा से श्मशान ले जाये। ९१-९२।

न राज्ञामधदोषोऽस्ति व्रतिनां न च सत्रिणाम्।

ऐन्द्रं स्थानमुपासीना ब्रह्मभूता हि ते सदा ॥ ९३ ॥

राज्ञो माहात्मिके स्थाने सद्यः शौचं विधीयते।

प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणम् ॥ ९४ ॥

राजाओं को सपिण्ड के मरण-जनन के अशौच का दोष नहीं होता क्योंकि वे इन्द्र के स्थान का अधिकार पाये रहते हैं। व्रती (ब्रह्मचारी और चान्द्रायण आदि व्रत करने वाले) और यज्ञ करने वाले को अशौच नहीं होता क्योंकि ब्रह्मरूप के समान ये निष्पाप होते हैं। राज सिंहासन पर विराजमान होने के कारण राजा की सद्यःशुद्धि कही गई है। प्रजाओं की रक्षा के लिए राज सिंहासन पर बैठना ही इसका कारण जानना चाहिए। ९३-९४।

डिम्भाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च।

गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः॥ ९५॥

सोमान्नर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्यत्योर्यमस्य च।

अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृतः॥ ९६॥

जिस युद्ध में राजा नहीं होता ऐसे युद्ध में जो मारे गए हों, वज्रपात से जिनकी मृत्यु हो राजा ने जिन्हें प्राणदण्ड दिया हो, गाय और ब्राह्मण के रक्षार्थ जिन्होंने प्राण दे दिया हो और राजा जिन्हें चाहता हो कि अशौच न हो तो उन्हें सद्य-शौच (तत्काल शुद्धि) होता है। चन्द्रमा, अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम आठों लोकपालों का वास राजा के शरीर में होता है। ९५-९६।

लोकेशाधिष्ठितो राजा नाश्याशौचं विधीयते।

शौचाशौचं हि मर्त्यानां लोकेशप्रभवाप्ययम्॥ ९७॥

उद्यतैराहभे शस्त्रैः क्षत्रधर्महतस्य च।

सद्यः संतिष्ठते यज्ञस्तथाशौचमिति स्थितिः॥ ९८॥

राजा के शरीर के लोकपालों का अंश अधिष्ठित होने के कारण उसे अशौच का दोष नहीं होता। कारण, मनुष्य का जो शौच अशौच है लोकपालों से ही उत्पन्न होता है और नाश होता है। युद्ध में शस्त्रों के द्वारा क्षत्रधर्म से जो मारा जाता है, उसे सभी यज्ञ का फल और सद्य-शुद्धि प्राप्त होती है ऐसा शास्त्र का सिद्धान्त है। ९७-९८।

विप्रः शुद्ध्यत्यपः स्पृष्ट्वा क्षत्रियो वाहनायुधम्।

वेश्य प्रतोदं रश्मीस्वा यष्टिं शूद्रः कृतक्रियः॥ ९९॥

एतद्वोऽभिहितं शौचं सपिण्डेषु द्विजोत्तमाः।

असपिण्डं सर्वेषु प्रेतशुद्धिं निबोधत॥ १००॥

ब्राह्मण श्राद्धादि कर्म करके दाहिने हाथ से जल छूकर, क्षत्रिय, वाहन और अस्त्र, वैश्य चाबुक या लगाम और शूद्र बाँस की लाठी छूने से शुद्ध होता है। हे मुनिगण! यह अशौच मैंने सपिण्डों के मरने का कहा। अब असपिण्डों की प्रेत शुद्धि कहता हूँ, सो सुनिये। ९९-१००।

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत्।

विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तोश्च बांधवान्॥ १०१॥

यद्यन्नमन्ति तेषां तु दसाहेनैव शुद्ध्यति।

अनदन्नन्नसहनैव न चेत्तक्षिन्गृहे वसेत् ॥ १०२ ॥

असपिण्ड ब्राह्मण के शव को बान्धव की भाँति दोने और मातृपक्ष के समीपी सम्बन्धी (मामा, मौसी, बहन आदि) का शव दोने से तीन रत की शुद्धि होती है। मृत को उठाने वाले यदि उसके साथ सपिण्ड का अन्न खाये तो वह दस दिन में शुद्ध होता है। यदि अशौचान्न न खाए और उसके घर न रहे तो वह एक अहोरात्र में शुद्ध होता है। १०१-१०२।

अनुगम्येच्छया प्रेतं ज्ञातिमत्रातिमेव च।

स्नात्वा सचैलः स्पृष्ट्वाग्निं वृतं प्राश्य निशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥

न विप्रं स्वेषु तिष्ठत्सु मृतं शूद्रेण नापयेत्।

अस्वर्ग्या ह्याहुतिः सा स्याच्छद्रसंस्पर्शदूषिता ॥ १०४ ॥

सपिण्ड या असपिण्ड मृतक के पीछे-पीछे कोई अपनी इच्छा से जाय, तो सचैल स्नान के बाद अग्नि का स्पर्श और घी खा लेने से शुद्ध हो जाता है। आत्मीय लोगों के रहते हुए मरे हुए ब्राह्मणों को शूद्र से न उठवाएँ, क्योंकि शूद्र के स्पर्श से दूषित होने के कारण मृतक का वह दह्य शरीर स्वर्ग निमित्तक नहीं होता। १०३-१०४।

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृगमनो वार्युषाञ्जनम्।

वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तृणि देहिनाम् ॥ १०५ ॥

सर्वेषामेव शौचानामथशौचं परं स्मृतम्।

योऽयं शुचिर्हि स शचिर्न मृद्धारिशुचिः शुचिः ॥ १०६ ॥

ज्ञान, तप, अग्नि, भोजन, मिट्टी, मन, जल, उपलेपन, वायु, कर्म, सूर्य और काल, देहधारियों को पवित्र करने वाले होते हैं। सब शौचों में अर्थशौच को महर्षियों ने श्रेष्ठ कहा है जो अर्थ (द्रव्य) सम्बन्ध में शुद्ध है। केवल मृत्तिका और जल से शुद्ध भी शुद्ध नहीं है। १०५-१०६।

क्षान्त्या शुद्ध्यन्ति विद्वांसो दानेनाकार्यकारिणः।

प्रच्छन्नापापा जप्येन तपसा येदवित्तमाः ॥ १०७ ॥

मृत्तोयैः शुद्ध्यन्ते शोध्यं नदी वेगेन शुद्ध्यति।

रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमा ॥ १०८ ॥

क्षमा से विद्वान, दान से अकर्म करने वाले, जप से गुप्त पातक और तप से वेद जानने वाले शुद्ध होते हैं। मल से दूषित पदार्थ, मिट्टी और जल से शुद्ध होता है। नदी अपने प्रवाह के वेग से शुद्ध होती है। दूषित मन वाली स्त्री रज से (मासिक धर्म से) और ब्राह्मण संन्यास धर्म के आचरण से शुद्ध होता है। १०७-१०८।

अदिभर्गात्राणि शुद्ध्यन्तिः मनः सत्येन शुद्ध्यति।

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ १०९॥

एष शौचस्य वः प्रोक्तः शरीरस्य विनिर्णयः।

नानाविधानां द्रव्याणां शुद्धेः शृणुत निर्णयम्॥ ११०॥

शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। यह शरीर-सम्बन्धी शौच की व्यवस्था कही। अब विविध प्रकार के द्रव्यों की शुद्धि जैसे होती है उसका निर्णय कहता हूँ, सुनिये। १०९-११०।

तैजसानां मणीनां च सर्वस्याश्ममयस्य च।

भस्मानादिर्मुदा चैव शुद्धिरुक्ता मनीषिभिः॥ १११॥

निलैपं काञ्चनं माण्डमदिभरेव विशुद्ध्यति।

अब्जमम्ममयं चैव राजतं चानुपरकृतम्॥ ११२॥

सुवर्ण आदि धातुओं, मणियों और पत्थर के बने सब पदार्थों की शुद्धि भस्म जल और मिट्टी से होती है ऐसा पण्डितों ने कहा है। सोने का बर्तन बिना कलई का जल से उत्पन्न होने वाला शंख और मूँगा आदि पत्थरों के बने पात्र चाँदी के सादे बर्तन केवल पानी से ही शुद्ध होते हैं। १११-११२।

अपामग्नेश्च संयोगाद्धेमं रौप्यं च निर्वभो।

तत्मातृयोः स्वयोन्यैव निर्णेको गुणवत्तरः॥ ११३॥

ताम्रायः कांस्यैरत्यानां त्रपुणः सीसकस्य च।

शौचं यथाहं कर्तव्यं क्षारोम्लोदकवारिभिः॥ ११४॥

अग्नि और जल के संयोग से सोना और चाँदी उत्पन्न होते हैं इसलिए दोनों की शुद्धि अपने उत्पादक (जल और अग्नि) के द्वारा ही श्रेष्ठ होती है। ताँबा, लोहा, काँसा, पीतल, राँगा और शीशा इनकी यथायोग्य क्षार,

खट्यई और जल से शुद्धि करनी चाहिए। ११३-११४।

द्रवाणां चैव सर्वेषां शुद्धिरुत्पवनं स्मृतम्।

प्रोक्षणं सहतानां च दारवाणां च तक्षणम्॥ ११५॥

मार्जनं यज्ञपात्राणां पाणिनां यज्ञकर्मणि।

चमसानां गृहाणां च शुद्धिः प्रक्षालनेन तु॥ ११६॥

द्रव्य (घी तेल आदि) पदार्थों की शुद्धि उत्पलवन से अर्थात् पवित्र कुश द्वारा उसके ऊपर का कुछ भाग फेंक देने से दरी कम्बल आदि की शुद्धि जल के द्वारा पोंछने से और काठ की बनी वस्तुओं की शुद्धि उस पर रंदा फेर देने से होती है। यज्ञ पात्रों की शुद्धि हाथ से झाड़ देने से होती है। यज्ञ कर्म में चमस, ग्रह आदि पात्रों की शुद्धि धोने से होती है। ११५-११६।

चरूणां सुवस्त्रुवाणां च शुद्धिरुष्णेन वारिणा।

रप्यशूर्पशकटानां च मूसलोलूखलस्य च॥ ११७॥

अदिभस्तु प्रोक्षणं शौचं बहूनां धान्यवाससाम्।

प्रक्षालनेन त्वल्पानामदिभः शौचं विधियते॥ ११८॥

चरु अर्थात् हवि बनाने का पात्र सुक् और सुवा तथा रप्य (खड़ाकार काष्ठनिर्मित पात्र विशेष) शूर्प, शकट, ऊखल और मूसल की शुद्धि गरम पानी से होती है। अन्न और वस्त्रों का ढेर स्पर्शादि दोष से दूषित होने पर जल छिड़कने से शुद्ध होता है और थोड़ा रहे तो उनकी शुद्धि धोने से होती है। ११७-११८।

चैलवच्यमणां शुद्धिर्वैदलानां तथैव च।

शाकमूलफलानां च धान्यवच्छुद्धिरिष्यते॥ ११९॥

कौसेयाविकयोरुषैः कुतपानामारिष्टकैः।

श्रीफलैरशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः॥ १२०॥

स्पृश्य चमड़ों की और बाँस आदि के पत्तों की बनी वस्तुओं की शुद्धि वस्त्र की तरह और साग, फल, मूल की शुद्धि अन्न की तरह होती है। रेशमी और ऊनी कपड़ों की शुद्धि खारी मिट्टी से, नेपाली कम्बलों की रीठों से, सन के बने वस्त्रों की शुद्धि बेल से और अलसी के बने वस्त्रों की शुद्धि पीली सरसों के चूर्ण से होती है। ११९-१२०।

क्षौमवच्छंखशृङ्गाणामस्थिदन्तमयस्य च ।

शुद्धिविंजानता कार्या गोमूत्रेणोदकेन वा ॥ १२१ ॥

प्रोक्षणातृणकाष्ठं च पलालं चैव शुद्ध्यति ।

मार्जनोपार्जनैर्वैश्व पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२२ ॥

शंख और सींग, हड्डी तथा हाथी के दाँतों की शुद्धि, सननिर्मित वस्त्र के समान ही है इसमें गो मूत्र या जल का योग करना चाहिए। तिनके लकड़ी और पुआल की शुद्धि जल के छींट देने से होती है। घर बुहारने और लीपने से और मिट्टी का बर्तन पुनः आग में पकाने से शुद्ध होता है। १२१-१२२।

मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैर्वा ष्ठीवनैः पूयशोणितैः ।

संस्पृष्टं नैव शुद्ध्येत पुनः पाकेन मृन्मयम् ॥ १२३ ॥

संमार्जनोपाञ्जनेन सेकेनोल्लेखनेन च ।

गवां च परिवासेन भूमिः शुद्ध्यति पञ्चभिः ॥ १२४ ॥

किन्तु जिस मिट्टी के बर्तन में मद्य, मूत्र, विष्टा, थूक, लहू और गद लग जाय, वह पुनः आग से भी शुद्ध नहीं होता। झाड़ने-बुहारने लीपने गोमूत्र वा गंगाजल आदि छिड़कने, ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर फेंक देने और गौओं को रखने से-इन पाँच प्रकार से भूमि शुद्ध होती है। १२३-१२४।

पक्षिजग्धं गवाघातमवधूतमवक्षुतम् ।

दूषितं केशकीटैश्च मृत्प्रक्षेपेण शुद्ध्यति ॥ १२५ ॥

यावन्नापैत्यमेध्याक्तद्गन्धो लेपश्च तत्कृतः ।

तावन्मृद्धारि चोदयं सर्वासु द्रव्यशुद्धिषु ॥ १२६ ॥

जिस अन्न को साधारण पक्षियों ने जूठा कर दिया हो, गाय ने जिसे सूँघा हो जिस पर किसी ने छींका हो जिसमें केश और क्रीड़े पड़ गये हों वह मिट्टी डालने से शुद्ध होता है। किसी कपड़े आदि में विष्टादिक अपवित्र वस्तु लग जाए, तो जब तक उसका दाग और गन्ध दूर न हो तब तक मिट्टी और पानी से उसे शुद्ध करना चाहिए। १२५-१२६।

त्रीणि देवाः पवित्राणि ब्रह्मणानामकल्पयन् ।

अदृष्टमदिभर्निणिक्तं यच्च वाचा प्रशस्यते ॥ १२७ ॥

आपः शुद्धा भूमिगता वैतृष्यं यासु गोर्भवेत्।

अव्याप्ताश्चेदमेध्येन गन्धवर्णरसान्विताः ॥ १२८ ॥

देवताओं ने ब्राह्मण के लिए तीन वस्तुओं को शुद्ध कहा है— जिसकी अपवित्रता आँख से न देखी हो जो जल से धोई हो और जो ब्राह्मण की वाणी से प्रशस्त कही गई हो। धरती पर जल यदि अपवित्र वस्तुओं से मिला हुआ न हो सुगन्ध वर्ण और रस से युक्त हो और जो इतना हो कि गाय अपनी प्यास बुझा सके तो उसे शुद्ध समझना चाहिए। १२७-१२८।

नित्यं शुद्ध कारुहस्तः षण्डे यच्च प्रसारितम्।

ब्रह्मचारिगतं भक्ष्यं नित्यं मेध्यमिति स्थितिः ॥ १२९ ॥

नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां शकुनिः फलपातने।

प्रस्रवे च शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥ १३० ॥

कारीगर का हाथ, बाजार में पसारकर रखे हुए पदार्थ और ब्रह्मचारियों को प्राप्त भिक्षा से सदा शुद्ध हैं। स्त्रियों का मुख सदा शुद्ध होता है। पक्षियों द्वारा चोंच मारकर गिराया हुआ फल, दूध दूहने में बछड़े का मुँह और हिरन पकड़ने में कुत्ता शुद्ध होता है। १२९-१३०।

श्वभिर्हतस्य यन्मांसं शुचि तन्मनुरब्रवीत्।

कव्यादिभश्चहतस्यान्यैश्चण्डालाद्यैश्च दस्युभिः ॥ १३१ ॥

ऊर्ध्वं नामेर्यानि खानि तानि मेध्यानि सर्वशः।

यान्यधस्तोन्यमेध्यानि देहाच्चैव मलाच्युताः ॥ १३२ ॥

कुत्तों के द्वारा मारे गए हिरण आदि का माँस और कच्चा माँस खाने वाले हिंस्र जन्तुओं तथा चाण्डाल व्याध आदि के द्वारा जो मृग आदि पशु मारे जाते हैं उनका माँस शुद्ध है; यह मनुजी ने कहा है। नाभि के ऊपर शरीर में जितने छिद्र हैं वे सब शुद्ध हैं और उसके नीचे वाले सभी छिद्र अशुद्ध हैं। देह से निकले हुए मैल भी अशुद्ध होते हैं। १३१-१३२।

पक्षिका विप्रुषश्छाया गौरश्वः सूर्यरश्मयः।

रजो भूर्वायुरग्निश्च स्पर्शं मेध्यानि निर्दिशेत् ॥ १३३ ॥

विण्मूत्रोत्सर्गशुद्ध्यर्थं मृद्वार्यादेयमर्थवत्।

दैहिकानां मलानां य शुद्धिषु द्वादशस्वपि ॥ १३४ ॥

मक्खी के मुंह से निकले हुए छोटे जल कण छाया गौ घोड़ा सूर्य की किरण धूल धरती वायु और अग्नि को स्पर्श में शुद्ध जानना चाहिए। मल मूल त्याग करने पर देह से उत्पन्न बाहर मलों की शुद्धि के लिए प्रयोजन के अनुसार मिट्टी और जल लेना चाहिए। १३३-१३४।

वसा शुक्रमसृङ्-मज्जा मूत्राविद्घाणकर्णविद्।

श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः॥ १३५॥

एका लिंगे गुदे तिस्रस्तथैकत्र करे दश।

उभयोः सप्त दातव्या मृदुः शुद्धिमभीप्सता॥ १३६॥

चूबी, वीर्य, लहू, मज्जा, पेशाब, विष्णु, नाक-कान के मल, कफ, आँसू, आँखों का कीच और पसीना ये मनुष्य के बारह दैहिक मल हैं। शुद्धि चाहने वाले को चाहिए कि लिंग में एक बार और मलद्वार में तीन बार बायें हाथ में दस बार और दोनों हाथों में सात बार मिट्टी लगाकर जल से धोयें। १३५-१३६।

एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।

त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्॥ १३७॥

कृत्वा मूत्रं पुरीषंवा खान्याचान्त उपस्पृशेत्।

वेदमध्येष्यमाणश्च अन्नमश्नंश्च सर्वदा॥ १३८॥

यह शौच गृहस्थों का है ब्रह्मचारियों का इसका दुगुना वानप्रस्थों को त्रिगुना और संन्यासियों को चौगुना शौच करना चाहिए। मूत्र या मल करके शौचादि से निवृत्त हो जो वेद पढ़ना भोजन करना चाहे तो आचमन करके इन्द्रियों के छिद्रों (आँख कान आदि) का स्पर्श करे। १३७-१३८।

त्रिराचामेदपः पूर्वं प्रमृज्यात्ततो मुखम्।

शरीरं शौचमिच्छन् स्त्री शूद्रस्तु सकृत्सकृत्॥ १३९॥

शूद्राणां मासिकं कार्यं वपनं न्यायवर्तिनाम्।

वैश्यवच्छौचकल्पश्च द्विजोच्छिष्टं च भोजनम्॥ १४०॥

शरीर के शुद्धयर्थ पुरुष पहले तीन बार आचमन करे और दो बार मुंह धोये किन्तु स्त्री और शूद्र एक-एक बार करे। शास्त्रोक्त नियम के अनुसार रहने वाले शूद्रों को महीने-महीने सिर के बाल बनवाने चाहिए,

जन्म-मरण में वैश्य के समान शौच क्रिया करनी चाहिए और द्विज का उच्छिष्ट खाना चाहिए। १३९-१४०।

नोच्छिष्टं कुर्वते मुख्या विप्रुषोऽर्गे पतन्ति याः।

न श्मश्रूणि गतान्यास्यं न दन्तान्तरधिष्ठितम्॥ १४१॥

स्पृशन्ति विन्दवः पादौ य आचामयतः परान्।

भौमिकैस्ते समा ज्ञेया न तैराप्रयतो भवेत्॥ १४२॥

मुख से निकले जलकण देह पर पड़े तो उनसे शरीर जूटा नहीं होता। दाढ़ी-मूँह के बाल मुँह में प्रविष्ट होने पर और दाँतों के बीच में अट्का हुआ अन्न मुँह को जूटा नहीं करता। दूसरों को आचमन कराते समय पैरों पर जल के छींटे पड़े तो उन्हें भूमिष्ठ जल के समान जाने, उससे शरीर अशुद्ध नहीं होता। १४१-१४२।

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन।

अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात्॥ १४३॥

वान्तो विरिक्तः स्नात्वा तु घृतप्रासनमाचरेत्।

आचामेदेव भुक्त्वान्नं स्नानं मैथुनिनः स्मृतम्॥ १४४॥

हाथ में कोई चीज लिए हुए जूटे मुँह वाले से किसी तरह स्पर्श हो जाए तो उस चीज को बिना रखे ही आचमन करने से शुद्धि होती है। वमन और विरेचन (जुलाब) होने पर स्नान करके घी पिये, भोजन के पीछे वमन होने से केवल आचमन करे। ऋतुमती स्त्री के साथ रमण करने पर स्नान करना चाहिए। १४३-१४४।

सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्टीव्योक्त्वानृतानि च।

पीत्वापोऽध्येश्यमाणष्व आचामेत्प्रयतोऽपिसन्॥ १४५॥

एष शौचविधिः कृत्स्नो द्रव्यशुद्धिस्तथैव च।

उक्तो वः सर्ववर्णानां स्त्रीणां धर्मान्निबोधत॥ १४६॥

वेद पढ़ने की इच्छा वाला, सोने, छींकने, खाने, थूकने, झूठ बोलने और पानी के अनन्तर पवित्र हो तो भी आचमन करे। यह सब वर्णों के अशौच की व्यवस्था और द्रव्य शुद्धि की विधि आप लोगों से कही। अब स्त्रियों के धर्म सुनिये। १४५-१४६।

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।

न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि ॥ १४७ ॥

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्रहणस्य यौवने ।

पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत्स्त्रीस्वतन्त्रताम् ॥ १४८ ॥

बालिका हो या युवती या वृद्धा स्त्री को स्वतन्त्रतापूर्वक घर का कोई काम नहीं करना चाहिए। स्त्री बाल्यकाल में पिता के, यौवनावस्था में पति के और पति के परलोक होने पर पुत्रों के अधीन होकर रहे। कभी स्वतन्त्र होकर न रहे। १४७-१४८।

पित्रा भर्ता सुतैर्वापि नेच्छेद्विरहमात्मनः ।

एषां हि विरहेण स्त्री गह्वं कुर्यादुभे कुले ॥ १४९ ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।

सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १५० ॥

पिता-पति या पुत्र से पृथक् रहने की इच्छा न करे, क्योंकि इनसे अलग रहने वाली स्त्री दोनों कुलों (पति-पितृ) को निन्दित करती है। स्त्री को सदा प्रसन्न रहकर दक्षता के साथ घर के कार्यों को सम्भालना चाहिए। नित्य व्यवहारों में आने वाली सामग्रियों (आभूषण, बर्तन आदि) को साफ रखना चाहिए और जहाँ तक हो सके कम खर्च करना चाहिए। १४९-१५०।

यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां भ्राता वानुमते पितुः ।

तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितं च न लंघयेत् ॥ १५१ ॥

मङ्गलार्थं स्वस्त्वयनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः ।

प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥ १५२ ॥

पिता या पिता की आज्ञा से भाई जिस पुरुष का हाथ थमा दे, जीवित अवस्था में उसकी शुद्ध हृदय से सेवा करे और उसके मरने पर धर्म का उल्लंघन न करे। विवाह में इन दोनों पति-पत्नियों के स्वस्त्वयन और प्रजापति के उद्देश्य से जो हवन किया जाता है वह उसके कल्याण निमित्तक कर्म हैं। परन्तु वाग्दान के अनन्तर स्त्री पर स्वामी का अधिकार होता है। १५१-१५२।

अनृतावृतुकाले च मन्त्रसंस्कारकृत्पतिः ।

सुखस्य नित्यं दातेह परलोके च योषितः ॥ १५३ ॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।

उपचर्य स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः ॥ १५४ ॥

मन्त्र-संस्कार द्वारा प्राप्त पति ऋतुकाल में और अनृतऋतुकाल में स्त्री को यहाँ नित्य सुख देता है और परलोक में भी सुख देने वाला होता है। यदि पति अनाचारी हो या परस्त्री में अनुरक्त हो या विद्यादि गुणों से रहित हो तो भी साध्वी स्त्री को सर्वदा देवता की तरह अपने पति की सेवा करनी चाहिए। १५३-१५४।

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।

पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥ १५५ ॥

पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा ।

पतिलोकमभीपसन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥ १५६ ॥

स्त्रियों के लिए न अलग यज्ञ है, न व्रत है और न उपवास है। पति की सेवा से ही वह स्वर्गलोक में पूजित होती है। पति (स्वर्ग) लोक पाने की इच्छा वाली सुशील स्त्री अपने जीते या मरे पति के लिए कुछ भी अप्रिय कर्म न करे, पति के मरने पर स्त्री पवित्र फल फूल और मूल खाकर देह को क्षीण करे परन्तु पर-पुरुष का कभी नाम न ले। १५५-१५६।

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः ।

नतु नामापि गृह्णीयात्पत्न्यो प्रेते परस्य तु ॥ १५७ ॥

आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी ।

यो धर्म एकपत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥ १५८ ॥

विधवा स्त्री पतिव्रता के उत्तम धर्मों को चाहती हुई मरते दम तक क्षमायुक्त और नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी होकर रहे। १५७-१५८।

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम् ।

दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसंततिम् ॥ १५९ ॥

मृते भर्तरी साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्ये व्यवस्थिता ।

स्वर्गं गच्छत्यपुत्रापि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥ १६० ॥

हजारों अविवाहित ब्रह्मचारी ब्राह्मण वंश वृद्धि के लिए पुत्र का उत्पादन न करके भी स्वर्गलोक को गए कहे गए हैं। जो पतिव्रता स्त्री पति के मरने पर ब्रह्मचर्य में स्थिर रहती है वह पुत्रहीना होने पर भी ब्रह्मचारी पुरुषों की भाँति स्वर्गलोक को जाती है। १५९-१६०।

अपत्यलोभाद्या तु स्त्री भर्तारमतितवर्तते।

सेह निन्दामवाप्नोति पतिलोकाच्च हीयते ॥ १६१ ॥

नान्योत्पन्ना प्रजास्तीह न चाप्यन्वपरिग्रहे।

न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिदभर्तौपदिश्यते ॥ १६२ ॥

जो स्त्री सन्तान के लोभ से पति का अतिक्रमण करती है (अर्थात् पर-पुरुष के साथ व्यभिचार करती है) इस लोक में उसकी निन्दा होती है और वह परलोक में भी भ्रष्ट होती है। अन्य पुरुष से उत्पन्न वह सन्तान शास्त्र सम्मत नहीं है और दूसरे की स्त्री में उत्पादित सन्तान भी उत्पादक की नहीं होती। पतिव्रता स्त्रियों को दूसरे पति का उपदेश कहीं नहीं किया गया है। १६१-१६२।

पतिं हित्वापक्रष्टं स्वमुत्कृष्टं या निषेवते।

निन्दयैव सा भवेल्लोके परपूर्वेति चोच्यते ॥ १६३ ॥

व्यभिचारात्तभर्तुः स्त्रीलोके प्राप्नोति निंद्यताम्।

शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥ १६४ ॥

जो अपने गुणहीन पति को छोड़कर किसी अन्य श्रेष्ठ पुरुष को स्वीकार करती है वह समाज में निन्दनीय होती है। लोग उसे व्यभिचारिणी कहकर निन्दा करते हैं। पर-पुरुष के साथ व्यभिचार करने से स्त्री संसार में निन्दित समझी जाती है और मरने पर शृगाल (गीदड़) होती है तथा कुष्ठदि रोगों से पीड़ित होती है। १६३-१६४।

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।

साभर्तुलोकमाप्नोति सदिभ साध्वीति चाच्यते ॥ १६५ ॥

अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता।

इहाग्रह्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च ॥ १६६ ॥

जो मन, वचन और क्रिया से पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती, वह

पतिलोक को पाती है और इस लोक में अच्छे लोग पतिव्रता कहकर उसकी प्रशंसा करते हैं। इस नारी धर्म के अनुसार जो स्त्री तन, मन, वचन से पति की सेवा करती है वह इस लोक में सुयश पाती है और मरने पर पति के साथ स्वर्ग में सुख भोगती है। १६५-१६६।

एवंवृत्तां सवर्णां स्त्रीं द्विजातिः पूर्वमारिणीम्।

दाहयेदग्निहोत्रेण यज्ञापात्रश्च धर्मवित् ॥ १६७ ॥

भार्यायै पूर्वमारिण्यै दत्त्वाग्नीनन्त्यकर्मणि।

पुनर्दारक्रियां कुर्यात्पुनराधानमेव च ॥ १६८ ॥

शास्त्रोक्त विधि से चलने वाली सजातीया स्त्री यदि पहले मर जाय तो धर्मज्ञ द्विज अग्निहोत्र और यज्ञपात्रों के द्वारा उनकी दाह क्रिया करें। पति के पूर्व मरने वाली स्त्री के अन्त कर्म में अग्नि दे चुकने के पश्चात् वह पुरुष पुनर्विवाह करके (श्रौत या स्मार्त) अग्निहोत्र ले। १६७-१६८।

अनेन विधिना नित्यं पञ्चयज्ञात्र हापयेत्।

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ १६९ ॥

इस विधि से यथाशक्ति पंचयज्ञों को नित्य नियमपूर्वक करे, कभी उसे छोड़े नहीं और जीवन के दूसरे भाग में विवाह कर गृहस्थाश्रम में रहे। १६९।

इति पंचम अध्याय ॥ ५ ॥



छठा अध्याय

एवं गृहाश्रमे स्थित्वा विधिवत्स्नातको द्विजः ।
वने वसेत्तु नियतो मथावद्विजितेन्द्रियः ॥ १ ॥
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥

इस प्रकार स्नातक द्विज विधिवत् गृहधर्म का पालन कर पश्चात्
जितेन्द्रिय होकर नियमपूर्वक धर्म का अनुष्ठान करता हुआ वन में निवास करे।
गृहस्थ जब देखे कि अपने शरीर पर झुर्रियाँ पड़ गई हैं, केश श्वेत हो गए
हैं और अपने पुत्र के भी पुत्र हो चुके हैं तब वन में आश्रय करे। १-२।

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम् ।
पुत्रेषु भार्या निक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥ ३ ॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम् ।
ग्रामादरण्यं निःसृत्यं निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥ ४ ॥

ग्राम्य आहार (चावल, आटा, आदि) और वस्त्रालंकारादि को त्यागकर
स्त्री को पुत्र के सुपुर्द कर अथवा अपने साथ ले वन में जाय। घर की
होमाग्नि और उसके उपकरण (सुक, सुवा आदि) लेकर गाँव से निकल
संयतेन्द्रिय होकर वन में निवास करे। ३-४।

मुन्यत्रैर्विविधैर्मध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ ५ ॥

वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा ।

जटाश्च विभ्र्यात्रित्यंश्मश्रुल्लोमनखानि च ॥ ६ ॥

वानप्रस्थ होने पर वन में मुनियों के अन्न (नीवार आदि) से अथवा शाक, फल, मूलों से विधिपूर्वक पंच महायज्ञों को करे। मृगचर्म या वल्कल पहने प्रातः और सायंकाल स्नान करे। जटा, दाढ़ी, मूँछ और नख इनको नित्य धारण करे। ५-६।

यदभक्ष्यं स्यात्ततो दद्याद्बलि भिक्षां च शक्तितः ।

अम्मूलफलभिक्षाभिरचैयेदाश्रमागतान् ॥ ७ ॥

स्वाध्याये नित्युक्तः स्याद्दान्तो मैत्रःसमाहितः ।

दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः ॥ ८ ॥

आश्रम के जो विहित भोजन हों उसी में से यथाशक्ति बलि और भिक्षा दे। आश्रम में आए हुए अतिथि को जल, मूल, फल की भिक्षा से सत्कार करे। वेदाध्ययन में नित्य लगा रहे, जाड़ा, गर्मी को सहे, सबका उपकार करे, मून को अपने वश में रख नित्य दान करे पर आप प्रतिग्रह न ले और सब जीवों पर दया रखे। ७-८।

वैतानिकं च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।

दर्शमस्कन्दयन्मर्व पौर्णमासं च योगतः ॥ ९ ॥

ऋक्षेष्टयाग्रहणं चैव चातुर्मास्यानि चाहरेत् ।

तुरायणं च क्रमशो दाक्षस्यायनमेव च ॥ १० ॥

अमावस्या को पूर्णिमा और दोनों पर्वों के यज्ञों को न छोड़ता हुआ समय पर यथोक्त विधि से वैतानिक दक्षिणाग्निकुण्ड में अग्निहोत्र करे। नक्षत्रेष्टि, आग्रहायण, चातुर्मास्य, उत्तरायण और दक्षिणायन, इन वेदकर्मों को क्रमशः करे। ९-१०।

वासन्तशादैर्मध्यैर्मुन्यत्रैः स्वयमाहुतैः ।

पुरोडाशांश्चरुंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ ११ ॥

देवतास्यभ्तु तदधुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः ।

शेषमात्मनि भुञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम् ॥ १२ ॥

स्वयं बोए हुए बसन्त और शरद ऋतु के पवित्र मुन्यत्रों (नीवार आदि) से यथाविधि पुरोडाश और चरु अलग-अलग बनाये। वह अति पवित्र वन्य हवि देवताओं के निमित्त अग्नि में हवन कर शेष अपने उपयोग में लाए और नमक भी अपने हाथ का निकाला खाय। ११-१२।

स्थलजौदकशाकानि पुष्पमूलफलानि च।

मेध्यवृक्षौद्भवान्यद्यत्नेहांश्च फलसंभवान् ॥ १३ ॥

वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।

भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥ १४ ॥

स्थल और जल में उपजे साग और विशुद्ध वृक्षों के फूल, मूल, और फल खाय। फलों से निकले हुए अर्क भी खाए। मधु, मांस, गोबरछत्ता, भूस्तृण, शिग्रुक, श्लेष्मातक से सब न खाय। १३-१४।

त्येजेदाश्वयुजे मासि मुन्यत्रं पूर्वसंचितम्।

जीर्णानि चैव वासांसि शाकमूलफलानि च ॥ १५ ॥

न फालकृष्टमशनीयादुत्सृष्टमति केनचित्।

न ग्रामजातान्यर्तोऽपि मूलानि च फलानि च ॥ १६ ॥

पूर्व वर्ष का संचित किया मुन्यत्र (नीवार आदि अन्न) जीर्ण वस्त्र और साग, मूल, फल कुआर महीने में त्याग दे। खेत का उपजाया हुआ अनाज किसी का दिया हुआ भी न खाय।

अग्निपक्वासनो वा स्यात्कालपक्वभुगेव वा।

अश्मकुट्टो भवेद्वापि दन्तोलूखलिकोऽपि वा ॥ १७ ॥

सद्यः प्रक्षालको वा स्यान्माससंचयिकोऽपि वा।

षण्मासनिचयो वा स्यात्समानिचय एव वा ॥ १८ ॥

आग से पकाया हुआ वन का अन्न समयानुसार पके हुए फल या पत्थर से कूट्य अन्न खाय अथवा दाँत-मुँह को ही खलल-ऊखल बना ले। भोजन करके बर्तन धोकर रख दिया जाय इतना ही (अर्थात् एक बार भोजन के योग्य) अन्न संग्रह करे अथवा एक महीने या छः महीने या (अधिक से अधिक) एक वर्ष के जीवन निर्वाह योग्य भोजन संचित करे। १७-१८।

नक्तं चान्नं समशनीयाद्दिवा वाहृत्य शक्तितः ।

चतुर्थकालिको वा स्यात्साद्वाप्यष्टकालिकः ॥ १९ ॥

चान्द्रायणविधानैर्वा शुक्लकृष्णो च वर्तयेत् ।

पक्षान्तयोर्वाप्यशनीयाद्यावागूं क्वथितां सकृत् ॥ २० ॥

यथाशक्ति दिन में अन्न इकट्ठा कर प्रदोष काल में भोजन करे किंवा एक दिन उपवास कर दूसरे दिन नियमित समय पर एक बार भोजन करे अथवा दो दिन उपवास करे तीसरे दिन एक बार भोजन करे। चान्द्रायण व्रत के विधान से शुक्ल, कृष्णपक्ष में क्रमशः भोजन की मात्रा को बढ़ाए-घटाए या पक्ष के अन्त में एक बार औटाया हुआ यवागू पिए। १९-२०।

पुष्पमूलफलैर्वापि केवलैर्वर्तयेत्सदा ।

कालपक्वैः स्वयंशीर्णैर्वैखानसमते स्थितः ॥ २१ ॥

भूमौ विपरिवर्त्त तिष्ठेद्वा प्रपदैर्दिनम् ।

स्थानासनाभ्यां विहरेत्सवनेषूपयन्नपः ॥ २२ ॥

अथवा वानप्रस्थ धर्म में रहकर शुद्ध फल, मूल जो समय पर पककर आप गिरें उन्हीं से निर्वाह करें। भूमि पर लोट-पोट करता हुआ पड़ा रहे या दिन भर दोनों पैरों के अग्र भाग पर खड़ा रहे। अथवा अपने स्थान पर और आसन पर कुछ काल खड़ा रहे और कुछ काल बैठे तथा त्रिकाल स्नान करे। २१-२२।

ग्रीष्मे पञ्चतपास्तु स्याद्वर्षास्वभावकाशिकः ।

आर्द्रवासास्तु हेमन्ते क्रमशो वर्धयंस्तपः ॥ २३ ॥

उपस्पृशंस्त्रिषवणं पितृदेवांश्च तर्पयेत् ।

तपश्चरंश्चोग्रतरं शेषयेद्देहमात्मनः ॥ २४ ॥

ग्रीष्म में पंचाग्नि से अपने को तपाए, वर्षा में जहाँ वर्षा होती हो वहाँ मैदान में रहे और हेमन्त में भीगा कपड़ा पहनकर क्रम से तप को बढ़ाए। प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में स्नान कर देव, ऋषि और पितरों का तर्पण करे और कठिन तपस्या करके अपने सरीर को सुखाए। २३-२४।

अग्नीनात्मनि वैतानान्समारोप्य यथाविधि।

अनग्निरनिकेतः स्थानन्मुनिर्मूलभलाशनः ॥ २५ ॥

अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।

शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः ॥ २६ ॥

वैतान अग्नि को यथाविधि से अपने में समारोपित कर अर्थात् लौकिक अग्नि और गृह को त्यागकर मौनव्रत धारण करे और कन्दमूल खाकर निर्वाह करे। शारीरिक सुख भोगने के लिए यत्न कर ब्रह्मचारी हो (अर्थात् आठों प्रकार के मैथुनों को त्याग दे) भूमि पर सोए, निवास स्थान में ममतारहित होकर पेड़ के नीचे रहे। २५-२६।

तापसेष्वेव विप्रेषु यात्रिकं भैक्षमाहरेत्।

गृहमेधिषु चान्येषु द्विजेषु वनवासिषु ॥ २७ ॥

ग्रामादाहृत्य वाशनीयादष्टौ ग्रासान्वने वसन्।

प्रतिगृह्य पुटेनैव पाणिना शकलेन वा ॥ २८ ॥

(फल-मूल न मिलने पर) तपस्वी ब्राह्मणों से ही प्राणरक्षार्थ भिक्षा ग्रहण करे, इसके अभाव में अन्य वनवासी गृहस्थ द्विजातियों से भिक्षा ले। अथवा गाँव से भिक्षा लाए और वन में बैठकर उनमें से आठ कौर पत्ता या हाथ पर उठाकर खाए। २७-२८।

एताश्चान्याश्च सेवेत दीक्षा विप्रो वने वसन्।

विविधाश्चौपनिषदी रात्मसंसिद्ध्ये श्रुतीः ॥ २९ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव गृहस्थैरेव सेविताः।

विद्यातपोविवृद्धयर्थं शरीरस्य च शुद्ध्ये ॥ ३० ॥

दीक्षित ब्राह्मण वन में रहता हुआ इन पूर्वोक्त और अन्य नियम का पालन और वेद से विविध उपनिषदों को आत्मज्ञान के निमित्त मनोयोगपूर्वक पढ़े। कारण कि ऋषि ब्राह्मण और ऋषियों ने शरीर शुद्धि और विद्या तप की वृद्धि के लिए उपर्युक्त नियमों का सेवन किया है। २९-३०।

अपराजितां वास्थाय ब्रजेद्दिशमाजिह्मगः।

आ निपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिशालनः ॥ ३१ ॥

आसां महर्षिचर्याणां त्वक्त्वान्यतमया तनुम्।

वीतशोकधयो विप्रो ब्रह्मलोके महीयते ॥ ३२ ॥

असाध्य रोगों के होने पर ईशान दिशा की ओर मुंह करके सरल गति से योगनिष्ठ होकर जल, वायु, भक्षण करता हुआ शरीर छूट जाने तक बराबर गमन करता रहे। इन ऋषियों की दिनचर्या के अनुसार अनुष्ठानादि करता हुआ जो ब्राह्मण शोक-भय से रहित होकर शरीर त्याग करता है। वह ब्रह्मलोक में पूजित होता है। ३१-३२।

वनेषु च त्रिहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।

चतुर्थमायुषो भाग त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत् ॥ ३३ ॥

आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतहोमो जितेन्द्रियः।

भिक्षाबलिपरिश्रान्त प्रव्रधन्प्रेत्य वर्धते ॥ ३४ ॥

आयु के तीसरे भाग को वन में बिताकर आयु के चौथे भाग में सर्वसंग परित्याग कर संन्यास ग्रहण करे। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर जितेन्द्रिय हो भिक्षा बलि-वैश्यदेव और अग्निहोत्र आदि नित्य कर्म करते-करते थक जाने पर जो अन्त में संन्यास ग्रहण करके देह त्याग करता है वह परलोक में महान् कल्याण लाभ करता है। ३३-३४।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।

अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

तीनों ऋणों (अर्थात् देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण) से मुक्त होकर मन को मोक्ष में लगाए। ऋण शोधन किये बिना जो मोक्षार्थी होता है वह नरकगामी होता है। विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर धर्म से पुत्रों को उत्पन्न कर और यथाशक्ति यज्ञों का अनुष्ठान करके तब चतुर्थ आश्रम में मन को लगाए। ३५-३६।

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।

अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम्।

आप्मन्यगनीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात् ॥ ३८ ॥

जो द्विज वेदों को न पढ़कर तथा पुत्रों की उत्पत्ति और यज्ञों का अनुष्ठान न कर (अवृत्त ऋषिऋण, पितृऋण और देवऋण से उऋण हुए बिना) संन्यास धारण की इच्छा करता है वह नीच गति को प्राप्त होता है। प्रजापत्य यज्ञ (जिसमें सर्वस्व दक्षिणा दी जाती है) को शास्त्रोक्त विधि से पूरा करके अपने से अग्नि को समारोपित कर ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करने के लिए घर से निकले। ३७-३८।

यो दत्त्वा सर्वभूतेभ्यः प्रव्रजत्यभयं गृहात्।

तस्य तेजोमया लोका भवन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३९ ॥

यस्मादण्वपि भूतानां द्विजान्नोत्पद्यते भयम्।

तस्य देहाद्विमुक्तस्य भयं नास्ति कुतश्चरन ॥ ४० ॥

जो सब प्राणियों को अभय देकर घर से संन्यास के लिए जाता है। उस ब्रह्मवादी को तेजोमय लोक प्राप्त होते हैं। जिससे प्राणियों को अणुमात्र भी भय उत्पन्न नहीं होता उस देह से मुक्त पुरुष को कहीं किसी का भी भय नहीं रहता। ३९-४०।

अगारादभिनिष्क्रान्तः पवित्रोपचितो मुनिः।

समुपोदेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥ ४१ ॥

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायवान्।

सिद्धिमेकस्य संपश्यन्न जहाति न हीयते ॥ ४२ ॥

घर से निकलकर दण्ड कमण्डलु आदि पवित्र पदार्थों को साथ में ले किसी से वृथा भाषण न करे और सुस्वाद भोज्य पदार्थों की भी कोई इच्छा न करके भ्रमण करे। वह न किसी को छोड़ता है और न किसी से छोड़ा जाता है। (अर्थात् न उसे किसी को छोड़ने से दुःख होता है और न किसी से छोड़े जाने का ही है)। ४१-४२।

अनग्निरनिकेतः स्याद्ग्राममन्त्रार्थमाश्रयेत्।

उपेक्षोकऽसंकुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ ४३ ॥

कपालं वृक्षमूलानि कुवेलमसहायता ।

समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४४ ॥

अग्नि और गृह से रहित होकर रहे। रोगादि की परवाह न करे। स्थिर बुद्धि और मौन को विशुद्ध भाव से ब्रह्म का मनन करता हुआ भोजन के लिए गाँव में जाय। खप्पर (भोजन के लिए), वृक्ष का जड़ (रहने के लिए), मोटा पुराना कपड़ा (पहनने के लिए), किसी सहायक का न रहना और सर्वत्र समभाव रखना, यह मुक्त पुरुष का लक्षण है। ४३-४४।

नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ।

कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥ ४५ ॥

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिवेत् ।

सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥ ४६ ॥

मरने की इच्छा न करे, न जीने की ही इच्छा करे। किन्तु जैसे सेवक अपने प्रभु की आज्ञा की प्रतिक्षा करता है उसी प्रकार संन्यासी काल की प्रतिक्षा करे। आँख से जमीन को देखकर पैर रखे, वस्त्र से छानकर जल पिए, सत्य वचन बोले और पवित्र मन से कार्य करे। ४५-४६।

अतिधादांस्तितीक्ष्णं नावमन्येत कंचन ।

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥ ४७ ॥

क्रुद्धयन्तं न प्रतिक्रुद्धयेदाकुष्टः कुशलं वदेत् ।

सप्तद्वारावकीर्णं च न वाचमनृतां वदेत् ॥ ४८ ॥

कोई अत्यन्त वाद-विवाद करे तो उसे सह ले पर किसी के साथ शत्रुता न करे, इस देह का आश्रय (क्षणभंगुर समझ) कर किसी के साथ शत्रुता न करे। क्रोध में भरे हुए मनुष्य का जवाब क्रोधित होकर न दे, कोई निन्दा करे तो भद्र वचन ही कहे। (पाँच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि) इन सात द्वारों से ग्रहण किए जाने वाले विषयों की चर्चा न करे (केवल ब्रह्मविषयक सत्य वचन, बोले।) ४७-४८।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः ।

आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥ ४९ ॥

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्रांगविद्यया ।

नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्येत कर्हिचित् ॥ ५० ॥

सदा आत्मा के ही चिन्तन में लगा रहे । विषयों की इच्छा से रहित निगमिष होकर एक देहमात्र की सहायता से मोक्ष सुख का अभिलाषी होकर संसार में विचरे । (धूमकेतु आदि) उत्पात (नेत्र-स्फुरण आदि) निमित्त तिथि नक्षत्र के योग्य-अयोग्य आदि फलाफल कहकर अथवा नीति का उपदेश या शास्त्र की बात सुनाकर भिक्षा लेने की कभी इच्छा न करे ।

न तापसैर्ब्राह्मणैर्वा वयोभिरपि वा श्वभिः ।

अकीर्णं भिक्षुकैर्वान्यैरगोरमुपसंभजेत् ॥ ५१ ॥

कल्पकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।

विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥ ५२ ॥

तपस्वी ब्राह्मणों से, कुत्तों से या अन्य भिक्षुओं से जिसका घर भरा हो उसके घर भिक्षा के लिए न जाय । शिर के केश, दाढ़ी, मूँछ और नखों को कट्यना चाहिए । भिक्षापात्र और दण्ड-कमण्डल साथ रखने चाहिए और सभी प्राणियों को बिना दुःख दिए नित्य नियमपूर्वक भ्रमण करना चाहिए । ५१-५२ ।

अतैजसानि पात्राणि तस्य स्युर्निर्ब्रणानि च ।

तेषामदिभः स्मृतं शौचं चमसानामिवाध्वरे ॥ ५३ ॥

अलावुं दारुपात्रं च मृन्मयं वैदलं तथा ।

एतानि यातिपात्राणि मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ ५४ ॥

संन्यासियों के भिक्षापात्र धातु के न हों और न उसमें छिद्र ही हों । इन पात्रों की शुद्धि यज्ञ के चमसों (हवन के उपकरणों) की भाँति जल से ही होती है । संन्यासी का भिक्षापात्र कट्टे के फल का, काठ का, मिट्टी का या बाँस के खण्ड का बना होना चाहिए यह स्वायम्भुव मनु ने कहा है । ५३-५४ ।

एककालं चरेद्भैक्षं न प्रसज्जेत विस्तरे ।

भैक्षे प्रसक्तो हि यतिविषयेष्वपि सञ्जति ॥ ५५ ॥

विधूमे सन्नमुसले व्यंगारे भुक्तवज्जने ।

वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ ५६ ॥

एक बार भिक्षा माँगनी चाहिए। भिक्षा का विस्तार न करे। बहुत भिक्षा में आसक्त संन्यासी विषयों में भी आसक्त हो सकता है। जब धुआँ न होता हो, मूसल का शब्द न सुनाई देता हो, आग बुझ गई हो, घर के सब लोख खा पी चुके हों, जूटे बर्तन अलग कर दिए हों, ऐसे समय में संन्यासी भिक्षा के लिए नित्य गृहस्थों के घर जाए। ५५-५६।

अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्।

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासंगाद्विनिर्गतः ॥ ५७ ॥

अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वशः।

अभिपूजितलाभैश्च यतिर्मुक्तोऽपि बद्धयते ॥ ५८ ॥

भिक्षा न मिलने पर विवाद न करे और मिलने पर हर्ष भी न करे। प्राण यात्रा रखार्थ भिक्षान्न से जीवन निर्वाह करे, दण्ड कमण्डल में भी आसक्ति न रखे। आदर के साथ भिक्षा ग्रहण करने को सब काल में बुरा समझे। क्योंकि पूजित होने पर भिक्षा ग्रहण करने वाला संन्यासी मुक्त होकर भी बद्ध हो जाता है। ५७-५८।

अल्पात्राभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च।

द्विधमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ ५९ ॥

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।

अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥ ६० ॥

अल्पाहार और एकान्त निवास इन दो उपायों से विषयों द्वारा खींची जाने वाली इन्द्रियों को वश में करे। इन्द्रियों के नियन्त्रण से और रागद्वेष के त्याग तथा प्राणियों की अहिंसा से संन्यासी मोक्ष को पाता है। ५९-६०।

अवेक्षेत गतीर्नुणां कर्मदोषसमुद्भवाः।

निरये चैव पतनं यातनाश्च यमक्षये ॥ ६१ ॥

विप्रयोगं त्रियैश्चैव संयोगं च तथाऽप्रियैः।

जरया चाभिवनं व्याधिभिश्चोपपीडनम् ॥ ६२ ॥

मनुष्यों के कर्म की गति नरक में गिरने और यमलोक की विविध यातनायें—इनकी सदा चिन्ता न करे। प्रियों का वियोग, अप्रियों का सुयोग,

बुढ़ापे में होने वाले क्षय आदि रोगों से कष्ट (कर्म दोष के) इन परिणामों को सोचे। ६१-६२।

देहादुत्क्रमणं चास्मात्पुनर्गर्भे च संभवम्।

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ॥ ६३ ॥

अधर्मप्रभवं चैव दुःयोगं शरीरिणाम्।

धर्मार्थप्रभवं चैव सुखसंयोगमक्षयम् ॥ ६४ ॥

इस शरीर से फिर गर्भ में प्रवेश, प्राणों का वियोग और अनन्त कोटि योनियों में भ्रमण करना यह सब अपने ही कर्म दोष का फल है। शरीर-धारियों के सब दुःख अधर्म से होते हैं और अक्षय सुख का संयोग धर्म से होता है। ६३-६४।

सूक्ष्मतां चान्वेक्षेत योगेन परमात्मनः।

देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥ ६५ ॥

दूषितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र तत्राश्रमे रतः।

समः सर्वेषु भूतेषु न लिंगं धर्मकारणम् ॥ ६६ ॥

योग द्वारा परमात्मा की सूक्ष्मता का विचार करे और कर्मदोष से उत्तम-अधम देहों में जन्म होने की बात सोचे। जिस किसी आश्रम में रहता हुआ किसी दोष से दूषित होने पर भी सब प्राणियों को समान दृष्टि से देखता हुआ धर्मानुष्ठान करे। किसी आश्रम के चिन्ह ही उस आश्रम धर्म के कारण नहीं होते। ६५-६६।

फलं कतकवृक्षस्य यद्यप्यम्बुप्रसादकम्।

न नामग्रहणादेव तस्य वारि प्रसीदति ॥ ६७ ॥

संरक्षणार्थं जन्तूनां रात्रावहनि वा सदा।

शरीरस्यात्यये चैव समीक्ष्य वसुधां चरेत् ॥ ६८ ॥

यद्यपि निर्मली का फल जल को स्वच्छ करने वाला होता है किन्तु केवल उसका नाम लेने से ही जल स्वच्छ नहीं होता है। शरीर की अवस्थता में भी जीवों के प्राणरक्षार्थ दिन हो या रात सदा पृथ्वी को देखकर पैर रखे। ६७-६८।

अह्ना रात्र्या च याज्जंतून्हिनस्त्यज्ञानतो यतिः।

तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान्बडाचरेत् ॥ ६९ ॥

प्राणायामा ब्राह्मणस्य त्रयोऽपि विधिवत्कृताः।

व्याहृतिप्रणवैर्युक्ता विज्ञेयं परमं तपः ॥ ७० ॥

बिना जाने दिन या रात में छोटे जीवों की (पैर के नीचे दबकर) हिंसा हो जाय तो उस पाप से विशुद्ध होने के लिए वह संन्यासी स्नान करके छः प्राणायाम करे। व्याहृति और प्रणव सहित यथाविधि तीन प्राणायाम ही ब्राह्मण के लिए परम तप जानना चाहिए। ६९-७०।

दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।

तथेन्द्रियाणां दह्यान्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ ७१ ॥

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धरणाभिश्च कित्त्विषम्।

प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ७२ ॥

आग में तपाने से जैसे धातुओं का मैल जल जाता है वैसे ही प्राण वायु के निग्रह (प्राणायाम) से इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं। प्राणायाम से रोगादि दोषों का धारण^१ से पाप का, प्रत्याहार^२ से संसर्ग का और ध्यान से अनीश्वर गुणों (क्रोध, लोभ, असूया आदि) का नाश करे। ७१-७२।

उच्छावचेषु भूतेषु दुज्ञेयामकृतात्मभिः।

ध्यानयोगेन संपश्येद्गतिमस्यान्तरात्मनः ॥ ७३ ॥

सम्यग्दर्शनसंपन्नः कर्मभिर्न निबद्धयते।

दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ ७४ ॥

प्राणियों के उच्च-नीच योनियों में जाने के कारण को जो अज्ञानियों के लिए बहुत ही कठिन है, ध्यान योग से देखे (अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होकर देखे)। ब्रह्म का सम्यक् दर्शन करने वाला कर्मों से बद्ध नहीं होता किन्तु ब्रह्मदर्शन से विहीन पुरुष संसारी होकर जन्म-मरण के फेर में पड़ता है। ७३-७४।

अहिंसयेन्द्रियासंगैर्वैदिकैश्चैव कर्मभिः।

तपसश्चरणैश्चोग्रैः साधयन्तीह तत्पदम् ॥ ७५ ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।

चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ ७६ ॥

साधक अहिंसा, इन्द्रिय, संयम, वैदिक कर्मों के अनुष्ठान और कठिन तपस्या से ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं। हड्डी के खम्भे वाली स्नायुओं से युक्त माँस और रुधिर से लेप की हुई चमड़े से ढकी हुई मल-मूत्र भरी और दुर्गन्धयुक्त जरा और शोक से आक्रान्त रोग का घर है। ७५-७६।

जराशोकसमाविष्टं रोगयितनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥ ७७ ॥
नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा।
तथा त्यजन्निजं देहं कृच्छ्रादग्राहाद्विमुच्यते ॥ ७८ ॥

भूख-प्यास से व्याकुल भोगाभिलाषी और क्षणभंगुर रूपी शरीर जो पंचभूतों का निवास स्थान है, यह जानकर त्याग ही देना चाहिए (अर्थात् जिसमें इस आत्मा को पुनर्देह सम्बन्ध न हो ऐसा यत्न करना चाहिए। जैसे वृक्ष नदी के किनारे को और जैसे पक्षी वृक्ष को त्याग देता है वैसे संन्यासी इस देह को त्याग कर सांसारिक दुःख रूपी ग्राह से मुक्त हो जाता है। ७७-७८।

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्योति सनातनम् ॥ ७९ ॥
यदा भावेन भवति सर्वभावेषु निःस्पृहः।
तदा सुखमवाप्नोति प्रेत्य चेह च शाश्वतम् ॥ ८० ॥

ज्ञानी अपने हितैषियों में अपना पुण्य और शत्रुओं में अपना पाप छोड़कर ध्यान योग से सनातन ब्रह्म में लीन हो जाता है। परमार्थिक विचार से विषयों को दोषपूर्ण समझकर जब उनसे विरक्त होता है तब वह इस लोक में सन्तोष-सुख और परलोक में अविनाशी मोक्ष सुख पाता है। ७९-८०।

अनेन विधिना सर्वास्त्यक्त्वा संगोज्जनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥ ८१ ॥
ध्यानिकं सर्वमेवैतद्यदेतदभिशाब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ ८२ ॥

इस प्रकार (पुत्र-कलत्र आदि की) सारी आसक्तियों को धीरे-धीरे त्याग कर और (मानापमानादिक) सभी द्वंद्वों से विमुक्त होकर वह ब्रह्म में लीन हो जाता है। यह सब जो कहा गया है वहाँ आत्मध्यान से ही होता है।

(अर्थात् ध्यान द्वारा परमात्मा में मग्न होने वाले को किसी में ममता या मानापमान का दुःख नहीं होता।) इस आध्यात्मिक विषय को न जानने वाला ब्रह्मध्यानात्मक क्रिया का फल नहीं पाता। ८१-८२।

अधियज्ञं ब्रह्म जपेदाधिद्वैविकमेव च।

आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्॥ ८३॥

इदं शरणमज्ञानामिदमेव विजानतान्।

इदमन्विच्छतां स्वर्गमिदमानन्त्यमिच्छताम्॥ ८४॥

यज्ञ और देवता सम्बन्धी वेदमन्त्रों और वेदान्तों में कहे आध्यात्मिक विषयों का सदा जप करे। यह (वेदसंज्ञक ब्रह्म) वेदार्थ को जानने वाले अज्ञों की भी गति है। स्वर्ग और मोक्ष चाहने वाले विद्वानों को भी वेद ही शरण है। ८३-८४।

अनेन क्रमयोगेन परिव्रजति यो द्विजः।

स विथूयेह पाप्मानं परं ब्रह्माधिगच्छति॥ ८५॥

एष धर्मोऽनुशिष्टो वा यतीनां नियतात्मनाम्।

वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत॥ ८६॥

इस क्रमयोग से जो द्विज संन्यास-आश्रम को ग्रहण करता है वह इस संसार में सब पापों से छूटकर परब्रह्म में मिल जाता है। यह धर्म संन्यासात्मक संन्यासियों का कहा अब वेद संन्यासियों का कर्म योग कहता हूँ, सुनिये-

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥ ८७॥

सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।

यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्॥ ८८॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी, ये चारों आश्रम गृहस्थाश्रम से ही उत्पन्न होते हैं। ये चारों आश्रम क्रमशः शास्त्रोक्त विधि से अनुष्ठित होने पर अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मणों को परमपद को ले जाते हैं। ८७-८८।

सर्वेषामपि चैतेषां वैदेस्मृतिविधानतः।

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्विभर्ति हि॥ ८९॥

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ ९०॥

इन सभी आश्रमों में वेद और स्मृति की विधि के अनुसार चलने वाला गृहस्थ श्रेष्ठ कहा गया है क्योंकि वह (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी) आश्रमों की रक्षा करता है। जैसे सभी नदी-नद समुद्र में ही आश्रय पाते हैं, वैसे ही सभी आश्रमी गृहस्थाश्रम से ही सहारा पाते हैं। ८९-९०।

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमभिर्द्विजैः।

दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥ ९१॥

ऋतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधी दशकं धर्मलक्षणम्॥ ९२॥

इन ब्रह्मचारी आदि चारों आश्रमी द्विजों को सदा यत्नपूर्वक (आगे कहे) श्रद्धाविध धर्मों का सेवन करना चाहिए। सन्तोष, क्षमा, मन को दबाना, अन्याय से किसी की वस्तु न लेना, शारीरिक पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह (विषयों से उन्हें रोकना), बुद्धि (शास्त्रादि तत्व का ज्ञान), विद्या (आत्मबोध), सत्य (यथार्थ कथन), क्रोध न करना, ये दश धर्म के लक्षण हैं। ९१-९२।

दश लक्षणानि धर्मस्य ये विप्राः समधीयते।

अधीत्य चानुवर्तन्ते ते यान्ति परमां गतिम्॥ ९३॥

दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः।

वेदान्त विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनुणो द्विजः॥ ९४॥

जो ब्राह्मण दश-विध धर्मों को समझने का यत्न करते हैं और उनका अनुष्ठान करते हैं वे परम गति को प्राप्त होते हैं। एकाग्रचित होकर दश-विध धर्मों का अनुष्ठान करता हुआ, विधिपूर्वक वेदान्त सुनकर ऋणमुक्त द्विज संन्यास ग्रहण करे। ९३-९४।

संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्।

नियतो वेदमध्यस्य पुत्रेश्वर्ये सुखं वसेत्॥ ९५॥

एवं संन्यस्य कर्माणि स्वकार्यपरमोऽस्पृहः।

संन्यासेनापहत्यैनः प्राप्नोति परमां गतिम्॥ ९६॥

सब कर्मों को छोड़ प्राणायाम आदि कर्मदोषों का भी नाश करता हुआ नियत चित्त से उपनिषदों का अभ्यास कर अपने भोजनादि का भार पुत्र को सौंप कर आप निश्चिन्त हो सुख से घर पर रहे (यह वेद संन्यास है)। इस प्रकार कर्मों को त्याग कर, विषय-वासना से रहित हो, आत्मज्ञान के साधन में लगा हुआ पुरुष संन्यास के द्वारा पापों का नाश करके परमगति (मोक्ष) पाता है। ९५-९६।

एष बोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः।

पुण्योऽक्षयफलः प्रेत्य राज्ञां धर्मं निबोधत ॥ ९७ ॥

ये ब्राह्मण के चार पप्रकार के आश्रम धर्म आप लोगों से कहा, ये पुनीत और परलोक में अक्षय फल देने वाले हैं। अब राजधर्म सुनिये। ९७।

इति षष्ठो अध्यायः ॥ ६ ॥



सातवाँ अध्याय

राजधर्मान्प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः ।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥ १ ॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कार क्षत्रियेण यथाविधि ।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ॥ २ ॥

राज्याभिषिक्त राजा का आचार, राज्य की उत्पत्ति और जिस प्रकार से उसे परम सिद्धि होती है उन सब राजधर्मों को कहता हूँ। यथाविधि यज्ञोपवीत संस्कार पाये हुए क्षत्रिय राजा को न्यायपूर्वक सभी प्रजाओं की रक्षा करनी चाहिए। १-२।

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥

इस संसार में राजा के न रहने से सर्वत्र भय हाहाकार मचने लगा, इसलिए इस जगत् के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया। ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर इन आठों देवताओं का सारभूत अंश लेकर राजा को उत्पन्न किया। ३-४।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येषु सर्वभूतानि तेजसा ॥ ५ ॥
तपत्यादित्यवच्चैव चक्षूषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥ ६ ॥

जैसे इन इन्द्रादि देवताओं के अंशों से राजा उत्पन्न होता है, वैसे ही वह अपने तेज से सब प्राणियों को अपने वश में रखता है। वह सूर्य की भाँति नेत्र और मन को तपाता है, इसलिए संसार में कोई भी उसे आँख उठाकर नहीं देख सकता। ५-६।

सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कःसोमः स धर्मराट्।

स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्र प्रभावतः॥ ७॥

बालेऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥ ८॥

वह अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, यम, कुबेर, वरुण और इन्द्र, उनमें जब जिसको चाहता है उसका स्वरूप धारण करता है। राजा बालक भी हो तो उसे साधारण मनुष्य समझ अपमान न करे, क्योंकि वह कोई देवता नर रूप में स्थित है।

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।

कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम्॥ ९॥

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।

कुरुते धर्मसिद्ध्यर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः॥ १०॥

आग में जो गिरता है आग उसी एक को जलाती है। किन्तु राजा की क्रोधाग्नि अपराधी के चिरसंचित परिवार सहित धन, सम्पत्ति और पशु को जलाकर राख कर डालती है। राजा अपनी शक्ति, देश-काल और कार्य को भली-भाँति बार-बार विचारकर धर्मसिद्धि के निमित्त अनेक रूप धारण करता है। ९-१०।

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥ ११॥

त यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम्।

यस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः॥ १२॥

जिसकी प्रसन्नता में महती लक्ष्मी, पराक्रमा में विजय और क्रोध में काल रहता है, इसलिए वह राजा सर्वतेजोमय है। अज्ञानवश जो राजा के साथ शत्रुता करता है, वह निःसन्देह नाश को प्राप्त होता है। उसके विनाशार्थ

राजा शीघ्र ही अपने मन को नियुक्त करता है। ११-१२।

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।

अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं स विचालयेत्॥ १३॥

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।

ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥ १४॥

इसलिए वह राजा भले लोगों के लिए जो इष्टधर्म और बुरे लोगों के लिए जो अनिष्ट धर्म को निर्दिष्ट करे, उसका अनादर न करना चाहिए। ईश्वर ने सभी प्राणियों के रक्षक राजा के सभी कार्यों की सिद्धि के लिए ब्रह्मतेजोमय, धर्म, पुत्र रूप दण्ड को पहले निर्माण किया है। १३-१४।

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।

भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥ १५॥

तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।

यथार्हतः संप्रणयेन्नेष्वन्यायवर्तिषु॥ १६॥

उस दण्ड के भय से चर-अचर सभी प्राणी अपने-अपने भोग को भोगने में समर्थ होते हैं और अपने धर्म से विचलित नहीं होते। उस दण्ड का देश काल और दण्ड की शक्ति तथा किस अपराध में क्या दण्ड देना चाहिए इत्यादि का शास्त्रीय ज्ञान इनका तत्त्वतः विचार करके अपराधियों के लिए यथायोग्य दण्ड का विचार करे। १५-१६।

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।

चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ १७॥

दण्ड शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ १८॥

वही दण्ड राजा है, वही पुरुष है, वही नेता और शासक है और वही चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (जामिन) कहा गया है। दण्ड सभी प्रजाओं का शासन करता है, दण्ड ही सोते हुए को जगाता है। इसलिए ज्ञानी पुरुष दण्ड को ही धर्म कहते हैं। १७-१८।

समीक्ष्य स घृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।

असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ १९॥

यदि न प्रणयेद्भाजा दण्डं दण्डयेष्वतन्द्रितः।

शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ २० ॥

विचारपूर्वक दिया हुआ दण्ड सभी प्रजाओं को प्रसन्न करता है पर बिना विचार किये दण्ड का विधान करने से यह सब प्रकार से नाश करता है। यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्ड देने योग्य अपराधी को यथार्थ दण्ड न दे तो बलवान् दुर्बलों को लोहे के कांटे में पकड़ी हुई मछलियों की तरह भूनकर खा जायें। १९-२०।

अद्यात्काकःपुरोडाशं श्वा च लिह्याद्धविस्तथा।

स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ॥ २१ ॥

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।

दण्डस्य हि भयात्सर्व जगद्भोगाय कल्पते ॥ २२ ॥

(यदि राजा दण्ड न दे तो) कौआ यज्ञ का पुरोडाश खा जाय और कुत्ता पायसादि हवि चाट जाय। कहीं किसी का कोई अधिकारी न रहे। नीच ही बड़े बन जायें। सारा संसार दण्ड के आधीन है। शुद्ध साधु मनुष्य बिरला ही होता है। दण्ड के भय से ही संसार के प्राणी अपना-अपना भोग भोगने में समर्थ होते हैं। २१-२२।

देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पन्नगोरगाः।

देऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ २३ ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतचः।

सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विश्रमात् ॥ २४ ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, रक्षस, पक्षी और नागगण, ये सभी दण्ड भय से ही पीड़ित होकर नियम का पालन करते हैं। दण्ड का उचित उपयोग न हो तो सभी वर्ण दूषित हो जायें, धर्म के सभी बाँध टूट जायें और सब लोगों में विद्रोह फैल जाय। २३-२४।

यत्र श्यामा लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।

प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ २५ ॥

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।

समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ २६ ॥

जहाँ पाप नाशक श्यामर्ण (भयानक) और रक्त नेत्र (तेजस्वी) दण्ड चलता है वहाँ दण्ड देने वाला यदि न्याय से अपना कार्य करे तो प्रजा कभी व्याकुल नहीं होती। उस दण्ड का प्रवर्तन करने वाले सत्यवादी, समीक्षा करने वाले बुद्धिमान राजा को धर्म, अर्थ और काम का ज्ञाता कहा है। २५-२६।

तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते।

कामात्मा विषमः क्षुदो दण्डेनैव निन्यते ॥ २७ ॥

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।

धर्नाद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ २८ ॥

उस दण्ड का यथार्थ रीति से विधान करता हुआ राजा धर्म, अर्थ, काम, इन तीनों से वृद्धि को प्राप्त होता है। जो राजा विषयासक्त, क्रोधी, खोटे विचार का होता है वह उसी दण्ड से मारा जाता है। दण्ड महान तेज है। किन्तु अनभिज्ञों के लिए उसे धारण करना बड़ा कठिन है। यह धर्म भ्रष्ट राजा को सबान्धव नष्ट कर देता है। २७-२८।

ततो दुर्गे त राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्।

अन्तरिक्षगतांश्चैव मुनीन्देवांश्च पीडयेत् ॥ २९ ॥

सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।

न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ३० ॥

वह दण्ड गिरि, दुर्ग, देश, स्थावर, जंगम जीव तथा अन्तरिक्ष स्थित ऋषि और देवताओं को भी नष्ट कर देता है। जो राजा मन्त्री, सेनापति आदि सहायकों से रहित है, मूर्ख है, लोभी है, शास्त्रज्ञान विहीन है और विषयासक्त है वह दण्ड को न्यायपूर्वक नहीं चला सकता। २९-३०।

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा।

प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ ३१ ॥

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु।

सुहृत्स्वजिह्वाः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः ॥ ३२ ॥

जो राजा हृदय का पवित्र, सत्यनिष्ठ, शास्त्र के अनुसार चलने वाला, बुद्धिमान और अच्छे सहायकों वाला हो वह इस दण्ड धर्म को चला सकता है। शत्रुओं को कठोर दण्ड दे, स्नेह सम्पन्न मित्रों के साथ निश्छल व्यवहार रखे और ब्राह्मणों के साथ क्षमाशील रहे। ३०-३१।

एवं वृत्तस्य नृपतेः शिलोज्छेनापि जीवतः।

विस्तीर्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि॥ ३३ ॥

अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः।

संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि॥ ३४ ॥

ऐसे आचरण वाले राजा को यदि शिलोज्छवृत्ति से जीवन निर्वाह करना पड़े तो भी उसका यश संसार में उसी तरह फैलता है जैसे पानी में तेल की बूँद फैलती है। इससे विपरीत चलने वाले अजितेन्द्रिय राजा का यश घृत की बिन्दु की भाँति संसार में संकुचित होता है। ३३-३४।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।

वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता॥ ३५ ॥

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्तव्यं रक्षता प्रजाः।

तत्सोऽहं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ ३६ ॥

अपने-अपने धर्म में स्थित रहने वाले सभी वर्णों और आश्रमों की रक्षा करने के लिए ब्रह्मा ने राजा को बनाया है। मन्त्री आदि नौकरों के साथ प्रजाओं की रक्षा करते हुए अमात्यादि सेवकों सहित राजा का जो कर्तव्य है, वह सब मैं यथाक्रम आप लोगों से कहता हूँ। ३५-३६।

ब्राह्मणान्यर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।

त्रैविद्यवृद्धान्विदुषस्तिष्ठत्तेषां च शासने॥ ३७ ॥

वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।

वृद्धसेवी हि सततं रक्षाभिरपि पूज्यते॥ ३८ ॥

राजा प्रतिदिन सबेर उठकर तीनों वेदों के अर्थ जानने वाले नीतिशास्त्रज्ञ श्रेष्ठ ब्राह्मणों की सेवा करे और उनकी आज्ञा के अनुसार कार्य करे। वेदज्ञ और पवित्रात्मा वृद्ध ब्राह्मणों की नित्य सेवा करें। क्योंकि वृद्धों की सेवा करने वाला पुरुष रक्षकों से भी सदा पूजित होता है। ३७-३८।

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।

विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्॥ ३९ ॥

वहवोऽवियान्नाष्टा राजानः सपरिच्छदाः।

वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे॥ ४० ॥

विनयशील राजा भी नित्य उन ब्राह्मणों से विनय की शिक्षा ग्रहण करे। क्योंकि विनीतात्मा राजा नाश को प्राप्त नहीं होता। बहुत से अविनयी राजा राज्यश्री के साथ (कोष-बल-वाहन सहित) नष्ट हो गए और कितने ही वनस्थ होकर भी विनय से राज्य पा गए। ३९-४०।

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।

सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥ ४१॥

पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।

कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः॥ ४२॥

वेन, राजा नहुष, पिजवन का पुत्र सुदा, सुमुख और निमि, ये सब अविनय से नष्ट हो गए। विनय से पृथु और मनु ने राज्य, कुबेर ने धन-ऐश्वर्य और विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व पाया। ४१-४२।

त्रेविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।

आन्वीक्षिकी चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः॥ ४३॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्विवानिशम्।

जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥ ४४॥

तीनों वेदों के जानने वालों में से तीनों वेद, (नीतिज्ञों से) सनातन दण्डनीति, (तार्किकों से) विद्या, (योगियों से) आत्म विद्या और (व्यवहारज्ञ) लोगों से व्यवहार समझ ले। इन्द्रियों को वश में रखने के लिए सदा योग का साधन करता रहे, क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रख सकता है। ४३-४४।

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च।

व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥ ४५॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।

वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥ ४६॥

काम से दस और क्रोध से आठ व्यसन उत्पन्न होते हैं जो अन्त में बड़े ही दुःखदाई होते हैं। इसलिए इनका यत्न से परित्याग करे। जो काम से उत्पन्न व्यसनों से आसक्त होता है, वह धन-धर्म से रहित होता

है। क्रोध से उत्पन्न व्यसनों से आसक्त राजा अपने शरीर को ही खो बैठा है। ४५-४६।

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।

तौर्यत्रिकं वृथाद्या च कामजो दशको गणः॥ ४७॥

पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।

वागदण्डजं च पौरुष्यं क्रोधेजोऽपि गणोऽष्टकः॥ ४८॥

शिकार खेलना, जूआ, दिन में सोना, दूसरों के दोष का वर्णन, स्त्रियों का सहवास, मद्य का मद, नाचना, गाना, बजाना, और वृथा घूमना ये काम से उत्पन्न दस व्यसन हैं। किसी का अज्ञात दोष प्रकट करना, साहस अर्थात् बुरे कामों में पराक्रम दिखलाना, द्रोह, ईर्ष्या (अर्थात् दूसरों के गुणों को न सहना), असूया (अर्थात् दूसरों के गुणों में दोष देखना), अर्थ दोष (अर्थात् अग्राह्य द्रव्य लेना और देय द्रव्य न देना), कठोर भाषण और क्रूर ताड़न, ये आठ क्रोध से उत्पन्न व्यसन हैं। ४७-४८।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः।

तं यत्नेन जयेत्तनोभं तज्जावेतावुभौ गणौ॥ ४९॥

पानमक्षाः स्त्रियचैव मृगया च यथाक्रमम्।

एतत्कष्टतमं विद्याचतुष्कं कामजे गणे॥ ५०॥

पण्डितों ने इन दोनों (काम-क्रोधोत्पन्न व्यसनों) का मूल जिस लोभ को बताया है उस लोभ को यत्नपूर्वक जीते। क्योंकि ये दोनों उसी लोभ से उत्पन्न होते हैं। काम से उत्पन्न होने वाले दुर्गुणों में मद्यपान, जूआ, स्त्री सेवन और आखेट, ये चार यथाक्रम बड़े ही दुःखदाई होते हैं। ४९-५०।

दण्डस्य पातनं चैव वाक्यारुष्यार्थदूषणे।

क्रोधेजोऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्रिकं सदा॥ ५१॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुवर्गिणः।

पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्वयसनमात्मवान्॥ ५२॥

दण्ड देना, क्रूर वचन कहना और धन का अपहरण करने ये तीन व्यसन क्रोधोत्पन्न व्यसनों में विशेष कष्टप्रद हैं। मद्यपानादि आनुषंगिक सात व्यसनों

में (जो प्रायः सब राजाओं में होते हैं। बुद्धिमान राजा उपयुक्त व्यसनों में से पूर्व-पूर्व व्यसन को कष्टतर जाने (जैसे अर्थ के अपहरण से कठोर भाषण, कठोर भाषण से दण्ड प्रहार, दण्ड प्रहार से आखेट, स्त्री सेवा और स्त्री सेवा से भी विशेष कष्टतर मद्यपान है।) ५१-५२।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।

व्यसन्यधोऽधो ब्रजति स्वर्गात्यव्यसनी मृतः॥ ५३॥

मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।

सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षिवान्॥ ५४॥

मृत्यु और व्यसन में व्यसन को ही कष्ट कहा है। क्योंकि व्यसनी मरने पर नरक में गिरता है और अव्यसनी मरने पर स्वर्ग को जाता है। जो अपने यहाँ वंश परम्परा से सेवा करने आ रहे हों, शास्त्रज्ञ हों, शूर हों, युद्ध विद्या में कुशल हों, जिनका कुल शुद्ध हो, ऐसे परखे हुए सात या आठ मन्त्रियों को राजा नियुक्त करे। ५३-५४।

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।

विशेषतोऽसहायेन किं तु राज्यं महोदयम्॥ ५५॥

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम्।

स्थानं समुदायं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च॥ ५६॥

जो कर्म सहज होने वाला है, वह भी एक से होना कठिन होता है तो बड़े-बड़े उत्तरदाई राजकार्य को सहायकों के बिना अकेले राजा कैसे सम्पादन कर सकता है? राजा उन मन्त्रियों के साथ नित्य सामान्य संधि, विग्रह स्थान (दण्ड कोष, पुर, राष्ट्रविषयक), समुदाय (अर्थात् धान्य और सुवर्ण आदि के उत्पत्ति स्थान) रक्षा और प्राप्त वस्तुओं को सत्पात्रों में अर्पण करने का विचार करे। ५५-५६।

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।

समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्विमतमात्मनः॥ ५७॥

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।

मन्त्रयेत्परमं मन्त्रं राजा षाड्गुण्यसंयुतम्॥ ५८॥

उन मन्त्रियों में सबका अलग-अलग अभिप्राय एकान्त स्थान में

जानकर फिर एक साथ सबका अभिप्राय जाने, इसके बाद जिसमें अपनी भलाई देखे वह कार्य करे। मन्त्रियों में जो ब्राह्मण विशेष विद्वान और विशिष्ट हो राजा उसके साथ सन्धि, विग्रह आदि छः गुणों से युक्त परम मन्त्रणा करे। ५७-५८।

नित्यं तस्मिन्समाशस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत्।

तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ ५९ ॥

अन्नानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान्।

सम्यगर्थसमाहर्तुंमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥ ६० ॥

राजा उस ब्राह्मण सचिव में सदा विश्वास करते हुए सब कामों का भार उस पर छोड़कर उसके साथ निश्चय कार्यारम्भ करे। अन्य भी पवित्र सच्चे स्वभाव वाले बुद्धिमान, व्यवस्थित चित्त वाले और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करने वाले सुपरीक्षित मन्त्रियों को नियुक्त करे। ५९-६०।

निवर्तेतास्य यावद्भरितिकर्तव्यता नृभिः।

तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥ ६१ ॥

तेषामर्थं नियुज्जीत शूरान्दक्षान्कुलोदगतान्।

शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥ ६२ ॥

राजा को अपने कार्यों के सम्पादन करने के लिए जितने मनुष्यों की आवश्यकता हो, उतने आलस्य रहित, कार्यदक्ष, प्रवीण व्यक्तियों को रखे। उनमें जो शूर, दक्ष और पवित्र व्यवहार के हों उन्हें सोने-चाँदी की खान और अन्नादि संचय स्थान में नियुक्त करे और जो भीरु स्वभाव के हों उन्हें राजभवन के किसी हल्के काम पर नियुक्त करे। ६१-६२।

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्।

इंगिताकारचेष्टज्ञं शुचिंदक्षं कुलोदगतम् ॥ ६३ ॥

अनुरक्तः सुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्।

वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥ ६४ ॥

जो सब शास्त्रों में कुशल, इंगित (इशारा) आकार (मुख-नेत्र के भाव) और चेष्टा से मून का भाव समझने वाले, पवित्र चरित्र चतुर और कुलीन हों, उन्हें राजदूत बनाये। लोगों से प्रेम करने वाला, सच्चरित्र, चतुर, मेधावी,

देशकाल को जानने वाला, स्वरूपवान्, निर्भीक और वक्ता ऐसा राजदूत राजा से प्रशंसनीय होता है। ६३-६४।

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया।

नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥ ६५ ॥

दूत एव हि संधत्ते भिनत्येव च संहतान्।

दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥ ६६ ॥

सेनापति की अधीनता में दण्ड होता है। विनय रूप क्रिया दण्ड के अधीन होती है। कोष और राष्ट्र राजा के अधीन होते हैं तथा सन्धि और विग्रह दूत के अधीन होते हैं। दूत ही बिगड़े हुआँ को मिलाता है और मिले हुआँ को फोड़ता है, दूत ही ऐसा काम करता है जिससे (शत्रु पक्ष का) जन-बल छिन्न-भिन्न हो जाय। ६५-६६।

स विद्यादस्य कृत्येषु निगूढेगितचेष्टितैः।

आकारभिगितं चेष्टां भृत्येषु च चिकीर्षितम् ॥ ६७ ॥

बुद्ध्वा च सर्वं तत्त्वेन पराजचिकीर्षितम्।

तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥ ६८ ॥

दूत प्रतिपक्षी राजा के कार्यों में नियुक्त सेवकों के इंगित और चेष्टा से उनके प्रति आकार, इंगित और चेष्टा जाने और सेवकों के प्रति उस राजा का कैसा भाव है यह भी जान ले। प्रतिपक्षी राजा के मन के भाव को भली-भाँति जानकर ऐसा यत्न करे जिसमें अपने ऊपर कोई संकट न आए। ६७-६८।

जांगलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाविलम्।

रम्यमानतसामन्तं स्वाजीव्यं देशमावसेत् ॥ ६९ ॥

धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ॥

नदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ ७० ॥

जो देश प्रचुर धान्यादिक से सम्पन्न हों, जहाँ धार्मिक लोग बसते हों, नोरोगादि से निरुपद्रव और रमणीय स्थान, जहाँ आसपास के रहने वाले लोग विनीत हों, जहाँ सुलभ जीविका हो ऐसे देश में राजा को निवास करना चाहिए। धनुर्दुर्ग (मस्खेष्टित) महीदुर्ग (पाषाणखण्डवेष्टित) जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग

नृदुर्ग या गिरिदुर्ग का आश्रय लेकर नगर का वास करे। ६९-७०।

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गं समाश्रयेत्।

एषां हि बहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते ॥ ७१ ॥

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगगतांश्रयाऽप्सराः।

त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवंगमनरामराः ॥ ७२ ॥

पूर्वोक्त छः प्रकार के किलों में से प्रयत्न करके गिरिदुर्ग का ही आश्रय करे, इन सभी दुर्गों में अधिक गुणों से युक्त होने के कारण गिरिदुर्ग की ही विशेषता है। इन दुर्गों में से प्रथम तीन दुर्गों में (यथाक्रम) मृग, चूहे और मगर (जलचर) आश्रय लेते हैं। तथा शेष तीन किलों में वृक्षदुर्ग के आश्रित वानर, मनुष्य और पशु-पक्षीगण तथा गिरिदुर्ग के आश्रित देवता होते हैं। ७१-७२।

यथा दुर्गाश्रितानेतात्रोपहिंसन्ति शत्रवः।

तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम् ॥ ७३ ॥

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।

शतं दशसहस्राणि तस्मादुर्गं विधीयते ॥ ७४ ॥

जैसे किले के आश्रित इन मृगादि जीवों को इनके शत्रु नहीं मार सकते, वैसे ही दुर्ग के आश्रित राजा को भी शत्रु नहीं मार सकते। किले में रहने वाला एक धनुर्धारी बाहर वाले सौ योद्धाओं का सामना कर सकता है और किले की एक सौ सेना दस सहस्र सेना के साथ युद्ध कर सकती है इसलिए दुर्ग अवश्य बनाना चाहिए। ६३-६४।

तत्स्यादायुधसंपन्नं धनधान्येन वाहनैः।

ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥ ७५ ॥

तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद्गृहमात्मनः।

गुप्तं सर्वर्तुकं शुभं जलवृक्षसमन्वितम् ॥ ७६ ॥

वह किला अस्त्र-शस्त्र धन-धान्य, वाहन, ब्राह्मण, शिल्पी, यन्त्र तृण और जल से परिपूर्ण रहना चाहिए। ऐसे दुर्ग के बीच में पर्याप्त खाई और सब प्रकार ऋतुओं के फल-फूल और निर्मल जल से भरे हुए कुओं और बावड़ियों से युक्त अपना राजभवन बनवाये। ६५-६६।

तदध्यास्योद्वहेत्भार्या सवर्णा लक्षणांविताम्।
 कुले महति संभूता हृद्यां रूपगुणांविताम्॥ ७७॥
 पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चत्विजः।
 तेऽस्य गृहाणि कर्माणि कुर्युर्वैतानिकानि च॥ ७८॥

उस राजभवन में रहकर अपनी जाति के उच्चकुल में उत्पन्न शुभ लक्षण और रूप गुणों से युक्त कन्या के साथ ब्याह करे। पुरोहित को नियुक्त करके और ऋत्विजों को कर्म करने के लिए वरण करे वे गृह्यसूत्र के अनुसार राजा के शान्त-कर्मादि करें। ७७-७८।

यजेत राजा क्रतुभिर्विविधैरासदक्षिणैः।
 धर्मार्थं चैव विप्रेभ्यो दद्याद्भोगान्धनानि च॥ ७९॥
 सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम्।
 स्याच्चास्तायपरो लोके वर्तेत पितुवनृषु॥ ८०॥

राजा धर्म के निमित्त बहुदक्षिणायुक्त विविध प्रकार के यज्ञ करे और ब्राह्मणों को भोग्य पदार्थ और धन दे। राजा शास्त्र के अनुसार राजकर्मचारियों द्वारा प्रजाओं से वार्षिक कर वसूल कराये और उनके साथ पिता के समान व्यवहार करे। ७९-८०।

अध्यक्षानिविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चितः।
 तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्वृणां कार्याणि कुर्वताम्॥ ८१॥
 आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत्।
 नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मोऽभिधीयते॥ ८२॥

भिन्न-भिन्न कार्यों के देखभाल के लिए भिन्न-भिन्न कार्यकुशल व्यक्तियों को अध्यक्ष नियुक्त करे। ये अध्यक्ष उन सब कामों में नियुक्त कर्मचारियों के काम की देखभाल करें। राजा को गुरुकुल से लौटकर आये हुए ब्राह्मणों की पूजा करना चाहिए क्योंकि राजाओं की यह ब्रह्मनिष्ठ निधि अक्षय कही गई है। ८१-८२।

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।
 तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्रह्मणेष्वक्षयो निधिः॥ ८३॥
 न स्कन्दते न व्यथते न विनश्यति कर्हिचित्।
 वरिष्ठमग्निहोत्रेभ्यो ब्रह्मणस्य मुखे हुतम्॥ ८४॥

उस निधि को चोर नहीं चुरा सकते, शत्रु नहीं हरण कर सकते और न वह कभी नष्ट हो सकती है, इसलिए राजा को ब्राह्मणों में यह अक्षय निधि स्थापना करनी चाहिए। अग्नि में किए गए हवन की अपेक्षा ब्राह्मणों के मुंह से किया गया होम श्रेष्ठ है। क्योंकि यह हवि इधर-उधर नहीं गिरती न सूखती है और न कभी नष्ट होती है। ८३-८४।

सममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणबुवे।

प्राधीते शतशाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ ८५ ॥

पात्रस्य हि विशेषेण श्रद्धानतयैव च।

अल्पं वा बहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते ॥ ८६ ॥

ब्राह्मणेतर को दान देने के फल से दूना फल अपने को सिर्फ ब्राह्मण कहने वाले ब्राह्मण को देने से होता है। विद्वान ब्राह्मण को दान देने से दान का लाख गुना और वेदपारगामी ब्राह्मण को दिए दान का फल अनन्त गुना होता है। पात्र की विशेषता और श्रद्धा के तात्पर्य से दान का फल परलोक में थोड़ा या बहुत मिलता ही है। ८५-८६।

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन्प्रजाः।

न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ८७ ॥

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।

शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥ ८८ ॥

प्रजा का पालन करता हुआ क्षात्र धर्म के अनुसार सम बल अधिक बल या कम ही बल वाले राजा से युद्धार्थ बुलाये जाने पर युद्ध में मुंह न मोड़े। युद्ध में पीठ न दिखाना प्रजाओं का पालन और ब्राह्मणों की सेवा ये राजाओं के लिए परम कल्याण कारण हैं। ८७-८८।

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महौक्षितः।

युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखा ॥ ८९ ॥

न कटैरायुधैर्हन्वाद्युध्यमानो रणे रिपून्।

न कूर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः ॥ ९० ॥

युद्ध में परस्पर एक-दूसरे को मारने की इच्छा करने वाले सम्पूर्ण शक्ति लगाकर लड़ने वाले युद्ध में पीठ न दिखाने वाले राजा सीधे स्वर्ग को जाते

हैं। युद्ध में लड़ते हुए शत्रुओं को कूट शस्त्रों से कर्णिका के आकार सदृश फलक वाले विष से बुझे हुए और अग्निदीप्त बाणों से न मारे। ८९-९०।

न चहन्त्यात्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम्।

न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्॥ ९१॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम्।

नानुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्॥ ९२॥

(आप तो सवाम्नी पर हो और शत्रु) पृथ्वी पर खड़ा हो तो उसे न मारे। जो नपुंसक हो या जो हाथ जोड़े सामने खड़ा हो, जिसके बाल खुले हों, या जो नीचे बैठा हो, या जो "मैं तुम्हारा हूँ" ऐसा कह रहा हो, ऐसे शत्रु को न मारे। सोये हुए युद्धोपयोगी जिरह-बख्तरादि न धारण किये हुए नंगे निःशस्त्र जो लड़ना न चाहता हो जो दर्शक हो या दूसरे के साथ लड़ रहा हो उसे न मारे। ९१-९२।

नायुधव्यसनप्राप्तं नातं नातिपरिक्षतम्।

न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन्॥ ९३॥

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः।

भर्तुर्यददुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते॥ ९४॥

जिसका आयुध टूट गया हो, जो शोकाकुल हो, जो अत्यन्त घायल हो जो भयभीत हो जो युद्ध से भागा हो ऐसे शत्रु को शिष्ट क्षत्रियों को धर्म स्मरण कर न मारे। जो युद्ध में डर से भागता हुआ शत्रु से मारा जाता है वह अपने स्वामी के सभी पापों का बोझ अपने सिर पर लेता है। ९३-९४।

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।

भर्तातत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु॥ ९५॥

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।

सर्वद्रव्याणिकूप्यं च यो यञ्जति तस्य तत्॥ ९६॥

युद्ध में भागने वाले के परलोक के लिए संचित सभी पुण्य उसके स्वामी को प्राप्त होते हैं। रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्री (दासी आदि) गुड़, नमक, द्रव्य (चाँदी, सोना छोड़कर) तौबा, पीतल आदि द्रव्य इनमें जिस वस्तु को जो जीत कर लाता है वह उसी का होता है। ९५-९६।

राज्ञश्च दद्युर्द्वारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।

राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम्॥ ९७॥

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योगधर्मः सनातनः।

अस्माद्धर्मान्न च्यवेत क्षत्रियोऽन्यन् रणे रिपून्॥ ९८॥

योद्धा युद्ध में जीते हुए हाथी घोड़े रथ आदि सब कुछ राजा को अर्पित कर दे यह वेद का वचन है। सभी सैनिकों द्वारा एक साथ जीता हुआ जो धन हो उसे राजा सैनिकों में बाँट दे। यह अनिन्दित सनातन योद्धाओं का धर्म कहा। युद्ध में शत्रुओं को मारने वाला क्षत्रिय इस धर्म से च्युत न हो। ९७-९८।

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्रयत्नतः।

रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निःक्षिपेत्॥ ९९॥

एतच्चतुर्विधं विद्यात्पुरुषार्थप्रयोजनम्।

अस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुर्यादतन्द्रितः॥ १००॥

जो पदार्थ (भूमि रत्न आदि) प्राप्त न हो उसे पाने की इच्छा करे, जो सम्पत्ति जीत कर लाया हो उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षित धन को बढ़ाने की चेष्टा करे और बढ़ा हुआ धन सुपात्रों में बाँट दे। पूर्वोक्त चार बातों का पुरुषार्थ का साधन समझे और निरालस्य होकर सदा सावधानी से उनका अनुष्ठान करे। ९९-१००।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया।

रक्षितं वर्धयेद्वृद्धया वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्॥ १०१॥

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः।

नित्यं संवृतसंवार्यौ नित्यं छिद्रानुसार्यरेः॥ १०२॥

अप्राप्त पदार्थ को दण्ड (चतुरंगिणी सेना) बल से पाने की इच्छा करे जो सम्पत्ति जीत कर लाया हो उसकी देख-रेख सुरक्षा कर रक्षित धन को वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा बढ़ाये और बढ़े हुए धन को शास्त्रीय विभाग के अनुसार पात्रों में दान कर दे। सर्वदा सेना को तैयार रखे, नित्य अपने पुरुषार्थ को दिखलाये अपना मंत्र सदा गुप्त रखे और शत्रु के छिद्रों का नित्य पता लगाता रहे। १०१-१०२।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।
 तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥ १०३ ॥
 अमाययैव वर्तेत न कथंचन मायया।
 बुद्ध्येतारिप्रयुक्तां च मायां नित्यं स्वसंवृतः ॥ १०४ ॥

हमेशा सेना को तैयार रखने वाले राजा से सारा संसार डरता है इसलिए सभी प्राणियों को दण्ड बल से ही अपने अधीन करे। मंत्रियों के साथ कभी कपट से व्यवहार न करे, अपनी रक्षा का पूरा प्रबन्ध करता हुआ शत्रु की माया को (चरों के द्वारा) जानता रहे। १०३-१०४।

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।
 गूहेत्कूर्मं इवांगानि रक्षोद्विपरमात्मनः ॥ १०५ ॥
 बकवच्चिन्त्येदर्थान्सिंहवच्च पराक्रमेत्।
 वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥ १०६ ॥

शत्रु उसके छिद्र को न जाने किन्तु वह शत्रु के छिद्र को जान ले। कछुआ जैसे अपने अंगों को छिपाता है वैसे ही राजा भी अपने आत्मादि अंगों को (दान-सम्मान से) अपने हाथ में रखते हुए अपने छिद्र को न प्रकट होने दे। बगुले की तरह धन लेने की चिन्ता करे, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये की भाँति अवसर पाकर शत्रु को मार डाले और बलवान शत्रु से घिर जाने पर खरहे की तरह निकल भागे। १०५-१०६।

एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः।
 तानानयेद्वशं सर्वांस्सामादिभिरूपक्रमैः ॥ १०७ ॥
 यदि ते नु न तिष्ठेपुरुषार्थैः प्रथमैस्त्रिभिः।
 दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छिनकैर्वशमानयेत् ॥ १०८ ॥

इस प्रकार विजयी राजा सामादि उपायों से अपने सभी शत्रुओं को वश में ले आये। यदि वे पहले (साम दाम भेद) तीनों उपायों से वश में न आयें तो उनके राज्य पर चढ़ाई कर थोड़ा या बहुत दण्ड सैन्य द्वारा लेकर उन्हें वश में ले आवे। १०७-१०८।

सामादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
 सामदंडौ प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्राभिवृद्धये ॥ १०९ ॥

यथोद्धरति निर्दाता कक्ष धान्यं च रक्षति।

तथा रक्षेत्रूपो राष्ट्र हन्याच्च परिपन्थिनः॥ ११०॥

पण्डित लोग सामादिक चार उपायों में से राष्ट्रवृद्धि के लिए साम और दण्ड की ही सदा प्रशंसा करते हैं। जैसे खेतिहर तृण को उखाड़कर पैरु देता है और धान्य की रक्षा करता है वैसे राजा शत्रुओं का नाश करे और राष्ट्र की रक्षा करे। १०९-११०।

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया।

सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्छ सर्वांधवः॥ १११॥

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा।

तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात्॥ ११२॥

जो राजा अज्ञान से अपनी प्रजा को सताता है, वह शीघ्र ही अपने बान्धवों सहित राज्य और जीवन से हाथ धो बैठता है। जैसे शरीर के क्षीण होने से प्राणियों के प्राण नष्ट होते हैं, वैसे ही राजाओं के प्राण प्रजापीड़न से नष्ट होते हैं। १११-११२।

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।

सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते॥ ११३॥

द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।

तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम्॥ ११४॥

राष्ट्र रक्षा के लिए राजा सदा यह उपाय करे। भली-भाँति अपने राष्ट्र की रक्षा करने वाला राजा सुख भोगता है। दो या तीन या पाँच या सौ गाँवों के बीच में राज्य की रक्षा के लिए रक्षक समूह को नियुक्त करे। ११३-११४।

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।

विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च॥ ११५॥

ग्रामदोषान्समुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।

शंशेद्ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥ ११६॥

प्रत्येक गाँव में एक-एक ग्राम का अधिकारी नियुक्त करे, फिर दस, बीस, सौ और सहस्र गाँवों का एक-एक अधिकारी पृथक् नियुक्त करे। उत्पन्न हुए ग्राम के दोष को यदि ग्रामाधिपति उसके निवारण में असमर्थ हो तो उसके शमन के लिए ग्रामाधिपति देशग्रामाधिपति से कहे। ११५-११६।

विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत्।

शंशेद्ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ ११७ ॥

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः।

अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात् ॥ ११८ ॥

(यदि वह उसका उपाय न करें तो) वह विंशति ग्रामाधिपति से कहे, इसी प्रकार उत्तरोत्तर विंशतिपति सतपति सहस्रपति से निवेदन कहे। ग्रामवासियों से प्रतिदिन जो कुछ अन्न, पान ईंधन आदि राजा को देने के लिए दिया जाय वह ग्रामाधिपति अपनी वृत्ति के लिए ले। ११७-११८।

दशी कुलं तु भुज्जीत विंशी पञ्च कुलानि च।

ग्रामं ग्राशशताध्यक्षः सहस्राधि पतिः पुरम् ॥ ११९ ॥

तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।

राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १२० ॥

दश ग्रामाधिपति एक कुल को बीस गाँवों का अधिपति पाँच कुल को सौ गाँवों का अधिपति एक गाँव को और सहस्राधिपति एक साधारण नगर को राजाज्ञा से अपने निर्वाह के लिए ले। उन ग्रामों के निवासियों के परस्पर किये हुए कार्यों को और अलग किये हुए कार्यों को राजा के हितसाधन में नियुक्त मंत्री को आलस्यरहित होकर देखना चाहिए। ११९-१२०।

नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।

उच्चैःस्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १२१ ॥

स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।

तेषां वृत्तं धरिणयेत्सम्यग्ग्राष्टेषु तच्चरैः ॥ १२२ ॥

प्रत्येक नगर में सभी प्रकार के कार्यों को देखने वाले भयानक तेजस्वी

१. छः बैलों का एक समय मध्यम हल होता है। ऐसा ही दो हलों से जितनी भूमि जोती जाय उसे कुल कहते हैं।

अधिकारी नियुक्त करे जैसे नक्षत्रों में शुक्र आदि ग्रह। वह अधिकारी उन सब ग्रामाधिकारियों की सदा स्वयं देखभाल करे और (राजा) अपने गुप्तचरों (जासूसों) द्वारा सभी पदाधिकारियों के और प्रजाओं के आचार-व्यवहार को अच्छी तरह जाने। १२१-१२२।

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः।

भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षादिताः प्रजाः ॥ १२३ ॥

ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः।

तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १२४ ॥

क्योंकि प्रायः राजा के वे रक्षाधिकारी अधिकतर दूसरे के धन को हरण करने वाले और वंचक होते हैं, इसलिए (राजा) उन लोगों से प्रजाओं की रक्षा करें। जो पापात्मा कर्मचारी कर्मचारियों से घूस लें, राजा उनको सर्वस्व हरण कर उन्हें अपने देश से निकाल दें। १२३-१२४।

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेथ्यजनस्य च।

प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः ॥ १२५ ॥

पण देयोऽवकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।

षांडमासिकरतथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मांसिक ॥ १२६ ॥

राज कार्यों में नियुक्त दास-दासियों को उनके कर्म के अनुसार प्रतिदिन वृत्ति और पद नियुक्त करे। नीच कर्म करने वाले को एक पण और अच्छे कर्म करने वाले को प्रदिन छः पण प्रत्येक मास एक द्रोण तथा छः महीने पर दो वस्त्र देना चाहिए। १२५-१२६।

क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।

योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ॥ १२७ ॥

तथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।

तक्षावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥ १२८ ॥

व्यापारी के माल की खरीद व बिक्री तथा पूरा खाने-पीने का खर्च-माल की हिफाजत में जो खर्च हुआ इन सब बातों को विचार कर राजा

१. आठ मुट्ठी का एक किंचित, आठ किंचित का एक पुष्कल, चार पुष्कल का एक आदक और चार आदक का एक द्रोण होता है।

उनसे कर लेवे। जिससे राजा और व्यापार, कृषि आदि करने वाले व्यवसायियों को लाभ हो, इनका विचार कर राजा सदा कर की कल्पना करे। १२७-१२८।

तथात्याल्पमदन्त्याहं वार्योकोवत्सषट्पदाः।

यथात्याल्यो ग्रहीतव्यो राष्ट्रादाज्ञाब्दिकः करः॥ १२९॥

पञ्चादशभाग आदेयो राजा पशुहिरण्ययोः।

धान्यनामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा॥ १३०॥

जिस प्रकार जौंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़ा-थोड़ा अपना भक्ष्य खाते हैं उसी प्रकार राजा को प्रजाओं से थोड़ा-थोड़ा ही वार्षिक कर लेना चाहिए। राजा को व्यापारियों से पशु और सोने के लाभ का पचासवाँ भाग और कृषकों से अन्न का छठा, आठवाँ या बारहवाँ भाग लेना चाहिए। १२९-१३०।

आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्।

गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च॥ १३१॥

पत्रशाकतृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।

मृन्मयानां माण्डानां सर्वस्याश्मयस्य च॥ १३२॥

पेड़, माँस, मधु, घी, गंध, औषध, रस, फूल, कन्दमूल, पत्ते, साग, तृण, चमड़ा, बाँस के बर्तन, मिट्टी और पत्थर के बर्तन, इनके लाभ का छठा भाग लेना चाहिए। १३१-१३२।

प्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम्।

न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन्॥ १३३॥

यस्तु राजस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।

तस्यापि तत्क्षुधः राष्ट्रमचिरेणैव सादति॥ १३४॥

राजा अत्यन्त संकटवस्था में भी श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर न ले और उनके राज्य में रहने वाला वेदाध्यायी ब्राह्मण भूख से पीड़ित न होने पाये ऐसा ध्यान रखे। जिस राजा के राज्य में वैदिक ब्राह्मण भूख से दुःख पाता है, उस राजा का राज्य भी उसकी क्षुधा से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। १३३-१३४।

श्रुतवृत्ते विदितवास्य वृत्तित्त धर्म्यां प्रकल्पयेत्।

संरक्षेत्सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम्॥ १३५॥

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरुते धर्ममन्वहम् ।

तेनायुर्वर्धते राज्ञो द्रविणं राष्ट्रमेव च ॥ १३६ ॥

रजा उसके वृत्तान्त को सुनकर उसके कालक्षेप के लिए धर्म रूप वृत्ति नियत कर दे और जिस प्रकार पिता अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है, उसी प्रकार सर्वतोभावेन उसकी रक्षा करे। राजा से सुरक्षित वह ब्राह्मण प्रतिदिन जो कुछ धर्मानुष्ठान करता है उससे राजा की आयु, धन और राज्य की वृद्धि होती है। १३५-१३६।

यत्किञ्चिदपि वर्षस्य दापयेत्करसंज्ञितम् ।

व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम् ॥ १३७ ॥

कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः ।

एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥ १३८ ॥

राजा अपने राज्य में छोटे व्यापार से जीने वाले व्यापारियों से भी कुछ न कुछ वार्षिक कर लिया करे। कारीगरी का काम करके जीने वाले, लोहार, बेलदार और बोझा ढोने वाले आदि मजदूरों से करस्वरूप महीने में एक दिन काम ले। १३७-१३८।

नोच्छिन्द्यात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णाया ।

उच्छिन्द्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥ १३९ ॥

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः ।

तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥ १४० ॥

(कर न लेकर) अपने मूल का उच्छेद न करे और अधिक लोभ वश प्रजा का भी मूलोच्छेदन न करे क्योंकि मूलोच्छेद से अपने को और प्रजा को पीड़ा होती है। कार्य को देखकर कोमल और कठोर होना चाहिए, क्योंकि समयानुसार राजा का कोमल या कठोर होना सभी को अच्छा लगता है। १३९-१४०।

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्गतम् ।

स्थापयेदासने तस्मिन्निब्रतः कार्येक्षणे नृणाम् ॥ १४१ ॥

एवं सर्वं विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः ।

युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमा प्रजाः ॥ १४२ ॥

यदि प्रजाओं का कार्य देखने में मन न लगता हो तो राजा अपने स्थान

पर धर्मज्ञ, प्रवीण, जितेन्द्रिय, सत्यशील, कुलीन और श्रेष्ठ मंत्री को नियुक्त करे। इस प्रकार अपने सभी कामों की व्यवस्था करके दक्षता और सावधानी के साथ अपनी प्रजा की रक्षा करे। १४१-१४२।

विक्राशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्धियन्ते दस्युभिः प्रजाः।

संपश्यतः सभृतस्य मृतः स न तु जीवति ॥ १४३ ॥

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।

निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥ १४४ ॥

जिस राज्य में राजा और मंत्रियों के सामने राज्य की प्रजा रक्षा के लिए चिल्लाती हुई भी डाकुओं से लुट जाती है, वह राजा जीता हुआ भी मरे हुए के समान है। क्षत्रिय का परम धर्म प्रजाओं का पालन करना ही है, क्योंकि प्रजाओं से निर्दिष्ट फल भोगने के कारण राजा उस धर्म से सम्बद्ध होता है। १४३-१४४।

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः।

हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चाच्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥ १४५ ॥

तत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत्।

विसृज्य च प्रजाः सर्वा मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ १४६ ॥

रात के पिछले पहर उठकर, शौचादि क्रिया से निवृत्त हो, संयत चित्त से अग्नि में हवन और ब्राह्मणों का पूजन कर, राजा अपनी सुन्दर राजसभा में प्रवेश करे। सभा में उपस्थित प्रजाओं को संभाषणादि से प्रसन्न कर विदा कर दे। प्रजाओं के चले जाने पर मंत्रियों के साथ मंत्रणा करे। १४५-१४६।

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।

अरण्ये निःशलाके ब मन्त्रयेदविभाषितः ॥ १४७ ॥

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।

स कृत्सनां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहिनोऽपि पार्थिवः ॥ १४८ ॥

पहाड़ पर या निर्जन रजमहल के एकान्त स्थान में अथवा वन में सूतर्क होकर मंत्रणा करे। जिस राजा के विचार को और अन्य लोग एक होकर भी नहीं जानते, वह राजा दरिद्र होने पर भी सारी पृथ्वी को भोगता है। १४७-१४८।

जडमूकान्धवचिरांस्तैर्यग्यौनान्वयोतिगाम् ।

स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्यङ्गान्मन्त्रकालेऽपसारयेत् ॥ १४९ ॥

भिन्दन्त्यवमता मन्त्रं तैर्यग्योनास्तथैव च।

स्त्रियश्चैव विशेषेण तस्मात्तत्रादृतो भवेत्॥ १५०॥

बुद्धिहीन, गूँगा, अन्धा, बहरा, शुक-सारिकादि पक्षी, बूढ़ा, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी और अंगहीन इन सबको मंत्रणा करते समय हटा देना चाहिए। ये लोग अपमानित होने पर गुप्त मंत्रणा प्रकट कर देते हैं। वैसे ही शुक-सारिकादि पक्षी और विशेषकर स्त्रियाँ गुप्त मन्त्र प्रकट कर देती हैं। इसलिए राजा इन सबको मंत्रणा स्थान से दूर रखे। १४९-१५०।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।

चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्थं तैरेक एव वा॥ १५१॥

परस्परविरुद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।

कन्यानां संप्रदानं च कुमारानां च रक्षणम्॥ १५२॥

मध्य दिन में या आधी रात को, अथवा जब चित्त शांत हो और शरीर क्लेशरहित हो, तब राजा मंत्रियों के साथ या अकेला ही धर्म, अर्थ और काम का चिन्तन करे। परस्पर विरुद्ध रहने वाले धर्मों का (परिहारपूर्वक) उपार्जन करे। कन्याओं का दान और कुमारी की रक्षा करने का उपाय सोचे। १५१-१५२।

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।

अन्तःपुरप्रचारं च प्राणिधीनां च चेष्टितम्॥ १५३॥

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पञ्चवर्गं च तत्त्वतः।

अनुरागोपरागौ च प्रचारं मण्डलस्य च॥ १५४॥

दूसरे राज्यों में दूत भेजना और प्रत्येक काम को समाप्त करने के विषय में विचार करे। मुहल्ले में रहने वाली स्त्रियों के कार्यों पर निगाह रखे और दूसरे राज्य में भेजे हुए गुप्त दूतों का भेद लगाने के लिए दूसरे दूतों को नियुक्त करे। आठ प्रकार के कर्म, पंचवर्ग अनुराग, विरोध और राजाओं का रंग ढंग यह सब अच्छी तरह सोचे (अर्थात् किस राजा से सन्धि, किससे विग्रह,

१. प्रजाओं से कर आदि लेना, २. भृत्य और याचकों को यथा योग्य धन देना, ३. मन्त्रियों को किसी काम से भेजना, ४. अनावश्यक कार्यों को रोकना, ५. कार्य में सन्देह होने पर राजा की आज्ञा को ही सर्वश्रेष्ठ मानना, ६. व्यावहारिक कामों का देखना, ७. पराजितों से उचित धन लेना, ८. किसी पाप के लिए प्रायश्चित्त करना ये आठ प्रकार के कर्म हैं।

२. पंचवर्ग-अर्थात् पाँच प्रकार के चर यथा :-

उनका प्रतिकार कैसे करना चाहिए इन बातों का विचार करे। १५३-१५४।

मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम्।

उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ १५५ ॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।

अष्टौचान्याः समाख्याता द्वादशैवतु ताः स्मृताः ॥ १५६ ॥

मध्यम^१ का प्रचार विजिगीषु^२ की चेष्ट और उदासीन^३ तथा शत्रु का प्रयत्न इन सब बातों को बड़े यत्न से सोचे। ये मध्यम आदि संक्षेप से प्रकृतियाँ हैं जो राजमण्डल की मूल हैं, इनके अतिरिक्त आठ^४ और प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार मिलकर दोनों १२ प्रकृतियाँ शास्त्र में कही गई हैं। १५६-१५६।

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पञ्च चापराः।

प्रत्येकं कथिता होताः संक्षेपेण द्विसप्ततिः ॥ १५७ ॥

१. कापटिक, २. उदास्थित, ३. गृहस्थ, ४. वाणिजक, ५. तापस।

कापटिक—जो कपटी हो दूसरे के मर्म को जानने वाला और अपने को छिपाने में चतुर हो राजा ऐसे चतुर व्यक्ति के साथ एकान्त में बात करे।

उदास्थित—भ्रष्ट संन्यासी के रूप में हो उसे बैरी तथा प्रजा का सच्चा भेद देने के लिए नियुक्त करके राजा एकान्त में उससे सभी भेदों को जाने।

गृहस्थ—जो साधारण स्थिति का होने पर भी चतुर, पवित्रात्मा हो राजा उसकी वृत्ति निश्चित कर अपना गुप्तचर नियुक्त करे।

वाणिजक—जिस बनिये के पास पूंजी न हो, किन्तु व्यापार करने में चतुर हो, उसे धन देकर व्यापार के बहाने अपने देश में या अपने देश के बाहर भेजकर उसके द्वारा गुप्त भेद लेना चाहिए।

तापस—जो संन्यासी नीतिज्ञ हो और जीविका से हीन हो उसे वृत्ति देकर अपना गुप्त दूत नियुक्त करे और वह अपने कपटी शिष्यों के साथ त्रिकालज्ञ बना हुआ राजा के प्रति लोगों के मनोभाव जानकर एकान्त में राजा से कहे।

१. जो शत्रु की विजय की इच्छा करने वाले राजा की भूमि से तटस्थ हो और उन दोनों के मिल जाने पर अनुग्रह करने में और उन दोनों में विभिन्नता होने से दण्ड देने में समर्थ हो वह मध्यम है।

२. बुद्धि, उत्साह, गुण और स्वभाव में जो दृढ़ हो उसे विजिगीषु कहते हैं।

३. जो विजिगीषु और मध्यम के मिले रहने पर अनुग्रह करने में और उनके न मिले रहने पर निग्रह करने में समर्थ हो वह उदासीन है।

४. १. मित्र, २. अरिमित्र, ३. मित्रमित्र, ४. अरिमित्रमित्र, ५. पार्श्विग्रही, ६. आक्रन्द, ७. पार्श्विग्राहासार, ८. आक्रान्दासार ये आठ प्रकृतियाँ हैं।

अनन्तरमरिं विद्यादरिसेविनमेव च ।

अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम् ॥ १५८ ॥

प्रत्येक भेद के मन्त्री, देश, दुर्ग, कोष और सैन्य ये पाँच प्रभेद और होते हैं। संक्षेप में सब मिलकर ७२ कहे गये हैं। राजा को अपने राज्य की सीमाओं से सम्बन्धित राज्यों के राजाओं और उनके सेवकों की शत्रु-प्रकृति जानना चाहिए। इनसे मिले राजाओं के जो राज्य हों उन्हें मित्र-प्रकृति जानना चाहिए और इन दोनों के परे जो राजा हों उन्हें उदासीन-प्रकृति जानना चाहिए। १५७-१५८।

तान्मर्वानभिसंसध्यात्मादिभिरुपक्रमैः ।

व्यस्तैश्चैव समस्तैश्च पौरुषेण नयेन च ॥ १५९ ॥

संधि च विग्रहं चैव यावमासनमेव च ।

द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयैत्सदा ॥ १६० ॥

उन सभी राजाओं को साम, दण्ड और विभेद आदि उपायों से वश में करे अथवा केवल दण्ड से या केवल साम से उन्हें अपने वश में करे। सन्धि (मेल), विग्रह (विरोध), यान (शत्रु के देश पर चढ़ाई करना), आसन (उपेक्षण), द्वैधीभाव (बल का दो भागों में बांटना) और संश्रय (शत्रु से सताये जाने पर प्रबल राजा का आश्रय लेना), इन छः गुणों को सदा सोचना चाहिए। १५९-१६०।

आसनं चैव यानं सन्धिं विग्रहमेव च ।

कार्यं वीक्ष्य प्रयुज्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥ १६१ ॥

सन्धिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।

उभे यानाशने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६२ ॥

कर्तव्य के अनुसार ही आसन, आक्रमण, सन्धि, विग्रह, विभेद और संश्रय का प्रयोग करे। संधि, विग्रह, यान, आसन, विभेद और संश्रय, ये दो प्रकार के होते हैं। १६१-१६२।

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।

तदात्वायतिसंयुक्तः संधिर्शोयो विलक्षणः ॥ १६३ ॥

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा।

मित्रस्य चेतोपकृते द्विविधो विग्रहः स्मृताः ॥ १६४ ॥

वर्तमान अथवा भविष्य में होने वाले लाभ की आशा से दूसरे राजा के साथ मिलकर जो आक्रमण किया जाता है वह समान यान कर्मा और दोनों आपस में मिलकर अलग-अलग होकर जो आक्रमण करते हैं वह असमानयान सन्धि है। यह दो प्रकार की सन्धियाँ हैं। कार्य की सिद्धि के लिए यथोक्त समय पर या असमय में ही शत्रु के जीतने की इच्छा से जो युद्ध किया जाता है वह एक प्रकार का विग्रह है, अपने मित्र का किसी के द्वारा अपकार होने पर जो युद्ध किया जाता है, वह दूसरे प्रकार का है। १६३-१६४।

एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया।

संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥ १६५ ॥

क्षीणस्य चैव कृमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा।

मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥ १६६ ॥

यान भी दो प्रकार के होते हैं—अत्यन्त आवश्यक कार्य में फंसे हुए शत्रु को देख उस पर अकेले आक्रमण करना अथवा स्वयं शक्य होने पर मित्र के साथ मिलकर चढ़ाई करना। दुर्भाग्य से अथवा पूर्व जन्म के पाप से जिस राजा की सम्पत्ति नष्ट हो गई हो वह राजा शत्रु की उपेक्षा करे। यह एक “आसन” है, और समर्द्धशाली होते हुए भी मित्रों के अनुरोध से (मित्रों के लाभार्थ) शत्रु की उपेक्षा करे यह दूसरा “आसन” है। इस प्रकार दो प्रकार का आसन कहा गया है। १६५-१६६।

बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितः कार्यार्थसिद्धये।

द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुणगुण्यवेदिभिः ॥ १६७ ॥

अर्थसंपादनार्थं च पीडयमानस्य शत्रुभिः।

साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥ १६८ ॥

कार्य और धन दोनों की सिद्धि के लिए सेनापति और राजा की स्थिति को द्विधा करना। इस द्वैध को (संधि आदि) छः गुणों के जानने वालों ने दो का कहा है। शत्रुओं से सताये जाने पर कार्य और अर्थ की सिद्धि के

लिए किसी बलवान राजा का आश्रय लेना अथवा किसी शत्रु से सताये जाने की आशंका से किसी बलवान राजा का आश्रय घोषित कर देना—यह दो प्रकार का संश्रय कहा गया है। १६७-१६८।

यदावगच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः।

तदात्वे चाल्पिकां पीडां यदा संधिं समाश्रयेत्॥ १६९॥

यदा प्रकृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।

अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्॥ १७०॥

यदि निश्चित रूप से सन्धि करने में ही अपनी वृद्धि समझे तो थोड़ा कष्ट और हानि सहकर भी सन्धि कर ले। जब अपनी सारी प्रकृति (अर्थात् मन्त्री आदि अधिकारी वर्ग) पूरे तौर पर संतुष्ट हों और अपने शत्रु से बल में सब प्रकार से बढ़े हों, तब विग्रह अर्थात् युद्ध करे। १६९-१७०।

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम्।

परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिषुं प्रति॥ १७१॥

यदा तु स्यात्परिक्षोणो वाहनेन बलेन च।

तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सांत्वयन्नरीन्॥ १७२॥

जब अपने सेनापति इत्यादि को भली भाँति हृष्ट-पुष्ट समझे और अपने शत्रु को इसके विपरीत जाने, तब उस पर आक्रमण करे। जब राजा अपने वाहन और सैन्य बल से क्षीण हो जाय तो साम-दानादि नीति से शत्रुओं को धीरे-धीरे शान्त करे। १७१-१७२।

मन्नेतारि यदा राजां सर्वथा बलवत्तरम्।

तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः॥ १७३॥

तदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत्।

तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम्॥ १७४॥

जब राजा सब प्रकार से शत्रु को बलवान जाने तब सेना को दो भागों में विभाजित कर एक भाग को किले में रखे और दूसरे भाग को शत्रु से लड़ने को भेजकर अपना कार्य साधन करे। राजा जब अपने को शत्रु के हाथ में जाने वाला ही समझे तब वह शीघ्र ही किसी धार्मिक और बली राजा के आश्रय में चला जाय। १७३-१७४।

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽबलस्य च।

उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥ १७५ ॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम्।

सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशंकः समाचरेत् ॥ १७६ ॥

जिन दोषों से राजा को ऐसी विपत्ति उत्पन्न हुई हो और जिस शत्रु सैन्य से भय उत्पन्न हुआ हो इन दोनों का निग्रह करने वाले राजा का आश्रय करके उसकी गुरु की भाँति सब प्रकार सेवा करे। यदि संश्रय करने पर भी अपनी रक्षा न हो सके को निःशंक होकर युद्ध करे। १७५-१७६।

सर्वोपायैस्तथा कुर्यात्त्रीतिज्ञः पृथिवीपतिः।

यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥ १७७ ॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।

अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥ १७८ ॥

नीतिज्ञ राजा सभी उपायों से ऐसा कर्म करे जिससे उसके मित्र, उदासीन और शत्रु की संख्या न बढ़ने पाये। उस समय भूत और भविष्यकाल के सभी कार्यों के गुण-दोष को राजा खूब ध्यान से विचार करे। १७७-१७८।

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः।

अतीते कायशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥ १७९ ॥

यथैनं नामिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः।

तथा सर्वं संविदध्यादेश सामासिको नयः ॥ १८० ॥

भविष्य के गुण-दोषों से उपस्थित कार्यों का निश्चय कर शीघ्र पूर्ण करने वाला और बीती हुई बातों के शेष भाग को समझने वाला राजा कभी शत्रुओं से पराजित नहीं होता। जिस नियम से मित्र, उदासीन और शत्रु कोई कभी उसे कष्ट न दे सके, ऐसे ही नियम से चलना चाहिए-संक्षेप में यही नीति है। १७९-१८०।

यदा नु यानमातिष्ठेदरिराष्ट्रं प्रति प्रभुः।

तदानेन विधानेन यायादरिपुरं शनैः ॥ १८१ ॥

मार्गशीर्षे शुभे मासि योयाद्यात्रां महीपतिः।

फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथाबलम् ॥ १८२ ॥

जब राजा शत्रु राज्य पर चढ़ाई करने की तैयारी करे तो आगे कहे हुए नियमों के अनुसार शत्रु राज्य पर धीरे-धीरे चढ़ाई करे। राजा शुभ अगहन के महीने में यात्रा करे अथवा जैसी अपनी शक्ति हो उसके अनुसार फाल्गुन या चैत्र महीने में शत्रु पर चढ़ाई करे। १८१-१८२।

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद्ध्रुवं जयम्।

तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः॥ १८३॥

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।

उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्यग्विधाय च॥ १८४॥

जब अन्य महीनों में भी अपनी विजय को निश्चित देखे और शत्रु संकट में पंसा हो तब अन्य महीनों में भी युद्ध यात्रा कर दे। अपने दुर्ग और देश की रक्षा के लिए सेना के दल का प्रबन्ध कर, यात्रा के लिए उपयुक्त सभी सामान साथ ले। १८३-१८४।

संशौध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम्।

सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः॥ १८५॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत्।

गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः॥ १८६॥

शत्रु राज्य में भेद लेने के लिए दूतों को भेजकर त्रिविध मार्ग (जंगल, अनुप, आटविस) का संशोधन करके और छः प्रकार के अपने सैन्य को संतुष्ट करके संग्रामनीति से धीरे-धीरे शत्रु की नगरी पर आक्रमण के लिए यात्रा करे। जो मित्र छिपे-छिपे शत्रु की सेवा करता हो और जो नौकर पहले रूठकर चला गया हो और पीछे आया हो, उससे सावधान रहना चाहिए, क्योंकि वे बड़ों कठिन शत्रु होते हैं। १८५-१८६।

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा।

वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुड़े वा॥ १८७॥

यतश्च भयमांशकेत्ततो विस्तारयेद्बलम्।

पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत् सदा स्वयम्॥ १८८॥

युद्धमार्ग में राजा दण्डव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह, कर्कशव्यूह, सूचीव्यूह या गरुड़व्यूह रचकर चले। जिधर से राजा को भय की आशंका हो,

उम्र और अपनी सेना को विशेष रूप से नियोजित करे और स्वयं पड़ाव्यूह रचकर उसमें रहे। १८७-१८८।

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत्।

यतश्च भयमाशंकेतप्राचीं तां कल्पयद्दिशम्॥ १८९॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाम्बान्कृतसंज्ञान्समंततः।

स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिण॥ १९०॥

सेनापति और सेनाध्यक्षों को सब दिशाओं में नियुक्त करे और जिस-जिस दिशा में भय की आशंका हो उसी को पूर्व दिशा माने (अर्थात् उसी दिशा में आगे बढ़े)। आस पुरुषों से युक्त सैन्य का एक भाग जिसमें युद्ध के संकेत जानने वाले और युद्ध विद्या में कुशल तथा डरपोक और विश्वासघाती न हों ऐसे योद्धाओं को शेष सैन्य के चारों तरफ शत्रुओं से रक्षा के हेतु और शत्रु की चेष्टा को जानने के लिए नियुक्त करे। १८९-१९०।

संहतान्योध्येदल्पाङ्कामं विस्तारतेदबहून्।

सूच्या वज्रेण चैवैतान्य्यूहेन व्यूह्य योध्यते॥ १९१॥

स्यन्दनाश्चैवः समे युद्धयेदनूपे नौद्धिपैस्तथा।

वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥ १९२॥

यदि सैन्य संख्या कम हो तो सबको एक साथ जुटाकर और संख्या अधिक हो तो उसे फैलाकर सूची-व्यूह तथा वज्र-व्यूह रचकर उससे युद्ध करवे। समतल भूमि में रथों और घुड़सवार सेना से, अनुप (जलमय) देश में नाव और हाथी पर सवार, पेड़-पौधों और लताओं से भरे हुए स्थान में धनुष-बाण से और स्थल भाग में ढाल-तलवार और बछों से युद्ध करे। १९१-१९२।

कुरुक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पञ्चालान्शूरसेनजान्।

दीर्घाल्लघूंश्चैव नरानग्रानीकेषु योजयेत्॥ १९३॥

प्रहर्षयेद्वलं व्यूह्य तांश्च सम्यक्परीक्षयेत्।

चैष्टाश्चैव निवजानीयादरीन्योध्यतामपि॥ १९४॥

कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेशीय, पाँचाल और माथुर सैनिक ये लम्बे हों या नाटे इन्हें सेना के आगे नियुक्त करे। सेना की रचना करके सेना को विजय से

कर्म का लाभ, युद्ध में सन्मुख मरने से स्वर्ग की प्राप्ति, भागने से नरक में पतन इत्यादि बातों से हर्षित करे और उसकी परीक्षा करे। शत्रु सेना से लड़ते समय भी अपने सैनिकों की चेष्टा को देखे। १९३-१९४।

उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत्।

दूषयेच्चारस्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम्॥ १९५॥

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा।

समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा॥ १९६॥

शत्रु के नगर के चारों ओर घेरा डाल दे, उसके राज्य को हर तरफ से पीड़ा पहुँचावे। निस्तर वहाँ का तृण, अन्न, जल और ईंधन नष्ट-भ्रष्ट करता रहे। शत्रु के काम में आने वाले तडागादि जलाशयों का नाश करे, किले की दीवार को तोड़-फोड़ डाले, परिखा (खाई) आदि को मिट्टी से भर दे, इस प्रकार शत्रु को शक्तिशून्य करे और रात को भी नगाड़ा आदि बजाकर उसे भयभीत करे। १९५-१९६।

उपजप्यानुपजपेद्बुध्येतैव च तत्कृतम्।

युक्ते च दैवे युध्येत जयप्रेप्सुरपेततभीः॥ १९७॥

साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक्।

विजेतुं प्रयतेतारीत्र युद्धेन कदाचन॥ १९८॥

शत्रु पक्ष के जो अमात्यादिक लोग फोड़ लेने योग्य हों उन्हें अपने वश में करके और उनके कार्य को जाने। विजय चाहने वाला राजा भयरहित होकर शुभ समय में युद्ध आरम्भ करे। (जहाँ तक हो) शत्रु को साम, दान या भेद, इनमें से किसी उपाय से जीतने का कभी प्रयत्न न करे। १९७-१९८।

अनित्या विजयो यस्माद्दृश्यते युध्यमानयोः।

पराजय संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्॥ १९९॥

त्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभवे।

तथा युद्धयेत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा॥ २००॥

युद्ध करते हुए दोनों पक्षों में से जीत और हार का संग्राम में कोई निश्चय नहीं रहता। इसलिए युद्ध न करना चाहिए। (परन्तु) पूर्वोक्त तीनों उपाय

(साम, दान और भेद) असम्भव हों तब शक्ति सम्पन्न होकर, इस प्रकार युद्ध करे कि शत्रु को जीत सके। १९९-२००।

जित्वा संपूजयेद्देवानब्राह्मणांश्चैव धार्मिकान्।

प्रदद्यात्वरिहारांश्च ख्वापयेद्भयानि च॥ २०१॥

सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्।

स्थापयैत्तत्र तद्वश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥ २०२॥

शत्रु को जीतकर देवता तथा धार्मिक ब्राह्मणों की पूजा करे और उन्हें भेंट देकर सर्वत्र अभय की स्थापना करे। (जीते हुए राज्य के मन्त्री आदि के) संक्षेप में अभिप्राय को जानकर उस राज्य की राजगद्दी पर उसी राजा के किसी वंशज को बिठावे और उस समय के उपयुक्त कामों को करे। २०१-२०२।

प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्वथोदितान्।

रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह॥ २०३॥

आदानमाप्रियकरं दानं च प्रियकारकम्।

अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते॥ २०४॥

उस राज्य की प्रजाओं के यथोचित कामों को प्रमाण माने। नए अभिषिक्त राजा और प्रधानमन्त्रियों को रत्नादि की भेंट दे। किसी की कोई चीज लेना अप्रियकर और दे देना प्रियकर होता है। तथापि समयानुसार लेना और देना दोनों श्रेष्ठ होते हैं। २०३-२०४।

सर्वं कर्मेदमायत्तं विधाने दैवमानुषे।

तयोदवयचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया॥ २०५॥

सह वापि व्रजेद्युक्तः संधिं कृत्वा प्रयत्नतः।

मित्रं हिरण्यं भूमि वा संपश्यंस्त्रिविधं फलम्॥ २०६॥

संसार के सभी कार्य [दैव और मानुष] कर्म विधान के अधीन हैं। इन दोनों में दैव कर्म विधान अचिन्त्य है पर मानुष का विचार कर सकते हैं। यदि शत्रु मित्र बनता हो, सुवर्ण देता हो, भूमि का कुछ भाग अर्पण करता हो तो इस त्रिविध फल को पाकर संधि से युक्त होकर वहाँ से लौट आवे। २०५-२०६।

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाक्रन्दं च मण्डले।

मित्रादथाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात् ॥ २०७ ॥

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तर्थाधते।

यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ २०८ ॥

राजमण्डल में पार्ष्णिग्राह^१ और आक्रन्द^२ पर अच्छी तरह विचार कर यात्रा करे। मित्र या शत्रु से यात्रा का फल लेना ही चाहिए। सुवर्ण और भूमि को पाकर राजा वैसे वृद्धि को नहीं पाता जैसे किसी काल में दुर्बल किन्तु आगे बढ़ने वाले, ध्रुव मित्र को पाकर होता है। २०७-२०८।

धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।

अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २०९ ॥

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।

कृतज्ञं घृतिमन्तं च कष्टमाहुरि बुधा ॥ २१० ॥

धार्मिक, कृतज्ञ, प्रसन्नचित्त, प्रेमी और दृढ़ता से कार्यारम्भ करने वाला मित्र छोटा भी हो तो वह उत्तम है। विद्वान्, कुलीन, वीर, चतुर, दाता, कृतज्ञ और धैर्यवान् शत्रु को जीतना बड़ा ही कठिन होता है, ऐसा पण्डितों ने कहा है। २०९-२१०।

आर्यता पुरुषाज्ञानं शौर्यं करुणवेदिता।

स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनं गुणोदयः ॥ २११ ॥

क्षेम्यां सस्यप्रदां नित्यं पशुबुद्धिकरीमपि।

परित्यजेन्पुत्रो भूमिमात्मार्यमविचारयन् ॥ २१२ ॥

साधुता, सत्-असत् पशुओं की पहचान, शूरता, निरन्तर दयालुता और दानशीलता ये सब उदासीन के गुण हैं। जो भूमि अपने को सुखदायक हो, उपजाऊ हो, पशुओं को वृद्धिकारी हो और भूमि को अपने कल्याण के निमित्त राजा बिना विचारे ही छोड़ दे। २११-२१२।

आपदर्थं धनं रक्षैद्वारान् रक्षेद्धनैरपि।

आत्मानं सततं रक्षेद्द्वारैरपि धनैरपि ॥ २१३ ॥

१. विजयेच्छु राजा को शत्रु के ऊपर चढ़ाई करने के समय, पीठवाला राजा को उसके देश पर चढ़ाई करता है उसे पार्ष्णिग्राह कहते हैं।

२. ऐसा करने वालों को रोकने वाला राजा आक्रन्द कहलाता है।

सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम्।

संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः॥ २१४॥

कारण, आपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करे, धन से अधिक स्त्री की रक्षा करे और धन तथा स्त्री दोनों से अधिक सदा आत्म रक्षा करनी चाहिए। एक ही साथ अनेक भीषण रूप विपत्तियों के उपस्थित होने पर बुद्धिमान विचलित न हो किन्तु उसके प्रति सभी (सामादि) उपायों का एक साथ या अलग-अलग उपाय करे। २१३-२१४।

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कृत्स्नशः।

एतत्त्रयं समाश्रित्य प्रयतेतार्थसिद्धये॥ २१५॥

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः।

व्यायम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमंतः पुरं विशेत्॥ २१६॥

उपाय करने वाला, उपाय का फल और सब उपाय (सामदानादि) इन तीनों का पूर्ण रूप से विचार करके अपनी कार्य सिद्धि के लिए प्रयत्न करे। इस प्रकार राजा मन्त्रियों के साथ पूर्वोक्त सभी बातों का विचार करके नियमानुसार व्यायाम कर, मध्याह्नकालिक क्रिया से निवृत्त होकर भोजन करने के लिए अन्तःपुर में जाय। २१५-२१६।

तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः।

सुपरीक्षितमन्त्राद्यामघान्मन्त्रेर्विषापहैः॥ २१७॥

विषघ्नैरगदैश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत्।

विषघ्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सदा॥ २१८॥

वहाँ आत्मीय, कालज्ञ, अभेद्य रसोइयों के बनाये हुए सुपरीक्षित सुस्वादु अत्र विषनाशक मन्त्रों से अभिमन्त्रित कस्के भोजन करे। निश्चय रूप हमेशा खाने की सभी वस्तुओं में विषनाशक औषधि मिलावे और विषयनाशक रत्नों को धारण करे। २१७-२१८।

परीक्षिताः स्त्रियश्चैनं व्यजनोदकधूपनैः।

वेषाभरणसंशुद्धा स्पृशेयुः सुसमाहिताः॥ २१९॥

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशय्यासनाशने।

स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च॥ २२०॥

(गुप्तचरों द्वारा) जिनकी परीक्षा की जा चुकी है और जिनके पास कोई गुप्त शस्त्र और विषलित आभूषण तो नहीं है, यह सन्देह नहीं रह गया है। जिनके

वेश और आभूषण शुद्ध हैं, ऐसी परीक्षित स्त्रियाँ बड़ी सावधानी से चामर, स्नान, पानादिक जल और धूप आदि से राजा की परिचर्या करें। इसी प्रकार वाहन, शय्या, आसन, भोजन, स्नान, अनुलेपन सभी अलंकारों का निरीक्षण करे। २१९-२२०।

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तः पुरे सह।

विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत् ॥ २२१ ॥

अलंकृतश्च संपश्येदायुधीयं पुनर्जनम्।

वाहनानि च सर्वाणि शस्त्राण्याभरणानि च ॥ २२२ ॥

भोजन करके अन्तःपुर में स्त्रियों के साथ कुछ समय तक विहार कर फिर अपने राजकार्य की चिन्ता करे। राजा स्वयं वेश-भूषा पहनकर सैनिकों, वाहनों, सभी अस्त्र-शस्त्र और अलंकारों का निरीक्षण करे। २२१-२२२।

संध्यां चोपास्य शृणुयादन्तर्वेश्मनि शस्त्रभृत।

रहस्याख्यायिनां चैव प्रणिधीनां च चेष्टितम् ॥ २२३ ॥

गत्वा कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्यं तं जनम्।

प्रविशेद्भोजनार्थं च श्रीवृतोऽन्तःपुरं पुनः ॥ २२४ ॥

इसके बाद संध्यापासन करके गृह के एकान्त स्थान में शस्त्र बैठकर रहस्यमयी चरों (जासूसों) का गुप्त संवाद सुने। इसके बाद उन्हें आज्ञा देकर वहाँ से विदा कर दूसरे मकान में जा परिचारिका स्त्रियों के साथ भोजन के लिए पुनः अन्तःपुर में प्रवेश करे। २२३-२२४।

तत्र भुक्त्वा पुनः किञ्चित्तूर्यधोषैः प्रहर्षितः।

संविशेत्तु यथाकालमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः ॥ २२५ ॥

एताद्विधानमातिष्ठेदरोगः पृथिवीपतिः।

अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत् ॥ २२६ ॥

वहाँ संगीतादि के मधुर शब्दों से प्रसन्न होकर फिर कुछ भोजन करके ठीक समय पर सोवे। भली-भाँति विश्राम करके यथा समय उठे। शरीर आरोग्य रहने पर राजा स्वयं इन सब कार्यों का सम्पादन करे, किन्तु अस्वस्थ होने पर यह सब कार्य भृत्य (मन्त्रियों) के हाथ में सौंपे। २२५-२२६।

इति सप्तम अध्यायः ॥ ७ ॥



आठवाँ अध्याय

व्यवहारान्दिदृक्षुस्व ब्राह्मणैः सह पार्थिवः ।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम् ॥ १ ॥
तत्रासीनः स्थितो वापि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम् ।
विनीतवेशाभरणः पश्येत्कार्याणि कार्प्यणाम् ॥ २ ॥

व्यावसायिक विषयों के ऊपर विचार करने की इच्छा से राजा ब्राह्मणों और विचारशील मन्त्रियों के साथ विनीत भाव से राजसभा (दरबार) में प्रवेश करे। विनीत वेश और अलंकार से युक्त होकर राजा वहाँ बैठकर एवं खड़े होकर दाहिना हाथ कपड़े से बाहर निकाल काम करने वाले पुरुषों के कार्यों को देखे। १-२।

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः ।
अष्टादशसु मार्गैसु निबद्धानि पृथक्-पृथक् ॥ ३ ॥

ये कार्य अठारह भागों में हैं। इनका देशाचार (देश-जाति-कुलादि) तथा शास्त्र विचार (गवाह इत्यादि) प्राप्त हेतुकों से पृथक्-पृथक् नित्य विचार करे। ३।

तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः ।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४ ॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः ।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥ ५ ॥

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।

स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥ ६ ॥

स्त्रीपुंध्योर् विभागश्च द्यूतमाह्व एव च ।

पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ ७ ॥

उनमें पहला-१. ऋण देना-लेना, २. किसी के पास थाती रखना, ३. बिना मालिक से पूछे किसी चीज को बेचना, ४. साझे का व्यवहार, ५. दी हुई वस्तु को फिर ले लेना, ६. वेतन न देना, ७. की हुई व्यवस्था से इन्कार करना, ८. खरीद-बिक्री में किसी बात का अन्तर पड़ जाना, ९. स्वामी और सेवकों में विवाद, १०. सीमा की तकरार, ११. गाली-गलौच देना या मारपीट करना, १२. चोरी, १३. साहस अर्थात् जबर-दस्ती किसी की चीज लेना, १४. पराये पुरुष के साथ स्त्री का सम्पर्क, १५. पति-पत्नी के परस्पर धर्म की व्यवस्था, १६. पैतृक आदि धन का विभाग, १७. जुआ, १८. पशु-पक्षियों को लड़ाना, व्यवहार, विवाद के ये ही १८ स्थान हैं। ४-७।

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।

धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥ ८ ॥

यदा स्वयं न कुर्यात्त नृपतिः कार्यदर्शनम् ।

तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यदर्शने ॥ ९ ॥

इन १८ स्थानों में विवाद करने वाले मनुष्यों के धर्म का निर्णय परम्परागत धर्म का आश्रय करके करना चाहिए। यदि स्वयं राजा कार्य न कर सके तो, उस काम पर किसी विद्वान नीतिनिपुण ब्राह्मण को नियुक्त करे। ८-९।

सोऽस्य कार्याणि संपश्येत्सभ्यैरेव त्रिभिर्वृतः ।

सभामेव प्रविश्याग्यामासीनः स्थित एव वा ॥ १० ॥

यस्मिन्देशे निषीदन्ति विप्रा वेदविदस्त्रयः ।

राज्ञाश्चाधिकृतो विद्वान्ब्राह्मणस्तां सभां विदुः ॥ ११ ॥

वह ब्राह्मण धार्मिक कार्य देखने में चतुर, तीन अन्य ब्राह्मणों के साथ राजसभा में बैठकर या खड़े होकर राजा के कार्यों को भली-भाँति देखे। जिस सभा में वेद जानने वाले तीन ब्राह्मण बैठते हैं और राजा का प्रतिनिधि विद्वान

ब्राह्मण बैठता है उस सभा को ब्रह्मसभा (चतुर्मुख ब्रह्मा की सभा) के तुल्य कहते हैं। १०-११।

धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।

शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः॥ १२॥

सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समञ्जसम्।

अबुवन्विब्रवन्वापि नरो भवति किल्बषी॥ १३॥

जहाँ सभा में धर्म (सत्य) अधर्म (असत्य) से विरुद्ध होकर आता है, यदि वहाँ सभासद अधर्म के सत्य को नहीं काटते हैं तो वे ही लोग उस अधर्म रूप काँटे से विद्ध होते हैं। इसलिए या तो सभा में न जाय, यदि जाय तो यथार्थ बोले। कुछ न बोलने या अधिक बोलने से मनुष्य पाप का भागी होता है। १२-१३।

यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च।

हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः॥ १४॥

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षतः।

तस्माद्धर्मो न हंतव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥ १५॥

जिस सभा में सभासदों के सामने ही अधर्म से धर्म और असत्य से सत्य मारा जाता है, वहाँ उस पाप से सभासद ही नष्ट होते हैं। नष्ट हुआ धर्म ही नाश करता है और रक्षित किया हुआ धर्म ही रक्षा करता है। "नष्ट हुआ धर्म कहीं हमें नष्ट न कर दे" इसलिए धर्म का कभी नाश न करना चाहिए। १४-१५।

वृषो हि खगवान्धर्मस्तस्य यः कुरुतेह्यलम्।

वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत्॥ १६॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ १७॥

(सभी कामनाओं की सिद्धि की वर्षा करने वालों को वृष कहते हैं) वृष यही भगवान् धर्म हैं, ऐसे धर्म का जो नाश करता है, उसे देवता वृषल कहते हैं। इसलिए धर्म का लोप न करे। एक धर्म ही ऐसा मित्र है जो मरने पर भी साथ जाता है और अन्य पदार्थ मृत्यु के साथ

नष्ट हो जाते हैं। १६-१७।

पादोऽधर्मस्य कर्तारं पादः साक्षिणमृच्छति।

पादः सभासदः सर्वान्यादो राजानमृच्छति॥ १८॥

राजा भवत्येनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः।

एनो गच्छति कर्तारं निद्राहो यत्र निन्द्यते॥ १९॥

अधर्म का चौथा भाग अधर्म करने वाले को, चौथा भाग साक्षी को चौथा भाग सब सभासदों को और चौथा भाग राजा को प्राप्त होता है। जिस सभा में निन्दनीय व्यक्ति की निन्दा होती है, वहाँ राजा पापभागी नहीं होता और सभासद भी पाप से मुक्त होते हैं किन्तु पाप करने वालों को ही पाप का फल होता है। १८-१९।

जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणबुवः।

धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन॥ २०॥

यस्य शूद्रस्तु कुरुते राज्ञो धर्मविवेचनम्।

तस्य सीदति तद्राष्ट्रं पङ्के गौरिव पश्यतः॥ २१॥

केवल जाति के नाम पर जीने वाला और केवल नामभाव से ब्राह्मण कहलाने वाला ब्राह्मण भी राजा की ओर से धर्म प्रवक्ता हो सकता है, परन्तु शूद्र कभी नहीं हो सकता। जिस राजा के यहाँ शूद्र न्यायकर्ता होता है उस राजा का देश पङ्क में धंसी हुई गौ की भाँति क्लेश पाता है। २०-२१।

यद्राष्ट्रं शूद्रभूयिष्ठं नास्तिकाक्रान्तमद्विजम्।

विनश्यत्याशु तत्कृत्स्नं दुर्भिक्षव्याधिपीडितम्॥ २२॥

धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।

प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारमेत्॥ २३॥

जिस देश में शूद्र अधिक हों और नास्तिकों से आक्रान्त हों, जहाँ एक भी ब्राह्मण न हो वह सारा देश शीघ्र ही दुर्भिक्ष और रोग की पीड़ा से पीड़ित होकर नष्ट हो जाता है। शरीर को आच्छादित करके न्यायासन पर बैठ एकाग्रचित्त हो लोकपालों को प्रणाम करके काम देखना आरम्भ करे। २२-२३।

अर्थानथविभौ बुद्ध्वा धर्माधर्मौ च केवलौ ।
 वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्याणाम् ॥ २४ ॥
 बाह्यैर्विभावयेल्लिंगैर्भावमन्तर्गतं नृणाम् ।
 स्वरवर्णैर्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च ॥ २५ ॥

अर्थ-अनर्थ दोनों को और केवल धर्म-अधर्म को अच्छी तरह जानकर वर्णक्रम से न्यायप्रार्थियों के सब कर्त्यों को देखे। मनुष्यों के स्वर, वर्ण, इंगित, आकार, नेत्र और चेष्टा आदि बाहरी चिह्नों से राजा उनके भीतर का भाव जाने। २४-२५।

आकारैरिगितैर्गत्या चेष्टया भावितेन च ।
 नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽतर्गन्तं मनः ॥ २६ ॥
 बालदायादिकं रिक्थं तावद्राजानुपालयेत ।
 यावत्स स्यात्समावृत्तो यावच्चातीतशैशवः ॥ २७ ॥

आकार, इंगित, गति चेष्टा, भाषण, नेत्र और मुख के विकारों से मन के अन्तर्गत की बात को जानना चाहिए। अनाथ बालक^१ (नाबालिग) के साम्प्रतिक अंश और धन की रक्षा राजा तब तक करे जब तक वह वेदाध्ययन की समाप्ति कर प्राप्त व्यसक (नाबालिगपन से रहित) होकर गुरुकुल से लौटकर न आवे। २६-२७।

वशाऽपुत्रासु चैवं स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च ।
 पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च ॥ २८ ॥
 जीवन्तीनां तु तासां ये तद्धरेयुः स्वबान्धवाः ।
 ताञ्छिष्याच्चौरदण्डेन धार्मिकः पृथिवीपतिः ॥ २९ ॥

वन्ध्य, पुत्रहीन स्त्री के कुल में कोई न हो, पतिव्रता, विधवा और रोगिणी, स्त्री, इनके धन की रक्षा भी उसी प्रकार करे। उन जीती हुई स्त्रियों के धन जो भी उनके बांधव हरण कर लें तो धार्मिक राजा उन्हें चोर का दण्ड दे। २८-२९।

१. यहाँ १६ वर्ष की अवस्था तक बालक माना है।

प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत्।

अर्वाकं त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत्॥ ३० ॥

ममेदमिति यो ब्रूयात्सोऽनुयोज्यो यथाविधि।

संवाद्य रूपसंख्यादीन्स्वामी तद्द्रव्यमर्हति॥ ३१ ॥

जिस धन का स्वामी नष्ट हो गया हो, राजा उस धन को तीन वर्ष तक अपने पास रखे। यदि तीन वर्ष के पहले उस धन का अधिकारी आ जाए तो उसे दे दे, अधिकारी न मिलने पर तीन वर्ष के बाद राजा उस धन को आप ले ले। जो कोई कहे कि यह धन मेरा है तो उससे उस धन के सम्बन्ध में भली-भाँति ज्ञान करना चाहिए। यदि वह उस धन के रूप और संख्या आदि सब बतावे तो वह उस धन का स्वामी है और उसको लेने के योग्य है। ३०-३१।

अवेदयानो नष्ट्य देशं कालं च तत्त्वतः।

वर्णं रूपं प्रमाणं च तत्समं दण्डमर्हति॥ ३२ ॥

आदतीताथ षड्भागं प्रणष्टाधिगतात्पः।

दशमं द्वादशं वापि सतां धर्ममनुष्मरन्॥ ३३ ॥

जो अच्छी तरह से नष्ट हुए धन का स्थान, कारण और समय न जानता हो और न उसका रूप आकार और संख्या को ही ठीक-ठीक जानता हो राजा उसे धन के बराबर दण्ड दे। नष्ट धन के प्राप्त होने पर राजा सज्जनों के धर्म का स्मरण करता हुआ उसका छठा भाग या बारहवाँ भाग लेकर शेष उसके स्वामी को दे दे। ३२-३३।

प्रणष्टाधिगतमं द्रव्यं तिष्ठेद्युक्तैधिष्ठितम्।

यांस्तत्र चौरान्गृहीयात्तानाजमेन घातयेत्॥ ३४ ॥

ममायमिति यो ब्रूयान्निधिं सत्येन मानवः।

तस्याददीत षड्भागं राजा द्वादशमेव वा॥ ३५ ॥

किसी का नष्ट हुआ धन गजपुरुषों द्वारा प्राप्त हो तो राजा उसे सुरक्षित रूप में रखवा दे। और उस द्रव्य के साथ जो चोर पकड़े जाएँ उन्हें हाथी से कुचलवा दे। जो मनुष्य सच्चे प्रमाण के साथ कहे कि यह मेरा धन है, तो राजा उस धन का छठा या बारहवाँ भाग लेकर शेष उसे दे। ३४-३५।

अनृतं तु वदन्दण्डयः स्ववित्तस्यांशमष्टमम्।

तस्यैव वा निधानस्य संख्यायाल्पीयसीं कलाम्॥ ३६ ॥

विद्वांस्तु ब्राह्मणो दृष्ट्वा पूर्वोपनिहितं निधिम्।

अशेषतोऽप्याददीत सवैस्याधिपतिर्हि सः॥ ३७ ॥

जो झूठ ही कहे हि यह मेरा धन है उससे राजा उसके धन का आठवाँ भाग दण्ड में अथवा उस धन की जो संख्या हो उसका कुछ अंश दण्ड करे। विद्वान ब्राह्मण पहले से रखे हुए धन को सम्पूर्ण ले ले, क्योंकि वह सबका स्वामी है। ३६-३७।

यंतु पश्येत्रिधिं राजापुराणं निहितं क्षितौ।

तस्मादद्विजेभ्यो दत्त्वार्धमर्धं कोशे प्रवेशयेत्॥ ३८ ॥

निधीनां तु पुराणानां धातूनामेव च क्षितौ।

अर्धभागक्षणाद्राजा भूमेरधिपतिर्हि सः॥ ३९ ॥

पृथ्वी में गड़े हुए प्राचीन धन को देखे तो राजा उसमें से आधा ब्राह्मणों को दे, आधा अपने खजाने में रखवा दे। पृथ्वी में गड़े हुए पुराने द्रव्य और धातुओं की रक्षा करने के कारण आधे भाग का स्वामी राजा होता है क्योंकि वह भूमि का स्वामी है। ३८-३९।

दातव्यं सर्ववर्णेभ्यो राज्ञा चौरहृतं धनम्।

राजा तदुपयुञ्जानश्चौरस्याप्नोति कित्त्विषम्॥ ४० ॥

जातिजानपदान्धर्मान्श्रेणीधर्माश्च धर्मवित्।

समीक्ष्य कुलधर्माश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ ४१ ॥

चोरों से चुराये हुए धन को प्राप्त कर राजा सब वर्णों के स्वामी को दे। यदि राजा स्वयं उसका उपभोग करे तो उसे चोरी का पाप लगता है। धर्मज्ञ राजा जातिधर्म, देशधर्म श्रेणीधर्म तथा कुलधर्म की समीक्षा करके उनके अनुकूल ही अपने धर्म की व्यवस्था करे। ४०-४१।

स्वानि कर्माणि कुर्वाणा दूरे संतोऽपि मानवाः।

प्रिया भवन्ति लोकस्य स्वे स्वे कर्मण्यवस्थिताः॥ ४२ ॥

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पुरुषः।

न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन॥ ४३ ॥

अपने नित्य के कर्मों को करता हुआ मनुष्य दूर होते हुए भी अपने अपने नित्य नैमित्तिक कार्यों में अवस्थित होने के कारण संसार का प्रिय होता है। राजा अथवा राजा का प्रतिनिधि (न्यायकर्ता) स्वयं मामला खड़ा न करे और दूसरे से धन पाने की इच्छा से कभी मुकदमे को खारिज न करे। ४२-४३।

यथा नयस्त्यसृक्षातैर्मृगस्य मृगयुः पदम्।

नतेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ ४४ ॥

सत्यमर्थं च संपश्येदात्मानमथ साक्षिणः।

देशं रूपं च कालं च व्यवहारविधौ स्थितः ॥ ४५ ॥

जैसे व्याध गिरे हुए लहू के द्वारा मृग के स्थान तक पहुँच जाता है वैसे राजा अनुमान के द्वारा धर्म के तत्त्व तक पहुँच जाए। राजा न्यायासन पर स्थित होकर सत्य, धन, आत्मा, साक्षी, देश, रूप और काल, इन सबको देखे। ४४-४५।

सदिभराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।

तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥ ४६ ॥

अधमणार्थसिद्धयर्थमुत्तमर्णेन चोदितः।

दाषयेद्धनिकस्यातमधमणार्द्धिभावितम् ॥ ४७ ॥

धार्मिक, अच्छे द्विजातियों से जो आचरण किया गया हो उसके तथा देश, कुल, जाति के अनुकूल धर्म की व्यवस्था करे। कर्जा लेने वाले से धन दिलवा देने के लिए महाजन के प्रार्थना करने पर राजा महाजन का निमित्त धन कर्जदार से दिलवा दे। ४६-४७।

यैयैरुपायैरर्थं स्वं प्राप्नुथादुत्तमर्णिकः।

तैस्तैरुपायैः संगृह्य दापयेदधमर्णिकम् ॥ ४८ ॥

धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचारितेन च।

प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च ॥ ४९ ॥

कर्जदार से जिन-जिन उपायों के द्वारा महाजन अपना धन पा सके उन उपायों के द्वारा ऋणी से उसके धन को लेकर उसको दे दे। धर्म से, व्यवहार से, छल से, द्वार पर सिपाही इत्यादिकों के उपद्रवों से बल प्रयोग से दिए हुए धन को प्राप्त करे। ४८-४९।

यः स्वयं माधयेदर्थमुत्तमर्णोऽधमर्णिकम् ।

न स राजाभियोक्तव्यः स्वकं संसाधयन्धनम् ॥ ५० ॥

अर्थेऽपव्ययमानं तु करणेन विभावितम् ।

दापयेद्धनिकस्यार्थं दण्डलेशं च शक्तितः ॥ ५१ ॥

जो महाजन स्वयं ही अपना धन कर्जदार से वसूल करे, किन्तु राजा को सूचित न करे तो राजा इसमें उसे न रोके। यदि ऋणी ऋण को स्वीकार न करे और धनी के प्रमाणों से उसका ऋण लेना साबित हो तो राजा उससे धनी का धन दिलावे और यथाशक्ति उसे दण्ड भी दे। ५०-५१।

अपह्ववेऽधमर्णस्य देहीत्युक्तस्य संसदि ।

अभियोक्तादिशोद्दृश्यं करणं वान्यदुद्दिशेत् ॥ ५२ ॥

अदेस्यं यश्च दिशति निर्दिश्यापह्वते च यः ।

यश्चाधरोत्तरानर्थान्विगोतान्नावबुध्यते ॥ ५३ ॥

सभा (न्यायालय) में ऋणी से ऋण माँगने पर यदि वह कहे कि मैंने इसका कुछ नहीं लिया है, तो महाजन साक्षी और पत्रादि प्रमाणों द्वारा अपने आपको सच्चा साबित करे। ५२-५३।

अपदिश्यापदेश्यं च पुनर्यस्त्वपधावति ।

सम्यक्प्रणिहितं चार्थं पृष्ठः सन्नाभिनन्दति ॥ ५४ ॥

असंभाष्ये साक्षिभिश्च देशे संभाषते मिथः ।

निरुच्यमानं प्रश्नं च नेच्छेद्यश्चापि निष्प्रतेत् ॥ ५५ ॥

ब्रूहीत्युक्तश्च न ब्रूयादुक्तं च न विभावयेत् ।

न च पूर्वापरं विद्यात्तस्मादर्थात्स हीयते ॥ ५६ ॥

जो धनी ऋण देने वाले स्थान में ऋणी का रहना न बतावे अथवा कही हुई बात को स्वीकार न करे, पहले बात स्वीकार कर पीछे आप ही उसके विरुद्ध भाषण करे। एक बार कहकर दूसरी बार उसी बात को दूसरे ढंग से कहे, पूछे जाने पर भली-भाँति प्रतिज्ञा की हुई बातों का समर्थन करे, निर्जन स्थान में गवाहों के साथ बात करे, प्रश्नों का पूछा जाना पसन्द न करे, प्रश्नोत्तरों के डर से इधर-उधर घूमे या टालमटोल करे, 'कहो' यह कहने पर भी कुछ न कहे, कही हुई बात को साबित न कर सके, जो पूर्वा

पर को न जाने, वह ऋणी से धन पाने योग्य नहीं है अर्थात् राजा उसे धन न दिलावे। ५४-५६।

साक्षिणः सन्तिमेत्युक्त्वा दिशेत्युक्तो दिनेत्रयः।

धर्मस्थः कारणैरतैर्हीनं तमपि निर्दिशेत्॥ ५७॥

अभियोक्ता न चेदब्रूयाद्बध्यो दंडयश्च धर्मतः।

न चेत्त्रिपक्षात्प्रब्रूयाद्धर्मं प्रति पराजितः॥ ५८॥

मेरे साक्षी हैं, यह कह जो साक्षी माँगने पर साक्षी न दे, उसे भी धर्मशील राजा इन सब कारणों से हीन कायम करे। जो अभियोगी (मुद्दई) अपने अभियोग के विषय में कुछ न बोले वह धर्मतः बंधन या दण्ड के योग्य होता है। जो अभियुक्त (मुद्दालेह) तीन पक्ष के भीतर कुछ जवाब न दे तो उसे धर्मतः पराजित समझना चाहिए। ५७-५८।

यो यावन्निहु वीतार्थं मिथ्या यावत्तिवा वदेत्।

तौ नृषेण ह्यक्षर्मज्ञौ दाप्यौ तद्विगुणं दसम्॥ ५९॥

पृष्ठोऽपव्ययमानस्तु कृतावस्थो धनैषिणा।

त्रयवैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ॥ ६०॥

ऋणी ऋण लेकर जितना न लेने का बहाना करे और धनी ऋणी पर जितना अधिक झूठ दावा करे राजा दोनों अधर्मियों पर इसका दूना दण्ड करे। न्यायालय में धनी द्वारा दिए हुए ऋण को अस्वीकार करे तो धनी से राजा नियुक्त विद्वान ब्राह्मण के सम्मुख कम-से-कम तीन श्रेष्ठ साक्षियों को लेकर विचार करावे। ५९-६०।

यादृशा धनिभिः कार्या व्यवहारेषु साक्षिणा।

तादृशान्संप्रवक्ष्यामि यथावाच्यमृतं च तैः॥ ६१॥

गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविदः शूद्रयोनयः।

अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि॥ ६२॥

लेन-देन के व्यवहार में धनियों को जैसे गवाह करने चाहिए और उन गवाहों से जैसे सत्य बुलवाना चाहिए, वह अब कहता हूँ। गृहस्थ, पुत्रवान्, पड़ोस का रहने वाला, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये लोग अर्थी के कहे जाने पर साक्षी दे सकते हैं। निरापद अवस्था

में जिस-तिस की गवाही नहीं ली जा सकती। ६१-६२।

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।

सर्वधर्मविदोलुब्धा विपरीतास्तु वर्जयेत् ॥ ६३ ॥

नार्थसम्बन्धिनो नाप्ता न सहाया न वैरिणः।

न दृष्टदोषाः कर्तव्या न व्याध्यार्ता न दूषिताः ॥ ६४ ॥

जो सब वर्णों के यथार्थ वक्ता, सब धर्मों के ज्ञाता और लोभरहित हों, वे लेन-देन के व्यवहार में साक्षी करने के योग्य हैं, जो इसके विरुद्ध गुण वाले हों उन्हें छोड़ देना चाहिए। जो धनी से द्रव्य का लेन-देन करते हों, इष्ट-मित्र हों, सहायक हों, शत्रु हों, जिसकी पूर्व में कभी झूठी साक्षी सिद्ध हो चुकी हो, जो व्याधि पीड़ित हो, और पाप से दूषित हों, उनसे साक्षी नहीं दिलानी चाहिए। ६३-६४।

न साक्षी नृपतिः कार्यो न कारुककुशीलवौ।

न श्रोत्रियो न लिंगस्थो न संगेभ्यो विनिर्गतः ॥ ६५ ॥

नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्न विकर्मकृत्।

न वृद्धो न शिशुर्नको नान्त्या न विकलेन्द्रियः ॥ ६६ ॥

राजा, कारीगर, नट, श्रोत्रिय (वेदाध्यायी कर्मपरायण), ब्रह्मचारी और संन्यासी, ये लोग गवाह न माने जायें। दास, जो समाज में निन्दनीय हो, क्रूरकर्मी, निषिद्ध कर्म करने वाला, बूढ़ा अंत्यज और विकलेन्द्रिय तथा किसी एक ही व्यक्ति को गवाह न करे (अर्थात् कम-से-कम तीन गवाह करने चाहिए।) ६५-६६।

नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तण्णोपपीडितः।

न श्रमार्तो न कामार्तो न क्रुद्धो नापि तस्करः ॥ ६७ ॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्यद्विजानां सदृशा द्विजा।

शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥ ६८ ॥

शोकार्त, मत्त, पागल, भूख-प्यास से पीड़ित, परिश्रम से थका हुआ कामातुर, क्रोधी और चोर को साक्षी न करे। स्त्रियों के साक्षी के लिए स्त्रियों को गवाह करे, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के गवाह उनके सजातीय हों, शूद्रों के शूद्र और चांडाल आदि नीच जातियों के साक्षी उनकी जाति वाले ही हों। ६७-६८।

अनुभावी तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम् ।

अन्तर्वेश्मन्यरण्ये वा शरीरस्यापि चात्यये ॥ ६९ ॥

स्त्रियाप्यसंभवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा ।

शिष्येण बन्धुना वापि दासेन भृतकेन वा ॥ ७० ॥

घर में या जंगल में उपद्रव होने पर या किसी के द्वारा शरीर पर चोट पहुँचने पर वहाँ पर जो कोई हो उसी को साक्षी करना चाहिए । पूर्वोक्त साक्षी मिलने पर स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु, नौकर और कर्मचारी से भी गवाह का काम लिया जा सकता है । ६९-७० ।

बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा ।

जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसां तथा ॥ ७१ ॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।

वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥ ७२ ॥

अस्थिरचित्त रहने के कारण बालक, वृद्ध और रोगी यदि गवाही देते समय कुछ झूठ बोले तो राजा अनुमान द्वारा उनके कथन के सत्यांश को जान ले । साहस के सभी काम चोरी और स्त्री संग्रहण, वचन और दण्ड की कठोरता, इनमें साक्षियों की परीक्षा न करे । ७१-७२ ।

बहुत्वं परिगृहीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।

समेषु तु गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥ ७३ ॥

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।

तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥ ७४ ॥

साक्षियों के परस्पर विरोध में बहुमत जिस बात में हो राजा उसी को प्राज्ञाणिक माने । विरुद्ध भाषियों की संख्या बराबर होने पर विशेष गुणवान साक्षी के कथन को ही प्रमाण माने । यदि दोनों गुणवान हों तो उनमें जो क्रियावान् ब्राह्मण हो उसी का वचन प्रमाण माने । आँखों से देखी या कान से सुनी हुई बातों की साक्ष्य सिद्ध होती है । जो जैसा मालूम हो वैसा ही सच-सच कहने वाला साक्षी धर्म और अर्थ से हीन नहीं होता । ७३-७४ ।

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विबुवन्नासंसदि ।

अवाङ् नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥ ७५ ॥

यत्रानिबद्धोऽपीक्षेत शृणुयाद्वापि किञ्चन।

दृष्टस्तत्रापि तद्ब्रूयाद्यथदृष्टं यथाश्रुतम् ॥ ७६ ॥

श्रेष्ठ सभा में यदि आँख से देखी या सुनी बातों के विरुद्ध भाषण करे अर्थात् झूठ बोले तो वह मरने पर अधोमुख हो नरक में जाता है और स्वर्ग से वंचित होता है। साक्षी न होते हुए भी (ऋण-दानादि के विषय में जो देखा हो या सुना हो) यदि (न्याय सभा में) उससे कुछ पूछा जाए तो वह जो कुछ देखा-सुना हो सब सच-सच कह दे। ७५-७६।

एकोऽलुब्धस्तु साक्षी स्याद्बह्वयः शुच्योऽपि न स्त्रियः।

स्त्रीबुद्धेरस्थिरत्वात्तु दोषैश्चान्येऽपि ये वृताः ॥ ७७ ॥

स्वभावेनैव तद्ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्।

अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥ ७८ ॥

एक भी निर्लोभी पुरुष साक्षी हो सकता है, परन्तु बहुत स्त्रियाँ पवित्र होने पर भी नहीं हो सकतीं, क्योंकि स्त्रियों की बुद्धि चंचल होती है और अन्य मनुष्य भी जो दोषों से घिरे हैं, साक्षी के योग्य नहीं होते। साक्षी स्वभाव से ही जो कुछ कहे। वह व्यवहार के लिए स्वीकार करना चाहिए। इसके विरुद्ध अस्वाभाविक रीति से साक्षी द्वारा जो कुछ कहा जाय वह न्याय के लिए अग्राह्य है। ७७-७८।

सभ्रान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसंनिधौ।

प्राड्विवाकोऽनुयुज्जीत विधिना तेन सान्त्वयन् ॥ ७९ ॥

यद्वयोरनयोर्वैत्थ कार्येऽस्मिश्चेष्टितं मिथः।

तद्ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥ ८० ॥

न्यायकर्ता सभा में वादी-प्रतिवादियों के सन्मुख उपस्थित साक्षियों को इस प्रकार से सान्त्वना देते हुए प्रश्न करे। इन दोनों वादी प्रतिवादियों के बीच इस विषय में जो कुछ व्यवहार हुआ है तुम जानते हो, सब सच-सच कहो, क्योंकि इसमें तुम लोगों की गवाही है। ७९-८०।

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षीलोकानाप्नोति पुष्कलान्।

इह चानुत्तमां कीर्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥ ८१ ॥

साक्ष्येऽनृतं वदन्याशैर्वध्यते वारुणैर्भृशम्।

विवशः शतमाजातीस्तस्मात्साक्ष्यं वदेदृतम् ॥ ८२ ॥

गवाही देते समय सच बोलकर साक्षी अनेक उत्तम लोकों को पाता है। यहाँ भी अति उत्तम यश पाता है, क्योंकि सत्य वाणी का आदर ब्रह्मा भी करते हैं। गवाही में झूठ बोलने वाला कठोर वरुणपाश में बद्ध सौ जन्म तक विवश होकर बहुत कष्ट पाता है। इसलिए गवाह को सच बोलना चाहिए। ८१-८२।

सत्येन पूजते साक्षी धर्मः सत्येन वर्धते।

तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥ ८३ ॥

आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।

मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणा साक्षिणमुत्तमम् ॥ ८४ ॥

सच बोलने से गवाह पवित्र हो जाता है। सत्य से धर्म की वृद्धि होती है। इसलिए सभी वर्णों के गवाहों को सत्य ही बोलना चाहिए। आत्मा ही अपने कर्मों का साक्षी है, आत्मा ही अपनी गति है इसलिए मनुष्यों के बीच अपने उत्तम साक्षी आत्मा का मिथ्या भाषण से अपमान नहीं करना चाहिए। ८३-८४।

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीति नः।

तास्तु देवाः प्रपश्यन्ति स्वस्यैवान्तरधूरुषः ॥ ८५ ॥

द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्राकाग्नियमानिलाः।

रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम् ॥ ८६ ॥

पाप करने वाले समझते हैं कि हमें कोई नहीं देखता है, परन्तु देवता और उनके अन्तर्गत आत्मास्वरूप पुरुष उन पापों को देखते रहते हैं। आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, यम, वायु, रात्रि, दोनों संध्याएं और धर्म, ये सब प्राणियों के सब लोक जानते हैं। ८५-८६।

देवब्राह्मणसानिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्।

उदङ्मुखान्प्राङ् मुखान्वा पूर्वाह्नेवै शुचीन् ॥ ८७ ॥

ब्रूहीति ब्राह्मणं पृच्छेतसत्यं ब्रूहीति पार्थिवम्।

गोबीजकाञ्चनैर्वैशयं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः ॥ ८८ ॥

पूर्वाह्न में न्यायकर्ता पवित्र होकर देवता और ब्राह्मणों के समीप उत्तर या पूर्व की ओर मुँह किए हुए पवित्र द्विजों से सच-सच गवाही देने को

कहे। ब्राह्मण गवाह से केवल इतना कहे कि 'कहो' क्षत्रिय से कहे कि 'सत्य कहो' वैश्य से गौ, बीज और सोना चुराने के पाप की शपथ करावे और शूद्र से सब पापों की शपथ कराकर साक्ष्य देने को कहे। ८७-८८।

ब्रह्मघ्नो ये स्मृता लोका ये च स्त्रीबालघातिनः।

मित्रद्रुहः कृतघ्नश्च ते ते स्युर्बुवतो मृषा॥ ८९॥

जन्मप्रभूति यत्किञ्चित्पुण्यं भद्र त्वया कृतम्।

तत्ते सर्वं शुनो गच्छेद्यदि ब्रूयास्त्वमन्यथा॥ ९०॥

ब्रह्मघाती और स्त्री तथा बालकों का वध करने वाले को और मित्रद्रोही तथा कृतघ्न को जो-जो लोक (अर्थात् नरक) प्राप्त होते हैं, वे सब झूठी गवाही देने वाले को प्राप्त होते हैं। हे सज्जन, यदि तुम अन्यथा बोलोगे। (अर्थात् झूठी गवाही दोगे) तो जन्म से आज तक तुमने जो कुछ धर्म किया है वह सब कुत्तों को मिलेगा। ८९-९०।

एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।

नित्यं स्थितस्ते हृद्येषः पुण्यपापेक्षिता मुनिः॥ ९१॥

यमो यैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।

तेन चेदविवादस्ते मां गंगा मा कुरुन्ममः॥ ९२॥

हे सौम्य, मैं अकेला ही हूँ ऐसा जो तुम मानते हो यह ठीक नहीं क्योंकि पुण्य-पाप को देखने वाला यह (परमात्मा) मुनि सदा तुम्हारे हृदय में स्थित है। तुम्हारे हृदय में जो (संयम करने वाला) यम (दण्डधारी), यैवस्वत और (तेजोरूप) देव बैठा हुआ है, उसके साथ यदि तुम्हारा विवाद नहीं है तो गंगा या कुरुक्षेत्र मत जाओ। ९१-९२।

नग्नो मुण्डः कपालेन भिक्षार्थी क्षुत्पिपासितः।

अन्तः शत्रुकुलं गच्छेद्यः साक्ष्यमनृत वदेत्॥ ९३॥

अवाक्शिरास्तमस्यन्धे किल्बिषी नरकं ब्रजेत्।

यः प्रश्नं वितथं ब्रूयात्पृष्ठः सन्धर्मनिश्चये॥ ९४॥

जो झूठी गवाही देता है, वह अन्धा, शिर को मुड़ाये हुए, नंगा और भूखा-प्यासा होकर भीख माँगने के लिए शत्रु के यहाँ जाता है। धर्म के निर्णय में पूछे जाने पर जो झूठ बोलता है, वह नीचा मुँह किए महाघोर

अन्धकार नरक में जाता है। ९३-९४।

अन्धो मत्स्यानिवाशनाति स नरः कण्टकैः सह।

यो भाषतेऽर्थवैकल्यमप्रत्यक्षं सभां गतः॥ ९५॥

यस्य विद्वान्हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते।

तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः॥ ९६॥

जो मनुष्य सभा में आँख से न देखी हुई बात को कहता और जानी हुई बात को छिपाता है, वह अन्धे की भाँति काँटों सहित मछलियाँ खाता है, अर्थात् जो सुख की इच्छा से पाप करता है, वह पीछे दुःख भोगता है। जिस विद्वान् के बोलते समय उसकी अन्तरात्मा शङ्कित नहीं हो, तो देवता उससे बढ़कर संसार में दूसरे को श्रेष्ठ नहीं जानते। ९५-९६।

यष्वतो बान्धवान्यस्मिन्हन्ति साक्ष्येऽनृतं वदन्।

तावतः संख्यया तास्मिञ्छृणु सौम्यानुपूर्वशः॥ ९७॥

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते।

शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते॥ ९८॥

हे सौम्य झूठी गवाही देने से गवाह किस व्यवहार में कितने बाँधवों की हत्या कर डालता है उसको क्रम से सुनो। पशुओं के विषय में झूठ बोलने से पाँच, गौ के विषय में झूठ बोलने से दस, घोड़े के विषय में झूठ बोलने से सौ और मनुष्य के विषय में झूठ बोलने से एक हजार बाँधवों को मारने के पाप का भागी होता है। ९७-९८॥

हन्ति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।

सर्वं भूम्यनृते हन्ति मा स्म भूम्यनृतं वदीः॥ ९९॥

अप्सु भूमिवदित्याहुः स्त्रीणां भोगे च मैथुने।

अब्जेषु चैव रत्नेषु सर्वेष्वशमयेषु च॥ १००॥

सुवर्ण के लिए झूठ बोलने से सब जात-अजात संतति की हत्या का फल पाता है भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलने से सब प्राणियों को मारने का पाप होता है, इसलिए भूमि के सम्बन्ध में कभी झूठ न बोलो। जल से उत्पन्न भूमि के सम्बन्ध में, स्त्रियों के भोग विषय में, मैथुन के विषय में, रत्नों तथा बहुमूल्य पत्थरों के विषय में झूठ बोलने से मिथ्यावादी को पाप होता है।

जो भूमि के सम्बन्ध में बोलने से होता है। १९-१००।

एतान्दोषान्वेक्ष्य त्वं सर्वाननृतभाषणे।

यथाश्रुतं यथादृष्टं सर्वमेवाज्जसा वद॥ १०१॥

गोरक्षकान्वाणिजिकांस्तथा कारुकुशीलवान्।

प्रेष्यान्वाधुषिकांश्चैव विप्रान्शूद्रवदाचरेत्॥ १०२॥

झूठ बोलने से पूर्वोक्त दोषों को भली-भाँति जानकर तुमने जैसा देखा या सुना हो, सब सच कहो। व्यापार की इच्छा से गौ पालने वाले, वाणिज्य करने वाले, बाँस की टोकरी आदि बनाकर बेचने वाले नाचने गाने वाले, सेवा वृत्ति वाले और सूद के पैसे से जीने वाले ब्राह्मणों की गवाही लेते समय न्यायकर्ता इनके साथ शूद्र का सा बर्ताव करे। १०१-१०२।

तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः।

व स्वर्गाच्च्यवते लोकादैवीं वाचं वदन्तिताम्॥ १०३॥

शूद्रविदक्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भयेद्वधः।

तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते॥ १०४॥

सच्ची बात को जानता हुआ जो मनुष्य धर्म के लिए झूठ बोलता है वह स्वर्ग से वंचित नहीं होता। उस वाणी को दैवीवाणी कहते हैं। शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण का जहाँ सत्य बोलने से वध होता हो वहाँ झूठ बोलना ही उचित है। क्योंकि सत्य से वह असत्य श्रेष्ठ है। १०३-१०४।

वाग्दैवत्यैश्च चरुभिर्यजेरंस्ते सरस्वतीम्।

अनृतस्यैनसस्तस्य कुर्वाणा निष्कृतिं पराम्॥ १०५॥

कूष्माण्डैर्वापि क्षुहुयादघृतमग्नी यथाविधि।

उदित्युच्चा घा वारुण्या तृचेनाद्दैवतेन वा॥ १०६॥

वे उस मिथ्या भाषणरूपी पाप से उद्धार पाने के लिए वाग्देवता सरस्वतीजी के मन्त्रों से उनका यज्ञ करे। कूष्माण्ड मन्त्रों से यथाविधि अग्नि में घृत से हवन करे। किंवा उदुत्तयं इस वरुण दैवत मंत्र से अथवा जल देवता की तीन ऋचाओं से हवन करे। १०५-१०६।

त्रिपक्षादबुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः।

तदृणं प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः॥ १०७॥

यस्य दृश्येत समाहादुक्तवाक्यस्य साक्षिणः।

रोगोऽग्निर्ज्ञातिमरणमृणं दाप्यो दमं च सः॥ १०८॥

यदि निरोग मनुष्य ऋणादि के तीन पक्ष के भीतर गवाही न दे तो उसी से सब ऋण महाजन को दिलाना चाहिए और उसी से राजा को भी सम्पूर्ण ऋण का दसवाँ हिस्सा दण्डस्वरूप दिलाना चाहिए। जिस गवाह को गवाही देने के एक समाह के भीतर कोई रोग हो जाय, उसका घर जल जाय अथवा उसके किसी कुटुम्बी की मृत्यु हो जाय, तो भी धनी का ऋण और राजा को दण्ड उसे देना ही होगा। १०७-१०८।

असाक्षिकेषु त्वर्येषु मिथो विवदमानयोः।

अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत्॥ १०९॥

महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः।

वसिष्ठश्चापि शपथं शोपे पैजवने नृपे॥ ११०॥

आपस में झगड़ते हुए वादी-प्रतिवादियों के बीच कोई साक्षी न हो और सत्य बात का पता न लगे तो राजा उनसे शपथ करकर सत्य का निर्णय करे। महर्षि और देवताओं ने भी कार्य के निर्णयार्थ शपथ खाई थी वशिष्ठ ने भी पिजवन राजा के पुत्र के सामने शपथ ली थी। १०९-११०।

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः।

वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति॥ १११॥

कामिनीषु विवाहेषु गवां भक्ष्ये तथेन्धने।

ब्राह्मणाभ्युपपत्तौ च शपथे नास्ति पातकम्॥ ११२॥

बुद्धिमान मनुष्य को थोड़ी-सी बात के लिए व्यर्थ शपथ नहीं करनी चाहिए क्योंकि वृथा शपथ करने वाले के इहलोक परलोक दोनों बिगड़ते हैं। स्त्रियों के साथ विवाह की बातचीत में, गौओं के लिए घास-भूसा लेने में, होम के लिए लकड़ी लाने में और ब्राह्मणों पर विपत्ति आने पर शपथ करे जो उसका पाप नहीं होता है। १११-११२।

सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं बाहनायुधैः।

गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥ ११३॥

अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।

पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक्॥ ११४॥

ब्राह्मण से सत्य की शपथ करावे, क्षत्रिय से वाहन तथा शस्त्र, की वैश्य से गौ, अन्न और सुवर्ण की और शूद्र से सब पाप लगाने की शपथ करावे। अथवा उससे अग्नि की परीक्षा शास्त्रोक्त विधि से करावे, या पानी में गोता लगावावे, या बेटे और स्त्री के मस्तक पर अलग-अलग हाथ रखवावे। ११३-११४।

यमिद्धो न दहत्यग्निरापो नोन्मज्जयन्ति च।

न चार्तिमृच्छति क्षिप्रं स ज्ञेयः शपथे शुचिः ॥ ११५ ॥

वात्सल्यं ह्यभिशास्तस्य पुरा भ्रावा यवोयसा।

नाग्निर्ददाह रोमापि सत्येन जगतः स्पर्शः ॥ ११६ ॥

जिसको आग नहीं जलाती, दानी ऊपर नहीं उठता और जिसे कोई बड़ी पीड़ा नहीं होती, उसे शपथ में पवित्र समझना चाहिए। पूर्व काल में छोटे भाई के अभिशाप लगाए जाने पर (तुम ब्राह्मण नहीं हो शूद्र से उत्पन्न हुए हो) ब्रह्म ऋषि ने अग्नि में प्रवेश किया। संसार के शुभाशुभ कर्म का परीक्षक अग्नि ने सत्य के कारण उनका एक रोम भी नहीं जलाया। ११५-११६।

यस्मिन्यस्मिन्निवादे तु कौटसाक्ष्यं कृतं भवेत्।

तत्तत्कार्यं निवर्तेत कृतं चाप्यकृतं भवेत् ॥ ११७ ॥

लोभान्मोदाद्भयान्मैत्रात्कामत्क्रोधात्तथैव च।

अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥ ११८ ॥

जिन-जिन विवादों में झूठी गवाहियाँ हुई हों उनका निश्चय होने पर उन-उन विवादों पर फिर से विचार करे, क्योंकि वह पहले का किया विचार न किये के बराबर है। लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध और भोलेपन से जो गवाही दी जाती है यह झूठी होती है। ११७-११८।

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत्।

तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ११९ ॥

लोभात्सहस्रं दण्डयस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम्।

भयाद्द्वौमध्यौ दण्डौ मैत्रात्पूर्वं दतुर्गुणम् ॥ १२० ॥

इन पूर्वोक्त कहे कारणों से किसी कारण से जो कोई झूठी गवाही दे,

उसको किस अवस्था में क्या दण्ड देना चाहिए, यह क्रम से कहते हैं। लोभ से झूठी गवाही देने पर हजार पण^१, मोह से झूठ बोलने पर प्रथम साहस^२ संख्यक, भय से झूठ बोलने पर दो मध्यम साहस और मित्रता से झूठी गवाही देने पर प्रथम साहस का चौगुना दण्ड है। ११९-१२०।

कामदृशगुणं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम्।

अज्ञानादद्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु॥ १२१॥

एतानाहुः कौटसाक्ष्ये प्रोक्तान्दण्डान्मनीषिभिः।

धर्मस्याव्यभिचारार्थमधर्मनियमाय च॥ १२२॥

कामवश झूठी गवाही देने से प्रथम साहस का दस गुना, क्रोध से झूठ बोलने पर मध्यम साहस का तिगुना, अज्ञान से दो सौ पण और मूर्खता के कारण असत्य बोलने के लिए कूटसाक्ष्य (झूठी गवाही) में ये दण्ड मुनियों ने बताये हैं। १२१-१२२।

कौटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णांश्चार्मिको नृपः।

प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवसाम येत्॥ १२३॥

दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायं भुवोऽब्रवीत्।

त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो ब्रजेत्॥ १२४॥

धार्मिक राजा झूठी गवाही देने पर तीनों वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को) (पूर्वोक्त प्रकार से) दण्ड देकर देश से निकाल दे और ब्राह्मण को केवल देश से निकाल दे। स्वायम्भुव मनु ने दण्ड के जो दस स्थान कहे हैं (क्षत्रियादि) तीन वर्णों के लिए हैं। (ब्राह्मण के लिए नहीं), ब्राह्मण को राजा देश से निकाल भर दे। १२३-१२४।

उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम्।

चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च॥ १२५॥

अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः।

सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्डयेषु पातयेत्॥ १२६॥

१. पण और २. साहस कितने का होता है, यह इस अध्याय के १३६वें और १३८वें श्लोक में लिखा है।

लिंग, पेट, जीभ, दोनों हाथ, दोनों पैर, आंख, कान, नाक, देह और धने ये दश स्थान दण्ड के हैं। अपराधी का अपराध, अपराध का स्थान और समय भली-भाँति जानकर तथा अपराधी की दैहिक, साम्प्रतिक सामर्थ्य और अपराध का हल्का या भारी होना यह सब यथार्थ रूप से देखकर अपराधी को दण्ड देने की व्याख्या करे। १२५-१२६।

अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम्।

अस्वर्ग्यं न परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥ १२७॥

अदण्डान्दण्डयनाजा दण्डयाश्चैवाप्यदण्डयन्।

अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ १२८॥

धर्मविरुद्ध दण्ड देने वाले का संसार में यश और कीर्ति का नाश होता है और मरने पर स्वर्ग भी नहीं मिलता, इसलिए उसका त्याग करे। निरपराधी को दंड देने और अपराधी पुरुषों को दंड न देने से राजा को बड़ा अपयश होता है और मरने पर नरकगामी होता है। १२७-१२८।

वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विगदण्डं तदन्तरम्।

तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम्॥ १२९॥

वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुं न शक्नुयात्।

तदैषु सर्वमप्येतत्प्रज्जीत चतुष्टयम्॥ १३०॥

पहले अपराधी को वाग्दण्ड दे, उसके बाद उसे धिक्कारे, (उस पर भी वह अपराध करे तो) फिर उसे धन-दंड दे, तत्पश्चात् शारीरिक दंड दे। यदि किसी अंग के काटने के इत्यादिक दंड देने पर भी अपराधियों का निग्रह न कर सके तो उन पर पूर्वोक्त चारों दंडों का प्रयोग करे। १२९-१३०।

लोकसंव्यवहारार्थं याः संज्ञाः प्रथिता भुवि।

ताम्ररूप्यासुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः॥ १३१॥

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।

प्रथमं तत्प्रमाणानां त्रसरेणुं प्रचक्षते॥ १३२॥

लोक में व्यवहार के लिए ताँबा, चांदी और सोने की जो संज्ञाएँ प्रसिद्ध हैं उन्हें सम्पूर्ण कहता हूँ। जाली-झरोखे के भीतर पड़ने वाली सूर्य की किरणों में जो छोटे-छोटे धूलिकण दिखाई देते हैं वैसे एक धूलि का कण

मान परिमाण में प्रथम है और उसे त्रसरेण कहते हैं। १३१-१३२।

त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षेका परिमाणतः।

ता राजसर्षपस्तिस्त्रस्ते त्रयो गौरसर्षपः॥ १३३॥

सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णालम्।

पञ्चकृष्णालको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश॥ १३४॥

परिमाण में आठ त्रसरेणुओं की एक लिखा, उन तीन लिखाओं का एक राजसर्षपों और तीन ऋषियों का एक गौर सर्षप होता है। छः गौर सर्षपों का एक मझोला जव, वैसे तीन जवों की एक रत्ती और पाँच रत्ती का एक मासा तथा १६ मासे का एक सुवर्ण (तोला होता है)। १३३-१३४।

पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दशः।

द्वे कृष्णाले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः॥ १३५॥

ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः।

कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः॥ १३६॥

चार सुवर्ण का एक पल, दश पल का एक धारण और वजन में दो रत्ती भर चाँदी का एक रौप्य माषक जानना। सोलह रौप्य मासकों का एक धारण अर्थात् रौप्य पुराण होता है। एक कर्ष भर तांबे को कार्षापण या पण कहते हैं। १३५-१३६।

धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः।

चतुःसौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः॥ १३७॥

पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः।

मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः॥ १३८॥

दस रौप्य धारण का एक रजत शतमान और चार सुवर्ण का एक निष्क होता है। ढाई सौ पण का प्रथम साहस, पाँच सौ पण का मध्यम साहस और एक हजार पण का उत्तम साहस होता है। १३७-१३८।

ऋणे देये प्रतिज्ञाते पंचकं शतमर्हति।

अपह्रवे तदिद्विगुणं तन्मनोरनुशासनम्॥ १३९॥

वसिष्ठविहिता वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्द्धिनीम्।

अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते॥ १४०॥

(विचार-सभा में) ऋण देने की प्रतिज्ञा करने पर ऋण पर प्रतिशत ५ पण दंड करे और (सभा में भी) ऋण स्वीकार न करे तो दुगुना अर्थात् १० पण सैंकड़े पीछे दंड करे। यह मनु की आज्ञा है। वशिष्ठ ने धन बढ़ाने के निमित्त जितना ब्याज लेने को कहा है, ब्याज पर जीने वाला उतना ही ब्याज ले। अर्थात् महीने में रुपये का अस्सी भाग $1\frac{1}{4}$ रुसूद ले। १३९-१४०।

दिकं शतं वा गृहीयात्सतां धर्ममनुस्मरन्।

द्विकं शतं हि गृह्णानो न भवत्यर्धकित्विषी ॥ १४१ ॥

द्विकं त्रिकं चतुष्कं च पंचकं च शतं समम्।

मासस्य वृद्धिं गृहीयाद्वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १४२ ॥

अथवा श्रेष्ठ धर्म का अपहरण करने वाला प्रति सैंकड़ा दो पण मासिक (२) ब्याज ले। क्योंकि दो पण तक मासिक ब्याज लेने वाला पापभागी नहीं होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों वर्णों से क्रम से दो, तीन, चार और पाँच पण प्रति सैंकड़े मासिक ब्याज ले। १४१-१४२।

न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं वृद्धिमाप्नुयात्।

न चाधेः कालसंरोधात्रिसर्गोऽस्ति न विक्रयः ॥ १४३ ॥

न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुज्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्।

मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत् ॥ १४४ ॥

यदि कोई उपकारी वस्तु बन्धक रख कर्ज ले तो महाजन को अलग ब्याज न मिलकर खेत की उपज ही ब्याज में मिलेगी। बहुत समय बीत जाने पर गिरवी की चीज दूसरे को नहीं दी जा सकती है और न उसे बेचा ही जा सकता है। किसी के गिरवी रखे हुए भूषण-वस्त्र का जबर्दस्ती उपभोग न करे, यदि करे तो सूद से बाज आवे। बन्धक की चीज खराब होने पर चीज को उचित मूल्य देकर राजी करे, नहीं तो वह गिरवी का चोर समझा जायेगा। १४३-१४४।

आधिश्चोपनिधिश्चोभौ न कालात्ययमर्हतः।

अवहार्यौ भवेतां तौ दीर्घकालमवस्थितौ ॥ १४५ ॥

संप्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।

धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्व दम्यः प्रयुज्यते ॥ १४६ ॥

गिरवी और उधार दी हुई चीज बहुत काल बीत जाने पर भी चीज वाला जब मॉगे, तभी उसे पाने का अधिकारी है। गाय, ऊँट, घोड़े और हल जोतने वाले बैल आदि पशु स्वामी की इच्छा से किसी के द्वारा भोगे जाने पर भी स्वामी का स्वत्व उन पर सदा बना रहता है। १४५-१४६।

यकिचिदृश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी।

भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्ध्वमर्हति ॥ १४७ ॥

अजडश्चेदपोगण्डो विषये चास्य भुज्यते।

भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद्रव्यमर्हति ॥ १४८ ॥

यदि धनी अपनी किसी चीज को किसी को दस वर्ष तक भोगता हुआ देखे किन्तु बीच में कुछ न बोले तो वह अपनी चीज को वापस नहीं ले सकता है। यदि वह जड़ नहीं और १६ वर्ष से अधिक उम्र का हो तो उसके सामने यदि उसका धन दूसरा भोगे तो वह धन भोगने वाले का होता है। धनी का अधिकार उस धन पर नहीं रहता। १४७-१४८।

आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः।

राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति ॥ १४९ ॥

यः स्वामिनाननुज्ञातमाधिं भुङ्क्तेऽविचक्षणः।

तेनार्धवृद्धिर्भोक्तव्या तस्य भोगस्य निष्कृतिः ॥ १५० ॥

गिरवी, गाँव की सीमा, बालक का धन, थाती, उपनिधि अर्थात् किसी बर्तन में रखा हुआ गुप्त धन, दासी, राजस्व और वेदाध्यायी ब्राह्मण का धन किसी के द्वारा भोगे जाने पर भी धनी का स्वत्व नष्ट नहीं होता। जो मूर्ख स्वामी की आज्ञा के बिना गिरवी रखी हुई चीज को भोगता है वह उस भोग के बदले कर्जदार का आधा ब्याज छोड़ दे। १४९-१५०।

कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहता।

धान्ये सदे लवे बाह्ये नातिक्रामति पञ्चताम् ॥ १५१ ॥

कृतानुसारादधिका व्यतिरिक्ता न विद्धयति।

कुसीदपथमाहुस्तं पञ्चकं शतमर्हति ॥ १५२ ॥

यदि एक साथ ही सूद और मूल धन लिया जाता है तो मूल धन के दूने से अधिक ब्याज नहीं लेना चाहिये। अनाज, पेड़ों के फल, उन्न और

मैल घोड़े आदि कर्ज लेने पर उनके दाम के पाँच गुने से ज्यादा ब्याज नहीं लेना चाहिए। निश्चित ब्याज की दर से अधिक ब्याज नहीं लेना चाहिए। अधिक ब्याज लेने को कुसीद कहते हैं। पाँच प्रतिशत से अधिक ब्याज न लेना चाहिए। १५१-१५२।

तातिसांवत्सरी वृद्धिं न चादृष्टां पुनर्हरेति।

चक्रवृद्धिः कालवृद्धिः कारिता कायिता च या ॥ १५३ ॥

ऋणं दातुमशक्तो यः कर्तुमिच्छेत्पुनः क्रियाम्।

स दत्त्वा निर्जितां वृद्धिं करणं परिवर्तयेत् ॥ १५४ ॥

अति वार्षिक (प्रत्येक मास या दूसरे या तीसरे मास में ब्याज लेने का नियम करके वर्ष के भीतर ही ले लेना चाहिये) वर्ष के बाद अधिक ब्याज बढ़ाकर) ब्याज न लेना चाहिये। पहले से न देखा ब्याज जैसे ब्याज पर ब्याज-सूद पर सूद (चक्रवृद्धि), मेहनत-मजूरी के रूप में ब्याज लेना (कायिक) और कष्ट देकर ब्याज बढ़वा लेना (कारिक)-ऐसा ब्याज न लेना चाहिए। जो ऋण देने में असमर्थ हो और फिर से कागज लिख देना चाहे तो पहले सबका ब्याज देकर धनी का कागज बदल दे। १५३-१५४।

अदर्शयित्वा तत्रैव हिरण्यं परिवर्तयेत्।

यावती संभवेद्वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥ १५५ ॥

चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः।

अतिक्रामदेशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात् ॥ १५६ ॥

यदि ब्याज का द्रव्य देने में उस समय असमर्थ हो तो जितना ब्याज हुआ हो उतना मूल में जोड़कर कागज बदल दे। गाड़ी चलाने वाला निश्चित स्थान तक का किराया लेकर यदि उस स्थान तक पहुँचावे, अथवा किसी को किसी नियत अवधि के लिए गाड़ी दे और उससे पहले ही उसका काम रोक दे तो गाड़ी वाला कुछ भी पाने का अधिकारी नहीं होता। १५५-१५६।

समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।

स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति ॥ १५७ ॥

यो यस्य प्रतिभूतिष्ठेदृशनायेह मानवः।

अदर्शयन्स तं तस्य प्रयच्छेत्स्वधनादृणम् ॥ १५८ ॥

दूरी और समय के अनुसार भाड़ा और किराया जानने वाले जल-स्थल वाहनों के कुशल पुरुष जो भाड़ा नियत करते हैं, वही ठीक माना जाता है। जो मनुष्य जिसका प्रतिभू (जामिन) हो और कर्जदार को सभा में हाजिर न कर सके तो वह अपने धन में से उसका ऋण चुकावे। १५७-१५८।

प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।

दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति ॥ १५९ ॥

दर्शनप्रातिभाव्ये तु विधिः स्यात्पूर्वचोदितः।

दानप्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ १६० ॥

प्रतिभाव्य (प्रतिभू के नाते जो दंड देना पड़े), वृथा दान (नट, भाँड़ आदि को जो कुछ देना हो, आक्षिक (जुए के सम्बन्ध का), सौरिक (मद्य सम्बन्धी), अपराध विशेष का दंड और कर विशेष का अवशेष, इन सब देनों का (देनदार का) पुत्र/देनदार नहीं होता। उक्त नियम दर्शन प्रतिभू (जमानत करने वाले के) विषय में हुआ। परन्तु दान-प्रतिभू (ऋण दिला देने को जमानत करने वाले) के सम्बन्ध में यह नियम है कि उसके मरने पर उसके पुत्र से वह ऋण दिलाया जाए। १५९-१६०।

अदातरि पुनर्दाता विज्ञातप्रकृतावृणम्।

पश्चात्प्रतिभुवि प्रेते परीप्सेत्केन हेतुना ॥ १६१ ॥

निरादिष्ट धनश्चेत्तु प्रतिभूः स्यादलं धनः।

स्वधनादेव ददद्यान्निरादिष्ट इति स्थितिः ॥ १६२ ॥

जो दान प्रतिभू नहीं है, पर जिसने आसानी से उसका मूल ऋण शोधन लायक द्रव्य लेकर यह प्रतिभूत्व किया है यह जानकर जो ऋण आसामी को दिया गया है वह उस प्रतिभू के मरने पर किस प्रकार से प्राप्त किया जाय। यदि प्रतिभू (जामिन) को ऋण से उसके ऋण शोधन के बराबर धन मिला हो तो (ऐसे प्रतिभू के मरने पर) उसका पुत्र अपने धन से वह ऋण शोध दे, यही शास्त्र की मर्यादा है। १६१-१६२।

मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेन स्थविरेण वा।

असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्ध्यति ॥ १६३ ॥

सत्या न भाषा भवति यद्यपि स्यात्प्रतिष्ठिता।

वहिश्चेद्भाष्यते धर्मानिन्नयताद्वयावहारिकात् ॥ १६४ ॥

मतवाला, पागल, शोकार्त, रोगग्रस्त, सेवक, बालक और वृद्ध इनके साथ उनके घर वालों की सम्मति के बिना जो व्यवहार होता है वह सिद्ध नहीं होता है। बात पक्की होने पर भी यदि वह धर्मशास्त्र और व्यवहार के विरुद्ध हो तो सत्य नहीं होती। १६३-१६४।

योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्।

यत्र वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ॥ १६५ ॥

ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्बार्थं कृतो व्ययः।

दातव्यं बान्धवैस्तत्सत्प्रविभक्तैरपि स्वतः ॥ १६६ ॥

छल से कोई चीज बन्धक रखी जाय या बेची जाय, दान दी जाय या ली जाय, अथवा कपट से कोई व्यवहार किया हो तो उन सभी व्यवहारों को रखा रद्द कर दे। कुटुम्ब के खर्च के लिए ऋण लेने वाला यदि मर जाय तो आपस में अलग-अलग होने पर भी बान्धवों को अपने-अपने धन से ऋण चुका देना चाहिए। १६५-१६६।

कुटुम्बार्थध्यधीनोऽपि व्यवहारं यमाचरेत्।

स्वदेशे वा विदेशे वा तं ज्यायान्न विचालयेत् ॥ १६७ ॥

बलादत्तं बलाद्भुक्तं बलाद्यच्चापि लेखितम्।

सर्वान्बलकृतानर्थानकृतान्मनुरब्रवीत् ॥ १६८ ॥

जो किसी के अधीन हो यदि वह अपने स्वामी के कुटुम्ब के लिए ऋण ले तो उसका स्वामी देश में हो या विदेश में, अपने को उस ऋण का देनदार समझे। बलपूर्वक जो दिया जाय, भोग किया जाय, लिखवाया जाय और सभी काम जो बलपूर्वक किये जायें वे नहीं करने के बराबर हैं—ऐसा मनु ने कहा है। १६७-१६८।

त्रयः परार्थे क्लिश्यन्ति साक्षिणः प्रतिभूः कुलम्।

चत्वारस्तूपचीयन्ते विप्र आढयो वणिङ् नृपः ॥ १६९ ॥

अनादेयं नाददीत परिक्षीणोऽपि पार्थिवः।

त चादेयं समृद्धोऽपि सूक्ष्यमप्यर्थमुत्सृजेत् ॥ १७० ॥

साक्षी, प्रतिभू (जामिन) और कुल (स्वजन) ये तीन परार्थ से क्लेश उठाते हैं, और ब्राह्मण, धनी, वणिक् और राजा ये चार परार्थ से वृद्धि पाते

हैं। निर्धन होने पर भी राजा न लेने योग्य वस्तु को न ले और समृद्ध होने पर लेने योग्य छोटी-सी वस्तु भी न छोड़े। १६९-१७०।

अनादेयस्य चादानादादेयस्य च वर्जनात्।

दौर्बल्यं ख्याप्यते राज्ञः स प्रेत्येह न नश्यति॥ १७१॥

स्वादानाद्वर्णसंसर्गात्त्वकलानां च रक्षणात्।

बलं संजायते राज्ञः प्रेत्येह च वर्धते॥ १७२॥

न लेने योग्य वस्तु के लेने से और लेने योग्य वस्तु के न लेने से राजा की दुर्बलता प्रकट होती है, उसके लोक परलोक दोनों नष्ट होते हैं। प्राप्त धन लेने से, स्वजातियों के साथ सम्बन्ध रखने से और दुर्बलों की रक्षा करने से राजा का बल बढ़ता है और इहलोक-परलोक सुधरते हैं। १७१-१७२।

तस्काद्यम इव स्वामी स्वयं हित्वा प्रियाप्रिये।

वर्तेत याम्यया वृत्त्या जितक्रोधो जितेन्द्रियः॥ १७३॥

यत्स्वधर्णेण कार्याणि मोहात्कुर्यान्नराधिपः।

अचिरात्तं दुरात्मानं वशे कुर्वन्ति शत्रवः॥ १७४॥

इसलिये यम के सदृश्य राजा को अपना प्रिय-अप्रिय त्यागकर क्रोधरहित और जितेन्द्रिय होकर यम के समान वृत्ति से रहना चाहिए। जो राजा मोहान्ध होकर अधर्मपूर्वक कार्य करता है उस दुरात्मा को शत्रुगण शीघ्र ही अपने वश में कर लेते हैं। १७३-१७४।

कामक्रोधो तु संयम्य योऽर्थान्धर्मेण पश्यति।

प्रजास्तमनुवर्तन्ते समुद्रमिव सिन्धवः॥ १७५॥

यः साधयन्तं छन्देन वेदयेद्धनिकं नृपे।

स राज्ञा तच्चनुर्भागं दाप्यस्तस्य च तद्धनम्॥ १७६॥

जो राजा काम-क्रोध का संयम करके धर्म से सब कामों को देखता है उसका अनुकरण प्रजा भी उसी प्रकार करती हुई चलती है, जैसे नदियाँ समुद्र के पीछे। जो ऋणी अपनी इच्छा से अपने ऐसे महाजन की राजा से शिकायत कर दे जो वास्तविक रीति से ऋण वसूल कर रहा हो, तो राजा उसके ऋण का चौथा भाग उसके ऊपर दंड करके महाजन का कर्ज दिला दे। १७५-१७६।

कर्मणापि समं कुर्याद्धनिकायाधर्णिकः ।

समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः ॥ १७७ ॥

अनेन विधना राजा मिथोविवदतां नृणाम् ।

साक्षिप्रत्ययसिद्धानि कार्याणि समतां नयेत् ॥ १७८ ॥

यदि कर्जदार महाजन का सजातीय या नीच जाति का हो तो उसका काम करके भी ऋण चुका दे। यदि उत्तम जाति का हो तो अपने से हीन जाति के महाजन की सेवा न करके थोड़ा-थोड़ा ऋण चुका दे। इसी विधि से राजा परस्पर झगड़ते हुए पुरुषों की साक्षी और प्रमाणों के द्वारा व्यवहार का निर्णय करे। १७७-१७८।

कुलजे वृत्त सम्पन्ने धर्मज्ञे सत्यवादिनि ।

महापक्षे धनिन्यार्थे निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः ॥ १७९ ॥

यो यथा निक्षिपेद्भस्ते यमर्थं यस्य मानवः ।

स तथैव ग्रहीतव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १८० ॥

चतुर मनुष्य को कुलीन, सच्चरित्र, धर्मज्ञ, सत्यवादी, बहुकुटुम्बी, धनवान् और सरल स्वभाव वाले के पास धन जमा करना चाहिए। जो मनुष्य जिस प्रकार जिसके हाथ में जिस लिए धन सौंपे, वह उसी प्रकार से उससे ले, क्योंकि जैसे देना, वैसे लेना, यही नीति है। १७९-१८०।

यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति ।

स याच्यः प्राड्विवाकेन तन्निक्षेप्तुरसंनिधौ ॥ १८१ ॥

साक्ष्यभावे प्रणिधिभिर्वयोरूपसमन्वितैः ।

अपदेशैश्च संन्यस्य हिरण्यं तस्य तत्त्वतः ॥ १८२ ॥

धरोहर धरने वाले के माँगने पर यदि महाजन उसे धरोहर न दे तो न्यायकर्ता धरोहर धरने वाले के पक्ष में महाजन से वह धरोहर माँगे। धरोहर में साक्षी का अभाव हो तो न्यायकर्ता अपने रूपवान् नवयुवक चरों द्वारा दृष्टपूर्वक उसके पास सोना धरोहर रखवावे और फिर उन्हीं द्वारा वह धरोहर माँगावे। १८१-१८२।

स यदि प्रतिपद्येत यथान्यस्तं यथाकृतम् ।

न त विद्यते किञ्चिद्यत्परैरभियुज्यते ॥ १८३ ॥

तेषां न दद्याद्यदि तु यद्धिरण्यं यथाविधि।

उभौ निगृह्य दाप्यः स्यादिति धर्मस्य धारणा ॥ १८४ ॥

वह महाजन यदि धरोहर की चीज जैसी रखी गई हो वैसी ही दे दे तो न्यायकर्ता को समझना चाहिए कि धरोहर वाले ने जो उस पर अपनी धरोहर की नालिश की है वह झूठी ही है। यदि राजदूतों की धरी हुई सोने की धरोहर को वह न दे तो न्यायकर्ता उस महाजन से दोनों की धरोहर दिला दे, यही धर्म का निश्चय है। १८३-१८४।

निक्षेपोपनिधी नित्यं न देयो प्रत्यनन्तरे।

नश्यतो विनीपाते तावनिपाते त्वनाशिनौ ॥ १८५ ॥

स्वयमेव तु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे।

न स राजा नियोक्तव्यो न तिक्षेप्पुश्च बंधुभिः ॥ १८६ ॥

निक्षेप और उपनिधि^१ जिसकी रखी हुई हो, उसी को दे। उसके जीतेजी उसके उत्तराधिकारी को न दे। क्योंकि धरोहर रखने वाला जब तक जीता है तब तक उस पर उसी का पूरा अधिकार रहता है, किन्तु मरने पर उसका अधिकार नष्ट हो जाता है। जो महाजन धरोहर दे दे तो धरोहर रखने वाले के बन्धु या राजा को उस पर वृथा अन्य वस्तुओं का अभियोग नहीं लगाना चाहिए। १८५-१८६।

अच्छलेनैव चान्विच्छेत्तमर्थं प्रीतिपूर्वकम्।

विचार्य तस्य वा वृत्तं साम्नैव परिसाधयेत् ॥ १८७ ॥

निक्षेपेष्वेषु सर्वेषु विधिः स्यात्परिसाधने।

समुद्रे नाप्नुयात्किञ्चिद्यदि तस्मान्न संहरेत् ॥ १८८ ॥

निश्छल भाव से प्रसन्नतापूर्वक उस धन का निश्चय करे, या उस धरोहर धरने वाले के व्यवहार को जानकर सामप्रयोग से धरोहर का पता लगावे। सभी धरोहरों को प्रमाणित करने के लिए यह विधि कही गई, किन्तु मुहर की हुई धरोहर में से कुछ न ले तो उस पर कोई दोष नहीं लगाया जा सकता। १८७-१८८।

१. जो चीज बन्द करके मुहर छाप लगाकर रखने के लिए दी जाती है तब उसे उपनिधि कहते हैं।

चौरैर्हृतं जलेनोदमग्निना दग्धमेव वा।

न दद्याद्यदि तत्मात्स न संहरति किञ्चन ॥ १८९ ॥

निक्षेपस्यापहर्तारमनिक्षेप्तारमेव च।

सर्वैरुपायैरन्विच्छेच्छपथश्चैव वैदिकैः ॥ १९० ॥

चोर चुरा ले या जल में बह जाए, या आग में जल जाए तो धरोहर भरने वाला वह नहीं दे सकता यदि उसमें से कुछ लिया न हो। धरोहर मारने वाले और धरोहर न रखकर माँगने वाले का राजा वैदिक शपथ और सामादिक उपायों से जाँच कर सत्यासत्य का निरूपण करे। १८९-१९०।

यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचते।

तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्या वा तत्समं दमम् ॥ १९१ ॥

निक्षेपस्यावहर्तारं तत्समं दापयेद्दमम्।

तथोपनिधिहर्तारमविशेषेण पार्थिवः ॥ १९२ ॥

जो धरोहर को नहीं देता और जो धरोहर न देकर माँगता है, वे दोनों चोर के तुल्य दण्डनीय हैं या उनसे राजा उस द्रव्य के बराबर जुर्माना ले। धरोहर न देने वाले को राजा उस (निक्षेप) के बराबर द्रव्य दण्ड करे। वैसे ही उपनिधि हरने वाले को भी उसी के तुल्य जुर्माना करे। १९१-१९२।

उपधाभिश्च चः कश्चित्परद्रव्यं हरेन्नरः।

ससहायः स हन्तव्यः प्रकाशं विविधैर्वधैः ॥ १९३ ॥

निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसंनिधौ।

तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति ॥ १९४ ॥

जो कोई पुरुष दूसरे के धन को धोखा देकर हरण करता है, राजा उसे और उसके सहायक को बहुत लोगों के सामने विविध प्रकार की दैहिक यंत्रणा देकर मार डाले। जिसने जितना धन साक्षी के सामने धरोहर रखा हो, साक्षी के कहने पर उसे धरोहर रखने वाले से उतना ही मिलना चाहिए। अधिक माँगने वाला दण्डभागी होता है। १९३-१९४।

मिथो दायः कृतो येन गृहीतो मिथ एव वा।

मिथ एव प्रदातव्यो यथा दायस्तथा ग्रहः ॥ १९५ ॥

निक्षिप्तस्य धनस्यैवं प्रीत्योपनिहितस्य च।

राजा विनिणयं कुर्यादक्षिण्वन्यासधारिणम् ॥ १९६ ॥

जिसने एकान्त में धन रखने के लिये दिया हो और धरोहर धरने वाला भी एकान्त में उस धन को लिया हो, तो वह एकान्त में ही देना चाहिये तो जिस प्रकार देना उसी प्रकार लेना। धरोहर और अपनी खुशी से भोगने के लिए दी हुई वस्तु के विषय में राजा को ऐसा निर्णय करना चाहिये जिसमें धरोहर धरने वाले को दुःख न हो। १९५-१९६।

विक्रीणीते परस्य स्वं योऽस्वामी स्वाम्यसंमतः।

न तं नयेत साक्ष्यं तु स्तेनमस्तनमानिनम् ॥ १९७ ॥

अपहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्।

निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकित्विषम् ॥ १९८ ॥

जो मालिक की आज्ञा के बिना दूसरे का माल बेचता है, वह अपने को चोर न मानता हुआ भी चोर है। उसे किसी भी कार्य में साक्षी न बनाना चाहिये। यदि दूसरे का धन बेचने वाला धन स्वामी का सम्बन्धी हो तो राजा उस पर ३०० पण दंड करे। यदि उससे स्वामी का कोई सम्बन्ध न हो और न उस धन से उसका किसी प्रकार का लगाव हो तो वह चोर के समान अपराधी है। १९७-१९८।

अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रम एव वा।

अकृतः स तु विज्ञेया व्यवहारे यथा स्थितिः ॥ १९९ ॥

संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।

आगमः कारणं तत्र संभोग इति स्थितिः ॥ २०० ॥

जो जिस धन का मालिक नहीं है, उसका दिया या बेचा हुआ धन व्यवहार के मर्यादा विरुद्ध होने से न देने और न बेचने के बराबर है। जहाँ पर किसी वस्तु का सम्भोग देखा जाता हो किन्तु उसके आगम का कोई प्रमाण न पाया जाता हो, वो आगम ही कारण माना जाता है, भोग नहीं। यही शास्त्र की आज्ञा है। १९९-२००।

विक्रयाद्यो धनं किञ्चिद्गृहीयात्कुलसंनिधौ।

क्रयेण स विशुद्धं हि न्यायतो लभते धनम् ॥ २०१ ॥

अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।

आदण्ड्यो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम् ॥ २०२ ॥

आदृत से मूल्य देकर व्यापारियों के सामने जो कुछ माल खरीदा जाता है, वह न्याय से पाने के कारण विशुद्ध है। माल बेचने वाले का पता न लगे पर यह निश्चित हो कि बाजार में ही उसे दाम देकर खरीदार से खरीदा है तो वह खरीदार दंड का भागी नहीं होता। उसे बिना दंड दिये छोड़ देना चाहिये और असल में जिसका वह माल है उसे वापस दे देना चाहिये। २०१-२०२।

नान्यदन्येन संसृष्टरूपं विक्रममर्हति।

न चासारं न च न्यूनं न दूरेण तिरोहितम्॥ २०३॥

अन्यां चेद्दर्शयित्वान्या वोढुः कन्या प्रदीयते।

उभे तु एकशुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः॥ २०४॥

बनिया किसी चीज में दूसरी चीज मिलाकर नकली चीज को अच्छा कहकर, दूर से नकली चीज दिखाकर दूर पर या तोल में कोई चीज कम करके नहीं बेच सकता। अच्छी लड़की को दिखाकर वर का ब्याह किसी दूसरी लड़की से कर दे तो वह उसी एक ही खर्च में दोनों लड़कियों के साथ ब्याह कर ले, यह मनुजी ने कहा है। २०३-२०४।

नोन्मत्ताया न कुष्ठिन्या न च या स्पृष्टमैथुना।

पूर्वं दोषानभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति॥ २०५॥

ऋत्विग्यदि वृतो यज्ञे स्वकर्म परिहाषयेत्।

तस्य कर्मानुरूपेण ज्ञेयोऽंशः सह कर्तृभिः॥ २०६॥

जो कन्या पगली है, कुछ रोगिणी है और पुरुष के साथ जिसका समागम हो चुका है, इन दोषों को विवाह के पहले वर से न कहने वाला दाता दंड पाने का अधिकारी होता है। यदि यज्ञ में वरण किया हुआ ऋत्विज किसी कारण से अपना कर्म करना छोड़ दे तो अन्य ऋत्विजों को उसके कर्म के अनुसार दक्षिणा का अंश दिया जाना चाहिए। २०५-२०६।

दक्षिणासु च दत्तासु स्वकर्म परिहापयेत्।

कृत्स्ननेव लभेतांशमन्येनैव च कारयेत्॥ २०७॥

यस्मिन्कर्मणि यास्तु स्युरुक्ताः प्रयङ्गदक्षिणाः।

स एव ता आददीत भजेरन्सर्व एव वा॥ २०८॥

यदि दक्षिणा दे दी जाने पर भी ऋत्विज अपने कर्म को पूरा न कर सके तो वह दक्षिणा के सब अंश को रखे, परन्तु कर्म का शेष भाग दूसरे से पूरा करावे। जिस कर्म में जिस अंश की जो दक्षिणा कही है, वह ऋत्विज आप ले या सब मिलकर आपस में बाँट लें। २०७-२०८।

रथं हरेत चाध्वर्युर्ब्रह्माधाने च वाजिनम्।

होता वापि हरेदश्वमुद्गाता चाप्यनः क्रये ॥ २०९ ॥

सर्वेषामाधिंनो मुख्यास्तदर्धेनाधिंनोऽपरे।

तृतीयिनतृतीयांशाश्चतुर्थांशाश्च पादिनः ॥ २१० ॥

किसी आधान में अध्वर्यु रथ को, ब्रह्मा को और हवन करने वाले को भी घोड़ा तथा उद्गाथा को गाड़ी और सोम क्रय करने वाली गाड़ी को लेना चाहिये। यज्ञ के सोलह ऋत्विजों में जो चार ऋत्विज मुख्य हैं, उन्हें आधी दक्षिणा, द्वितीय श्रेणी के चार ऋत्विज उसकी आधी, तृतीय श्रेणी के चार ऋत्विज उसकी तिहाई और चतुर्थ श्रेणी के चार ऋत्विज उसकी चौथाई दक्षिणा पाने के अधिकारी होते हैं। २०९-२१०।

संभूय स्वानि कर्माणि कुर्वद्भिर्ह मानवैः।

अनेन विधियोगेन कर्तव्यांशकल्पना ॥ २११ ॥

धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्वाचते धनम्।

पश्चाच्च न तथा तत्स्यान् देयं तस्य तदभवेत् ॥ २१२ ॥

एक साथ मिलकर काम करने वाले मनुष्यों को भी आपस में इसी उपर्युक्त नियम के अनुसार अंश का निर्णय करना चाहिये। यदि कोई किसी से माँगने पर धर्म कार्य के लिए धन दे, पीछे वह उस धन को उक्त धर्म कार्य में लगावे तो वह देय नहीं होता, जिस दाता का दिया वह है उसी का होता है। २११-२१२।

यदि संसाधयेत्तत्तु दर्पाल्लोभेन वा पुनः।

राज्ञा दाप्यः सुवर्णं स्यात्तस्य स्तेयस्य निष्कृतिः ॥ २१३ ॥

दत्तस्यैषोदिता धर्म्या यथावदनपक्रिया।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वेतनस्यानपक्रियाम् ॥ २१४ ॥

यदि वह अभिमान या लोभ से उस धन को न लौटावे तो राजा उसको

चोरी के पाप से उद्धार पाने के लिये एक स्वर्ण दंड करे। यह दिये हुए पदार्थों को धर्मपूर्वक समर्पित न करने की बात कही गई। इसके अनन्तर वेतन न देने का विषय कहते हैं। २१३-२१४।

भूतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम्।

स दण्ड्यः कृष्णालान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम्॥ २१५॥

आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन्यथाभाषितमादितः।

स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्॥ २१६॥

जो सेवक स्वस्थ रहने पर भी अहंकार से कहा हुआ काम न करे तो राजा उसे आठ कृष्णल दंड करे और वेतन न दे। पीड़ित व्यक्ति स्वस्थ होने पर पहले कहे अनुसार अपना काम करे तो वह अपने बहुत दिनों के बाकी वेतन को भी पाता है। २१५-२१६।

यथोक्तमार्त सुस्थो वा यस्तत्कर्म न कारयेत्।

न तस्य वेतनं देयमल्पोनस्यापि कर्मणः॥ २१७॥

एष धर्मोऽखिलेनोक्तो वेतनादानकर्मणः।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि धर्मं समयभेदिनाम्॥ २१८॥

रोगी होने पर कहे हुए कार्य को दूसरे से न करावे किंवा स्वस्थ होने पर स्वयं उस काम को पूरा करे तो जो काम शेष रह जाय उसका वेतन उसको नहीं देना चाहिये। वेतन देने-लेने की सब व्यवस्था कही गई, अब प्रतिज्ञा भंग करने वालों की व्यवस्था कहता हूँ। २१७-२१८।

यो ग्रामदेशसंघानां कृत्वा सत्येन संविदम्।

विसंवदेन्नरो त्रोभातं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्॥ २१९॥

निगृह्य दापयेच्चनं समयव्यभिचारिणम्।

चतुःसुवर्णान्वणिष्कांश्छतमानं च राजतम्॥ २२०॥

जो ग्रामवासी, देशवासी या व्यापारी सत्यता से काम करने की प्रतिज्ञा करे, पीछे वह लोभ से हट जाय तो राजा उसे अपने राज्य से निकाल दे। ऐसे समयानुसार काम न करने वाले को कारागार में डालकर उससे चार सुवर्ण छः निष्क और तीन सौ बीस रत्ती चाँदी वसूल करे। २१९-२२०।

एतदण्डविधिं कुर्याद्भार्मिकः पृथिवीपतिः।

ग्रामजातिसमूहेषु समयव्यभिचारिणाम्॥ २२१॥

क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चदस्येहानुशयो भवेत्।

सोऽन्तर्दशाहाक्रद्द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा ॥ २२२ ॥

धार्मिक राजा ग्राम-जाति समूह में प्रतिज्ञा भंग करने वाले को भी यही पूर्वोक्त दंड की व्यवस्था करे। यदि किसी को कोई चीज खरीदकर या बेचकर पश्चाताप हो तो वह उस चीज को दस दिन के भीतर सौदागर को लौटा दे या खरीदार से वापस ले ले। २२१-२२२।

परेण तु दशाहस्य न दद्यान्नापि दापयेत्।

आददानाददच्चैव राज्ञा दण्ड्यः शतानि षट् ॥ २२३ ॥

यस्तु दोषवर्ती कन्यामनाख्याय प्रयच्छति।

तस्य कुर्वात्रूपो दण्डं स्वं षण्णवतिं पणान् ॥ २२४ ॥

यदि खरीदने वाला खरीदी हुई चीज को दस दिन के अन्दर न लौटावे और न महाजन बिकी हुई चीज को वापस ले तो राजा उस पर ६०० पण दंड करे। जो पुरुष दोषवती कन्या का दोष वर को बिना बताये ही उसे दान करे तो उसको राजा ९६ पण दंड करे। २२३-२२४।

अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयादद्वेषेण मानवः।

स शतं प्राप्नुयादण्डं तस्या दोषमदर्शयन् ॥ २२५ ॥

पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।

नाकन्यासु क्वचिनृणां लुप्तधर्मक्रिया हि ताः ॥ २२६ ॥

जो कोई द्वेष से कन्या को अकन्या (अर्थात् क्षतयोनि कहकर) मिथ्या दोष लगावे तो राजा कन्या के दोष पर कुछ विचार न कर दोष लगाने वाले पर १०० पण जुर्माना करे। विवाह के जितने मन्त्र हैं वे कन्याओं के लिये ही कहे गये हैं, अकन्या के लिए नहीं। क्योंकि उनका धर्म पहले ही लुप्त हो चुका है। २२५-२२६।

पाणिग्रहणिका मन्त्री नियतं दारलक्षणम्।

तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ॥ २२७ ॥

यस्मिन्यस्मिन्कृते कार्ये यस्येहानुशयो भवेत्।

तमनेन विधानेन धर्मे पथि निवेशयेत् ॥ २२८ ॥

विवाह के मन्त्र निश्चित रूप से पत्नीत्व के कारण हैं। उन मन्त्रों की

निष्ठ कन्या के (सप्तपदी के) सातवें पद में पंडितों को जाननी चाहिये। केवल क्रय-विक्रय में ही नहीं, दूसरे व्यवहारों में भी जिसको अपनी भूल पर पश्चाताप हो, राजा उसे इसी पूर्वोक्त नियम के अनुसार धर्म मार्ग में स्थापित करे। २२७-२२८।

पशुषु स्वामिनां चैव पालानां य व्यतिक्रमे।

विवादं संप्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः ॥ २२९ ॥

दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनी तदगृहे।

योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पाली वक्तव्यतामियात् ॥ २३० ॥

गाय आदि पशुओं के पालन करने वालों और उनके स्वामियों के बीच किसी प्रकार का व्यतिक्रम होने पर जो विवाद उपस्थित होता है, अब उसके धर्म की रीति से व्यवस्था कहते हैं। दिन में पशु को चरते समय अगर कोई उपद्रव पशु को हो जाय तो उसकी जिम्मेदारी चरवाहे पर है और शाम को मालिक के यहाँ बाँध देने पर अगर पशु को कोई बात हो जाय तो उसकी जवाबदेही मालिक के ऊपर है एव यदि दिन-रात चरवाहे के ही यहाँ रहे तो उसका उत्तरदायी वही होता है। २२९-२३०।

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद्वशतो वराम्।

गोस्वाम्यनुयते भृत्यः सा स्यात्पालेऽभृतेभृतिः ॥ २३१ ॥

नष्टं विनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।

हीनं पुरुषकारेण प्रदघात्पाल एव तु ॥ २३२ ॥

जो गोपाल दूध ही पर नौकरी करना चाहे तो प्रत्येक दस गौवों में जो अच्छी गौ हो उसका दूध वह स्वामी की आज्ञा से ले लेवें। वही उसका वेतन होगा। यदि चरवाहे से कोई पशु खो जाए, या कीड़ों के या कुत्तों के काटने से नष्ट हो जाये, या ऊँचे-नीचे स्थान में गिरकर मर जाये, या पालक की लापरवाही से कहीं बिछुड़ जाय अथवा कहीं चला जाय तो उस पशु का मूल्य चराने वाले को पशु के मालिक को देना चाहिए। २३१-२३२।

विधुष्य तु हतं चौरैर्न पाले दातुमहर्तिं।

यदि देशे च काले च स्वामिनः स्वस्य शसति ॥ २३३ ॥

कर्णो चर्म च वालांश्च बस्तिं स्यायुं च रोचनाम्।

पशुषु स्वामिनां दद्यान्मृतेष्वङ्गानि दर्शयेत् ॥ २३४ ॥

यदि चोर के पशु चरने के समय जो शोर-गुल मचाकर मालिक से खबर दे दे तो वह उस पशु का मूल्य नहीं दे सकता है। पशुओं के अपने से मर जाने पर उनके कान चमड़ा, उन्न, अस्थि स्नायु और रोचन स्वामियों को दे दे और उनका चिह्न सींग, खुर आदि भी दिखलावे। २३३-२३४।

अजाविके तु संरुद्धे वृकैः पाले त्वनायति।

यां प्रसह्य वृको हन्यात्पाले तत्किल्बिषं भवेत् ॥ २३५ ॥

तासां चेदवरुद्धानां चरन्तीनां मिथो वने।

यामुत्प्लुत्य वृको हन्यान्न पालस्तत्र किल्बिषी ॥ २३६ ॥

यदि भेड़िये भेड़, बकरी आदि पालित पशु को घेर लें और पालक उनके बचाने को न आवे, तो भेड़िया जिस भेड़-बकरी को मारे उसका दोष पशुपालक (ग्वाले) को होगा। जिन भेड़-बकरियों को जंगल में घेरकर चरवाहा चरा रहा हो, उसी समय यदि भेड़िया वृद्धकर किसी भेड़ या बकरी को मार डाले तो चरवाहे का इसमें दोष नहीं। २३५-२३६।

धनुःशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात्प्रमन्तः।

शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु ॥ २३७ ॥

तत्रापरिवृतं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि।

न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम् ॥ २३८ ॥

गाँव के चारों तरफ १०० धनुष^१ अथवा तीन बार लाठी फेंकने से जितनी दूर जा सके, उतनी ही जगह गोचर के लिए छोड़ देवे। नगर के समीप इसकी त्रिगुनी भूमि गोचर के लिए रखे। वहाँ बिना मेंड़ के खेत का बोया धान यदि पशु नष्ट करे तो इसके लिए राजा पशुपालकों को दंड न दे। २३७-२३८।

वृत्तिं तत्र प्रकुर्वीत यामुष्टो न विलोकयेत्।

छिद्रं च वारयेत्सर्वं श्वसूकरमुखानुगम् ॥ २३९ ॥

पथि क्षेत्रे परिवृते ग्रामान्तीयेऽथवा पुनः।

सपालः शतदण्डाहो विपालन्वारयेत्पशून् ॥ २४० ॥

वहाँ अर्थात् गोचर भूमि में खेत की मेंड़ इतनी ऊंची कर दे कि जिसके भीतर के धान को ऊँट न देख सके और इसमें ऐसे

१. चार हाथ का धनुष होता है।

छिद्र न रहने दे जिसमें कुत्ते और सूअर का मुंह घुस सके। रास्ते में या गाँव के समीप, पेड़ से घिरे हुए खेत में चरवाहे के साथ रहते हुए भी धान को नष्ट करे तो राजा उस पशुपालक पर १०० पण दंड करे। यदि चरवाहा साथ में न हो तो खेत में आने से रोक दे। २३९-२४०।

क्षेत्रेष्वन्येषु तु पशुः सपादं पणमर्हति।

सर्वत्र तु सदो देयः क्षेत्रिकस्येति धारणा ॥ २४१ ॥

अनिर्दशाहां गा सूतां वृषान्देवपशूंस्तथा।

सपालान्वा विपालान्वा न दण्ड्यान्मनुरब्रवीत् ॥ २४२ ॥

इसके अतिरिक्त दूसरे खेतों को पशु नष्ट करे तो पशु के स्वामी को सवा पण दंड देना चाहिये। यदि पशु सारा खेत नष्ट कर दे तो नुकसान की पूरी रकम पशु के स्वामी को देनी पड़ेगी। यही न्याय है। दस दिन के भीतर ब्यायी गौ, वृषभ (सांड) और देवताओं के निमित्त रखे हुए पशु ये पालक सहित हों या पालकरहित, खेत चरने पर दंड के योग्य नहीं हैं ऐसा मनुजी कहते हैं। २४१-२४२।

क्षेत्रियस्यात्यये दण्डो भागाद्दशगुणो भवेत्।

ततोऽर्धदण्डो भृत्यानामज्ञानात्क्षेत्रिकस्य तु ॥ २४३ ॥

एतद्वीधानमातिष्ठेद्धार्मिकः पृथिवीपतिः।

स्वामिनां च पशूनां च पालानां च व्यतिक्रमे ॥ २४४ ॥

यदि कृषक की लापरवाही से फसल मारी जाए तो उसमें जितना राजा का भाग मिलता हो, उसका दस गुना वह किसान से ले। किसान के न जानते हुए नौकरों के दोष से खेत में उपज न हो तो किसान से पाँच गुना दंड ले। स्वामी, पशु और पालकों के दोष में धार्मिक राजा को ऊपर कहे नियमों का पालन करना चाहिये। २४३-२४४।

सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः।

ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमां सुप्रकाशेषु सेतुषु ॥ २४५ ॥

सीमावृक्षांश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्वत्थकिंशुकान्।

शात्मलीन्सालतालांश्च क्षीरिणश्चैव पादपान् ॥ २४६ ॥

दो गाँव के बीच में सीमा का झगड़ा होने पर, ज्येष्ठ मास में जब कि सीमा का चिन्ह स्पष्ट दिखाई पड़े, उस समय उसका निर्णय करे। वट, पीपल, सेमर, ससुवा, ताल तथा दूध वाले वृक्ष सीमा, के चिन्ह के लिए सीमा पर लगाने चाहिए। २४५-२४६।

गुल्मान्वेणूश्च विविधाञ्छमीवल्लीस्थलानि च।

शरान्कुब्जकगुल्मांश्च तथा सीमा न नश्यति॥ २४७॥

तडागान्युदपानानि वाप्यः प्रस्त्रवणानि च।

सीमासंधिषु कार्याणि देवतायतनानि च॥ २४८॥

सीमा पर गूलर पेड़, बाँस, विविध भाँति के शमीवृक्ष, लताएं, ऊँचे टीले, सरपत और टेढ़े वृक्ष रहें हो सीमा नष्ट होती है। सीमा के संधि स्थान में पोखरा, कुएं, बावड़ी, नहर और देवताओं के मन्दिर बनवाने चाहिए। २४७-२४८।

उपच्छिन्नानि चान्यानि सीमालिंगानि कारयेत्।

सीमाज्ञाने नृणां वीक्ष्य नित्यं लोके विपर्ययम्॥ २४९॥

अश्मनोऽस्थीनि गोवालांस्तुषान्भस्म कपालिका।

करीषमिष्टकांगारांश्छर्करा बालुकस्तथा॥ २५०॥

संसार में लोगों को सीमा के ज्ञान में नित्य भूलते देखकर राजा को चाहिए कि और भी सीमा के अनेक गुप्त चिन्ह करा दे। पत्थर, हड्डि, चामर, भूसी, राख, खोपड़ी, सूखे कंडे, ईंट, कोयले, कंकड़ और बालू। २४९-२५०।

यानि चैवं प्रकाराणि कालाद्भूमिं भक्षयेत्।

तानि संधिषु सीमायामप्रकाशानि कारयेत्॥ २५१॥

एतैर्लिङ्गैर्नयेत्सीमां राजा विवदमानयोः।

पूर्वभुक्तया च सततमुदकस्यागमेन च॥ २५२॥

ऐसे ही अन्य पदार्थ भी जिन्हें पृथ्वी अपने रूप में न मिला सके उन्हें सीमा के संधि स्थान में गुप्त रीति से गड़वा दे। परस्पर गाँव की सीमा के विषय में झगड़ते हुए लोगों को राजा इन उपयुक्त चिन्हों से तथा पहले का दखल, कब्जा और जल के प्रवाह को देखकर सीमा का निश्चय करे। २५१-२५२।

यदि संशय एव स्याल्लिंगानामपि दर्शने।

साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः ॥ २५३ ॥

ग्रामीयककुलानां च समक्षं सीम्नि साक्षिणः।

प्रष्टव्या सीमलिंगानि तयोश्चैव विवादिनोः ॥ २५४ ॥

यदि सीमा के चिन्हों को देखकर भी सन्देह रहे तो गवाह लोगों से प्रमाण लेकर सीमा के विवाद का निपटारा करे। ग्रामवासियों के सामने राजा साक्षियों से उन दोनों झगड़ते हुए लोगों से ग्राम सीमा के चिन्ह पूछे। २५३-२५४।

ते पृष्ठास्तु यथा ब्रूयुः समस्ता सीम्नि निश्चयम्।

निबध्नीयात्तथा सीमां सर्वास्तांश्चैव नामतः ॥ २५५ ॥

शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वोऽङ्गिणो रक्तवाससः।

सुकृतैः शापताः स्वैः स्वैः स्वैर्नयेस्ते समञ्जसम् ॥ २५६ ॥

पूछे जाने पर साक्षी लोक जिस तरह जो सीमा के निश्चय बतावें राजा उसी तरह सीमा के चित्र और उन साक्षियों के नाम स्मरणार्थ एक पत्र लिख ले। वे साक्षी लाल वस्त्र पहन, गले में माला धारण कर, सिर पर मिट्टी रख, अपने-अपने पुण्यों की शपथ करके गवाही दें और राजा उसी के अनुसार सीमा का निर्णय करे। २५५-२५६।

यथोक्तेन नयन्तस्ते पूयन्ते सत्यसाक्षिणः।

विपरीतं नयन्तस्तु दाप्याः स्युद्विशतं दमम् ॥ २५७ ॥

साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः।

सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयतां राजसंनिधौ ॥ २५८ ॥

वे साक्षी सत्य-सत्य सीमा बतलाने पर निर्दोष होते हैं। परन्तु सीमा के विषय में झूठी गवाही देने वाले पर राजा दो सौ पण दंड करे। साक्षियों के अभाव में समीपवर्ती चार गावों के प्रधान लोग राजा के सामने आकर सीमा का निर्णय करें। २५७-२५८।

सामन्तानामभावे तु मौलानां सीम्नि साक्षिणाम्।

इमानप्यनुयुञ्जीत पुरुषान्वनगोचरान् ॥ २५९ ॥

व्याधाञ्छाकुनिकान्गोपान्कैवर्तान्मूलखानकान् ।

व्यालग्राहानुञ्छवृत्तान्नयांश्च वनचारिणः ॥ २६० ॥

सामन्तों का अभाव हो तो राजा आगे कहे हुए वचन में घूमने वाले पुरुषों से, जो सीमा का कुछ ज्ञान रखते हों पूछे। व्याध, बहेलिये, ग्वाले, मल्लाह, जड़ी-बूटी खोजने वाले, सपैरे, गिरे हुए दाने चुनकर गुजर करने वाले और जंगल में रहने वाले, इनसे सीमा के विषय में पूछे। २५९-१६०।

ते पृष्टास्तु यथा ब्रूयुः सीमासंधिषु लक्षणम्।

तत्तथा स्थापयेद्राजा धर्मेण ग्रामयोर्द्वयोः ॥ २६१ ॥

क्षेत्रकूपतडागानामारामस्य गृहस्य च।

सामन्तप्रत्ययो ज्ञेयः सीमासेतुविनिर्णयः ॥ २६२ ॥

पूछे जाने पर लोग सीमा के विषय में जो चिन्ह बतावें, उसी के अनुसार राजा धर्म पूर्वक दोनों गाँवों की सीमा निर्दिष्ट करे। खेत, कुआँ, तालाब, मकान इन सबकी सीमा का विवाद हो तो राजा उस गाँव के रहने वाले गवाहों से पूछकर सीमा का निश्चय करे। २६१-२६२।

सामन्ताश्चैन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्।

सर्वे पृथक्पृथक् दण्डया राज्ञा मध्यमसाहसम् ॥ २६३ ॥

गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।

शतानि पंच दण्डयः स्यादज्ञानाद्विशतो दमः ॥ २६४ ॥

सीमा के लिए झगड़ते हुए पुरुषों के सामन्त गवाह झूठ बोलें तो राजा हर एक को अलग-अलग मध्यम साहस दंड करे। यदि कोई भय दिखाकर दूसरे का घर, पोखरा, बाग और खेत ले ले तो राजा उस पर पाँच सौ पण दंड करे और जाने बिना ले तो दो सौ पण दंड करे। २६३-२६४।

सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।

प्रदिशेत्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः ॥ २६५ ॥

एषोऽखिलेनाभिहितो धर्मः सीमाविनिर्णये।

अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वाक्यारुष्यविनिर्णयम् ॥ २६६ ॥

साक्षी और चिन्हों के अभाव में स्वयं धर्मज्ञ राजा ही दो गाँवों के बीच की वह झगड़ालू भूमि उन दोनों को दे दे जिन्हें देने से उपकार हो, यही शास्त्र की स्थिति है। सीमा के निर्णय में यह सम्पूर्ण धर्म तुमसे कहा, इसके अनन्तर अब कठोर भाषण के दंड का विधान कहते हैं। २६५-२६६।

शतं ब्राह्मणमांकुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।

वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥ २६७ ॥

पञ्चादशब्राह्मणो दण्डयः क्षत्रियस्याभिशंसने।

वैश्ये स्यादर्धपञ्चाशच्छूद्रे द्वादशको दमः ॥ २६८ ॥

ब्राह्मण को (चोर-चाण्डाल इत्यादि) कुट्ट वचन कहने वाले क्षत्रिय को एक सौ पण, वैश्य को १५० या २०० पण दंड करे, शूद्र को प्राण दंड देना चाहिए। ब्राह्मण क्षत्रिय को कठोर बात कहे तो ५० पण, वैश्य को कहे तो २५ पण और शूद्र को कहे तो १२ पण देना चाहिये। २६७-२६८।

समवर्णं द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।

वादेष्ववचनीयेषु तदैव द्विगुणं भवेत् ॥ २६९ ॥

एकजातिर्द्विजातींस्तु वाचा वारुणया क्षिपन्।

जिह्वायाः प्राप्नुयाच्छेदं जघन्यप्रभवो हि सः ॥ २७० ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्गों की सजातियों में यदि परस्पर एक दूसरे को कुट्ट शब्द कहें तो १२ पण, और अवाच्य वचन बोलें तो पूर्वोक्त दंड का दुगुना कर देना चाहिये। शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को पापी आदि क्रूर वचन कहे तो उसे जिह्वाछेदन का दंड देना चाहिये क्योंकि उसकी उत्पत्ति जघन्य स्थान से है। २६९-२७०।

नानजातिग्रहं त्वेषामभिद्रोहेण कुर्वतः।

निक्षेप्योऽमोमय शंकुर्ज्वलनास्ये दशांगुलः ॥ २७१ ॥

धर्मोपदेशं दर्पेण विप्राणामस्य कुर्वतः।

तप्तमासेचयेत्तैलं वक्त्रे श्रोत्रे च पार्थिवः ॥ २७२ ॥

यदि शूद्र द्रोह से ब्राह्मण आदि द्विजातियों का नाम और जाति दम्भ पूर्वक पूरी बात कहे तो जलती हुई दश अंगुल की लोहशलाका उसके मुँह में डाल देनी चाहिये। यदि शूद्र अहंकार वश किसी ब्राह्मण को धर्म का उपदेश करे तो राजा उसके मुँह और कान में खौलता हुआ तेल डलवा दे। २७१-२७२।

श्रुतं देशं च जातिं च कर्म शारीरमेव च।

वितथेन ब्रुवन्दर्पाद्वाप्यः स्याद्द्विशतं दमम् ॥ २७३ ॥

काणं वाप्यथवा खञ्जमन्यं वापि तथाविधम् ।

तथ्येरापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम् ॥ २७४ ॥

यदि कोई किसी को अहंकार से यह दोष दे कि तुम इस देश में उत्पन्न नहीं हो तुम्हारे यज्ञोपवीतादि संस्कार नहीं हुए हैं तो कहने वाले को दो सौ कार्षापण दंड देना चाहिए। जो वास्तव में काना या लंगड़ा या लूला है। उसे सत्य ही कोई वैसे ही कहे तो भी चिढ़ाने वाले को कम से कम एक कार्षापण दंड देना होगा। २७३-२७४।

मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम् ।

आक्षारयच्छतं दाप्यः पन्थानं चाददगुरोः ॥ २७५ ॥

ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां तु दण्डः कार्यो विजानता ।

ब्राह्मणे साहसः पूर्वः क्षत्रिये त्वेव मध्यमः ॥ २७६ ॥

जो माता, पिता, पत्नी, भाई, बेटे और गुरु को पातक लगाकर निंदा करे या गुरु को आते देख मार्ग से न हटे उसे एक सौ पण दंड देना चाहिये। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय आपस में पापी आदि कहकर गाली दें तो नीतिज्ञ राजा ब्राह्मण को प्रथम साहस और क्षत्रिय को मध्यम साहस दंड करे। २७५-२७६।

विदूशूद्रयोरेवमेव स्वजातिं प्रति तत्त्वतः ।

छेदवर्जं प्रणयनं दण्डस्येति विनिश्चयः ॥ २७७ ॥

एष दण्डविधिः प्रोक्तो वाक्पारुष्यस्य तत्त्वतः ।

अतः ऊर्ध्वप्रवक्ष्यामि दण्डपारुष्यनिर्णयम् ॥ २७८ ॥

वैश्य और शूद्र भी इस प्रकार आपस में गाली दें तो पूर्वोक्त दंड की व्यवस्था करे (अर्थात् वैश्य शूद्र को गाली दे तो उसे प्रथम साहस और शूद्र वैश्य को गाली दे तो उसे मध्यम साहस दंड करे) ऐसे अवसर पर शूद्र की जीभ न काटना यही दंड का निश्चय है। यह कठोर वचन कहने की दंड-विधि तत्त्वतः कही गई है। अब इसके बाद ताड़न आदि दंडपारुष्य का विधान कहते हैं। २७७-२७८।

येन केनचिदंगेन हिंस्याच्चेच्छेपेमन्यजः ।

छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ॥ २७९ ॥

पाणिमुद्यम्य दण्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति।

पादेन प्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ २८० ॥

अन्त्यज अपने जिस अंग से द्विज को मारे उसका वही अंग काटना चाहिये, यह मनुजी की आज्ञा है यदि द्विज को मारने के लिए हाथ उठाया हो या लठ ताना हो तो उसका हाथ काट लेना चाहिये और क्रोध से ब्राह्मण को लात मारे तो उसका पैर काट डालना चाहिये। २७९-२८०।

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टजः ।

कटयां कृतांको निर्वास्यः स्फिर्चं वास्यावकर्तयेत् ॥ २८१ ॥

अवनिष्ठीवती दर्पादद्वावोष्ठौ छेदयेन्पुः ।

अवमूत्रयतो मेढमवशार्धयतो गुदम् ॥ २८२ ॥

जो नीच वर्ग ब्राह्मणादि वर्ण के साथ आसन पर बैठना चाहे तो राजा उसकी कमर में चिन्ह करके देश से निकाल दे अथवा उसके चूतड़ का माँस कतरवा ले। राजा, ब्राह्मण के ऊपर गर्व से थूकने वाले शूद्र के दोनों होंठ, पेशाब करने वाले का लिंग और अधोवायु करने वाले का मलद्वार कटवा दे। २८१-२८२।

केशेषु गृह्णतो हस्तौ छेदयेदविचारयन्।

पादयोर्दाढिकायां च ग्रीवायां वृषणेषुचः ॥ २८३ ॥

त्वग्भेदकः शतं दण्डयो लोहितस्य च दर्शकः ।

मांस भेत्ता तु पणिष्कान्प्रवास्यस्त्वस्थिभेदकः ॥ २८४ ॥

जो शूद्र अविचार से ब्राह्मण का केश पैर दाढ़ी, गर्दन या अंडकोश पकड़े तो राजा बिना विचार किए ही उसके दोनों हाथ कटवा ले। जो अपने स्वजातीय का चूतड़ा छील डाले या लहू निकाल दे तो उसे १०० पण दंड देना चाहिए। मांसच्छेदन करने वाले को ६ निष्क दंड दे और हड्डी तोड़ने वाले को देश निकाला दे। २८३-२८४।

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा ।

तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ २८५ ॥

मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहते सति ।

यथायथा महददुःखं दण्डं कुर्यात्थातथा ॥ २८६ ॥

वृक्षों के फल-फूल और पत्तों का जैसा उपयोग हो, उसे नष्ट करने वाले को उसी के अनुसार दंड देना चाहिए। मनुष्य और पशुओं को दुःख देने के लिए प्रहार करने पर उन्हें जितना कष्ट हो, प्रहारकर्ता को उतना ही अधिक दंड करे। २८५-२८६।

अङ्गावपीडनायां च व्रणशोणितयोस्तथा।

समुत्थानव्ययं दाप्यः सर्वदण्डमथापि वा ॥ २८७ ॥

द्रव्याणि हिंस्याद्यो यस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोऽपि वा।

सः तस्योत्पादयेत्तुष्टिं राज्ञे दद्याच्च तत्समम् ॥ २८८ ॥

अंगों में अधिक चोट लगाने या रथिर बहने के कारण अधिक पीड़ा होने पर राजा उसके औषधि और पथ्य आदि का कुल खर्च मारने वाले से दिलावे, न देने पर उसे पूरा दंड दे। जो कोई किसी के द्रव्य आदि को जानकर या भूल से नष्ट कर दे तो वह उसको (जितना धन नष्ट हुआ है) उसके बदले में दूसरी वस्तु देकर संतुष्ट करे या वस्तु के मूल्य के बराबर राजा उसको भी दंड दे। २८७-२८८।

चर्मचार्मिकभाण्डेषु काष्ठलोष्ठमयेषु चः।

मूल्यात्पञ्चगुणां दण्डः पुष्पमूलफलेषु चः ॥ २८९ ॥

यानस्य चैव यातुश्च यानस्वामिन एव चः।

दशातिवतं नान्याहुः शेषे दण्डो विधीयते ॥ २९० ॥

चमड़े, चमड़े के पात्र, लकड़ी और मिट्टी के बर्तन नष्ट करने पर उनके मूल्य का पाँच गुना राजा नष्ट करने वाले को दंड दे। रथ, सारथी और रथस्वामी के उपर्युक्त दस अपराधों को छोड़ और अपराधों में दंड का विधान किया गया है। २८९-२९०।

छिन्ननास्ये भग्नयुगे तिर्यक्प्रतिमुखागते।

अक्षभंगे च यानस्य चक्रभंगे तथैव च ॥ २९१ ॥

छेदने चैव यन्त्राणां योक्त्ररश्मयोस्तथैव च।

आक्रन्दे चाप्यपैहीति च दण्डं मनुब्रवीत् ॥ २९२ ॥

बैल की नाथ कट जाने, जूआ टूटने, गाड़ी अपने पथ से बाहर होने, धुरी या पहिया टूट जाने, चमड़े का बन्धन, सवारी के गले की रस्सी और

रस के टूटने पर सारथि यदि चिल्लाकर लोगों को हट जाने के लिए सावधान कर दे तो दुर्घटना होने पर सारथी दंड भागी नहीं हो सकता। २९१-२९२।

यत्रापवर्तते युग्मं वगुण्यात्प्राजकस्य तु।

सत्र स्वामी भवेद्दण्डयो हिंसायां द्विशतं दमम् ॥ २९३ ॥

प्राजकश्चेद्भवेदाप्तः प्राजको दण्डमर्हति।

युग्यस्था प्राजकेऽनाप्ते सर्वे दण्डयाः शतं शतमम् ॥ २९४ ॥

जहाँ गाड़ी हाँकने वाले के दोष से गाड़ी रास्ते से अलग हो जावे और कोई दुर्घटना हो जाय वहाँ उसके स्वामी को १०० पण दंड देना चाहिए। यदि गाड़ी हाँकने वाला होशियार हो तो दुर्घटना होने पर उसी को १०० पण देना होगा। सारथी अयोग्य होने से कोई अनिष्ट घटना हो तो गाड़ी में सवार सब लोगों को १००-२०० पण दंड देना होगा। २९३-२९४।

सचेत्तु पथि संरुद्धः पशुभिर्वा रथेन वा।

प्रमापयेत्प्राणभृतस्तत्र दण्डोऽविचारितः ॥ २९५ ॥

मनुष्यमारणे क्षिप्तं चोरवत्किल्बिषं भवेत्।

प्राणभृत्सु महत्स्वर्थं गोगजोष्ट्रहयादिषु ॥ २९६ ॥

यदि गौ आदि पशुओं से या दूसरे रथ से रास्ता रुद्ध हो और सारथि अपने रथ को न रोके और उससे किसी की हिंसा हो जाय तो बिना विचार किए ही उसे दंड देना चाहिए। यदि गाड़ी हाँकने वाले की असावधानी से कोई मनुष्य दबकर मर जाय तो गाड़ीवान को चोर का पाप लगता है। गाय, बैल, हाथी, ऊंट और घोड़ा आदि बड़े पशुओं के मरने पर उसका आधा पाप होता है। २९५-२९६।

क्षत्रकाणां पशूनां तु हिंसायां द्विशतो दमः।

पञ्चाशत् भवेद्दण्ड शुभेषु मृगपक्षिषु ॥ २९७ ॥

गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाधिकः।

माधिकस्य भवेद्दण्डः श्वसूकरनिपातने ॥ २९८ ॥

छोटे पशुओं की हिंसा होने पर दो सौ पण और श्रेष्ठ हिरन तथा सुग्गा गैना आदि पक्षियों के मारने पर ५० पण दंड देना चाहिए। गधे, खकरो, भेड़ आदि के मारने पर पौन मासे भर चौदी और श्वान, सूकर के मारने पर एक

मासा चौदी दंड देना होगा। २९७-२९८।

भार्या पुत्रश्च प्रेष्ठो भ्राता च सोदरः।

प्राप्तापराधास्ताडयाःस्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ २९९ ॥

पृष्ठस्तु शरीरस्य नोत्तमाङ्गे कथंचन।

अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकित्विषम् ॥ ३०० ॥

स्त्री, पुत्र, नौकर, दूत और सगे भाई, ये लोग यदि कोई अपराध करें तो रस्सी या बाँस की पतली छड़ी से ताड़ना देना चाहिए। पीठ पर प्रहार करे। नियम विरुद्ध प्रहार करने वाला चोर के अपराध का दंड पाता है। २९९-३००।

एषोऽखिलेनाभिहितो दण्डपारुष्यनिर्णयः।

स्तेनस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं दण्डविनिर्णये ॥ ३०१ ॥

परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः।

स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते ॥ ३०२ ॥

यह कठोर दंड का सम्पूर्ण विधान कहा। अब चोर की दंड विधि कहते हैं। चोरों को दंड देने में राजा को बड़ा प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि चोरों का निग्रह करने से राजा का यश और राज्य बढ़ता है। ३०१-३०२।

अभयस्य हि तो दाता स पूज्यः सततं नृपः।

सत्रं हि वर्धते तस्य सदैवाभयदक्षिणम् ॥ ३०३ ॥

सर्वतो धर्मणद्भागो राज्ञो भवति रक्षतः।

अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ ३०४ ॥

जो राजा अपनी प्रजा को अभयदान देता है, वह सदा पूज्य होता है। क्योंकि उसका यह अभय दक्षिणा वाला यश सदा बढ़ता है। प्रजा के जान-माल और धर्म की रक्षा करने वाले राजा को प्रजा के धर्म का छठा भाग प्राप्त होता है। वैसे ही रक्षा न करने पर उसे प्रजाओं के अधर्म का छठा भाग प्राप्त होता है। ३०३-३०४।

यदधीते यद्वजते यददाति यदर्चति।

तस्य षड्भागभाग्राजा स य भवति रक्षणात् ॥ ३०५ ॥

रक्षन्धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन्।

यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रज्ञतदक्षिणैः ॥ ३०६ ॥

जो राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा का पालन करता है वह उनके पढ़ने, यज्ञ करने, दान देने और देवताओं के पूजने के धर्म का छठा भाग पाता है। धर्म से प्राणियों की रक्षा करके और दंडनीय दुष्टों को दंड देकर राजा नित्य एक लाख दक्षिणा वाले यज्ञ का फल पाता है। ३०५-३०६।

योऽरक्षन्बलिमादत्ते करं शुल्कं च पार्थिवः।

प्रतिभागं च दण्डं च स सद्यो नरकं व्रजेत् ॥ ३०७ ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम्।

तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रमलहारकम् ॥ ३०८ ॥

जो राजा प्रजा की रक्षा न करके उसे खेती का छठा भाग कर, शुल्क और चुंगी आदि लेता है। वह शीघ्र नरकगामी होता है। प्रजा की रक्षा करने वाले और उनसे बराबर कर लेने वाले राजा को महर्षिगण सब लोकों में सम्पूर्ण पापों का भागी कहते हैं। ३०७-३०८।

अनपेक्षितमर्यादं नास्तिकं विप्रलुम्पकम्।

अरक्षितारमत्तारं नृपं विद्यादधोगतिम् ॥ ३०९ ॥

अधार्मिकं त्रिभिर्न्यानिर्गृहीयात्प्रयत्नतः।

निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधेन चः ॥ ३१० ॥

निर्दिष्ट मर्यादा को न मानने वाला, नास्तिक, वृथा दंडादि देकर धन लेने वाला, रक्षा न करके, प्रजाओं का अंश खाने वाला, राजा अधोगति को प्राप्त होता है। राजा तीन उपायों से अधर्मियों का निग्रह करे। कारागार में बन्द करके बेड़ी हथकड़ी डालकर या विविध प्रकार का दंड देकर। ३०९-३१०।

निग्रहेण हि पापानां साधूनां संग्रहेण च।

द्विजातय इवेज्याभिः पूयन्ते सततं नृपाः ॥ ३११ ॥

क्षन्तव्यं प्रभुणा नित्यं क्षिपतां कार्यिणां नृणाम्।

बालवृद्धातुराणां च कुर्वता हितमात्मनः ॥ ३१२ ॥

जैसे द्विज यज्ञों को करने से पवित्र होते हैं वैसे राजा पापियों को दंड देने और साधुओं की रक्षा करने से सदा पवित्र होते हैं। अपनी भलाई चाहने वाला राजा कार्यार्थी, बालक, वृद्ध और रोगी इनके द्वारा होने वाली निन्दा को क्षमा करता जाय। ३११-३१२।

यः क्षिप्तो मर्षयत्यातैस्तेन स्वर्गे महीयते ।

यस्त्वैश्वर्यान्न क्षमते नरकं तेन गच्छति ॥ ३१३ ॥

स्कन्धेनादाय मुसलं लगुडं वापि खादिरम् ।

शक्तिं चोभयतस्यीक्ष्णामायसं दंडमेव वा ॥ ३१४ ॥

आर्त मनुष्यों के किए आक्षेप को जो राजा सहता है वह स्वर्ग में पूजित होता है और जो ऐश्वर्य के घमंड में फूलकर नहीं सहता है वह नरक में जाता है। राजा के पास जाकर कहे कि मैंने चोरी की है, मुझे उचित दंड दीजिए। ३१३-३१४।

राजा स्तेनेन गन्तव्यो शुक्तकेशेन धावता ।

आचक्ष्णोतेन तस्तेयमेवंकर्मास्मि शाधि माम् ॥ ३१५ ॥

शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद्विमुच्यते ।

अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्यालोति कित्त्विषम् ॥ ३१६ ॥

चोर की चोटी खोलकर, कंधे पर मूसल या खैर की लाठी या दोनों ओर तीखी नोंक वाली बरछी या लोहे का डंडा रखकर दौड़ता हुआ, राजा से दंडित होने या मुक्त होने पर चोर चोरी के पाप से मुक्त होता है। यदि राजा चोर को दंड न करे तो चोर का पाप उसके सिर पर चढ़ता है। ३१५-३१६।

अन्नादे भूणहा माष्टिपत्यो भार्यापचारिणी ।

गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च स्तेनो राजनि कित्त्विषम् ॥ ३१७ ॥

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।

निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ ३१८ ॥

गर्भपात करने वाले का पाप उसका अन्न खाने वाले को, व्यभिचारिणी स्त्री का पाप उसके पति को, शिष्य का पाप उसके गुरु को, यजमान का पाप पुरोहित को और चोर का पाप राजा को लगता है। पापी मनुष्य राजा के दंड पाने पर साधु-धर्मात्माओं की तरह पवित्र होकर स्वर्ग में जाते हैं। ३१७-३१८।

यस्तु रज्जुं घटं कृपाद्धरेदिभद्याच्च यः प्रपाम् ।

स दंडं प्राप्नुयान्माषं तच्च तस्मिन्समाहरेत् ॥ ३१९ ॥

धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽध्याधिकं वधः ।

शेषेऽप्येकादश गुणं दाप्यस्तस्य च तद्धनम् ॥ ३२० ॥

जो कुएं पर की रस्सी या रहियों के पानी पीने का पात्र या घड़ा चुराता है या प्याऊ को नष्ट करता है, राजा उसे एक मासा सोना दंड करे और जो वस्तु चुराकर ले जाय वह या उसके बदले में वैसी ही दूसरी वस्तु वहाँ रख दे। दश कुम्भ^१ धान्य से अधिक चुराने पर चुराने वाले को प्राण वध का दंड देना चाहिए और इससे कम चुराने पर जितना चुरावे उसका ग्यारह गुना राजा को दंड दे और धान वाले को धान वापस कर दे। ३१९-३२०।

तथा धरिममेयानां शतादभ्यधिके वधः।

सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां न वाससाम् ॥ ३२१ ॥

पञ्चाशतस्त्वभ्यधिके हस्तच्छेदनमिष्यते।

शेषे त्वेकादशगुणं मूल्यादण्डं प्रकल्पयेत् ॥ ३२२ ॥

ठीक तोल न करने वाले को, सोना-चाँदी आदि और उत्तम वस्त्र को १०० से अधिक चुराने पर राजा चोर को प्राण दंड तक दे सकता है। गिनती में १ से ५० तक चुराने पर मूल्य का ग्यारह गुणा दंड करे और ५० से १०० तक अपहरण करने पर राजा उसे हाथ काट लेने का दंड दे। ३२१-३२२।

पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।

मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति ॥ ३२३ ॥

महापशूनां हरणे शस्त्राणामौषधस्य च।

कालमासाद्य कार्यं च दण्डं राजा प्रकल्पयेत् ॥ ३२४ ॥

कुलीन पुरुषों को विशेषकर कुलीन स्त्रियों को और बहुमूल्य रत्नों को चुराने वाले को प्राणदण्ड देना चाहिए। श्रेष्ठ पशु (हाथी घोड़ा आदि) शस्त्र और दवाई इनको चुराने पर समय और कार्य को देखकर राजा दंड की व्यवस्था करे। ३२३-३२४।

गोषु ब्राह्मणसंस्थासु छूरिकायाश्च भेदने।

पशूना हरणे चैव सद्यः कार्योर्धपादिकः ॥ ३२५ ॥

ब्राह्मणों की गौओं को चुराने, वन्या गाय के नाथने और पशुओं के चुराने पर राजा चोर का तुरन्त हाथ कटवा डाले।

१. दो पल का एक द्रोण और बीस द्रोण का एक कुम्भ (घड़ा) होता है।

सूत्रकार्पासकिंवानां गोमयस्य गुडस्य च ।
 दध्नः क्षीरस्य तक्रस्य पानीयस्य तृणस्य च ॥ ३२६ ॥
 वेणुवैदलभांडानां लवणानां तथैव च ।
 मृन्मयानां च हरणे मृदो भस्मन एव च ॥ ३२७ ॥
 मत्स्यानां पक्षिणां चैव तैलस्य च घृतस्य च ।
 मांसस्य मधुनश्चैव यच्चान्यत्पशुसंभवम् ॥ ३२८ ॥
 अन्येषां चैवमादीनां मद्यानामोदनस्य च ।
 पक्वान्नानां च सर्वेषां तन्मूल्यादद्विगुणो दमः ॥ ३२९ ॥
 पुष्पेषु हरिते धान्ये गुल्मवल्लीनगेषु च ।
 अन्येष्वपरिपूतेषु दंड स्यात्पञ्चकृष्णलः ॥ ३३० ॥

सूत, कपास, शरब बनाने की द्रव्य सामग्री, गोबर, गुड़, दही, दूध, छाछ, पानी, तृण, बाँस की टोकरी आदि, नमक, मिट्टी के बर्तन, मिट्टी राख, मछली, चिड़िया, तेल, घी, मांस, मधु (शहद), पशु के चमड़े सींग आदि मद्य, भात, पक्वान्न और ऐसी ही अन्य साधारण वस्तुओं को चुगने पर उनके मूल्य का दुगुना दंड करना चाहिए। फूल, खेत के हरे धान, गुल्म, लता, पेड़ और पुरुष के ढोने योग्य अन्य वस्तु चुगने पर पाँच कृष्णल दंड करना चाहिए। ३२६-३३०।

परिपूतेषु धान्येषु साकमूलफलेषु च ।
 निरन्वये शतं दंडः शान्वयेऽर्धशतं दमः ॥ ३३१ ॥
 स्यात्साहसं त्वन्वयवतप्रसभं कर्म यत्कृतम् ।
 निरन्वयं भवेत्स्तेयं हत्वापव्ययते च यत् ॥ ३३२ ॥

परिपूत धान्य, साग, मूल और फल का चुगने वाला यदि अपने वंश का न हो तो एक सौ पण और सम्बन्धी हो तो उससे ५० पण दंड लेना चाहिए। स्वामी के समक्ष बलपूर्वक कोई चीज लेने को साहस कहते हैं और स्वामी के परेक्ष में कोई चीज लेने या लेकर छिपा रखने को चोरी कहते हैं। ३३१-३३२।

यस्त्वेतान्युपकृतृप्तानि द्रव्याणि स्तेष्येन्तरः ।
 तमाद्यं दंडयेद्राजा यश्चाग्निं चोरयेद्गृहात् ॥ ३३३ ॥
 येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
 तत्तदेव हरेतस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ ३३४ ॥

जो मनुष्य किसी के व्यवहारोपयोगी सूत्र आदि वस्तु अपने काम के लिए चुरावे या घर से हवन करने की आग को चुराकर ले जाय तो राजा उसे प्रथम श्रेणी का दंड करे। जिस-जिस अंग से जैसे-जैसे चोर दूसरे की वस्तु चुराने की चेष्टा करे, राजा उसके उस-उस अंग को कटवा डाले जिससे कि वह फिर चोरी न कर सके। ३३३-३३४।

पिताचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुत्रः पुरोहितः।

नादंड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ ३३५ ॥

कार्षापणं भवेदंड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।

तत्र राजा भवेदंड्यः सहस्रमिति धारणाः ॥ ३३६ ॥

माँ, बाप, आचार्य, स्त्री, पुत्र, मित्र और पुरोहित ये लोग यदि अपने धर्म में न रहें तो राजा उन्हें भी दंड दिये बिना न छोड़े। जिस अपराध में साधारण मनुष्य को एक कार्षापण दंड होता है, उस अपराध में राजा को एक हजार पण दंड होना चाहिए, यह शास्त्र का सिद्धान्त है। ३३५-३३६।

अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति कित्विषम्।

षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥ ३३७ ॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापिशतं भवेत्।

द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ३३८ ॥

चोरी के गुण दोष को जानने वाला शूद्र चोरी करे तो उसे चोरी के माल का आठगुना, वैश्य को सोलह गुना, क्षत्रिय को बत्तीस गुना और ब्राह्मण को चौसठ गुना, या सौ गुना या एक सौ अट्ठाइस गुना दंड देना चाहिए। ३३७-३३८।

वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च।

तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ॥ ३३९ ॥

योऽदत्तादायिनो हस्ताल्लित्सेत ब्राह्मणो धनम्।

याजनाध्यापनेनापि यथा स्तेनस्तथैव सः ॥ ३४० ॥

वन के फल-मूल, होम के लिए सूखी लकड़ी और गौओं के खिलाने के लिए तृण चुराना चोरी नहीं है, यह मनुजी ने कहा है। जो ब्राह्मण यज्ञ

कराकर या पढ़ाकर भी चोर के हाथ से धन लेने की इच्छा करे तो वह भी चोर के बराबर है। ३३९-३४०।

द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्दाविक्ष द्वे च मूलके।

आददानः परक्षेत्रात्र दंडं दातुमर्हति ॥ ३४१ ॥

असंदितानां संदाता संदितानां च मोक्षकः।

दासाश्वरथहर्ता च प्राप्तः स्याच्चोरकिल्बिषम् ॥ ३४२ ॥

राह चलते हुए ब्राह्मण के पास यदि खाने को न हो और वह किसी के खेत से दो ईख या दो मूली ले ले तो इसके लिए वह दंड नहीं पा सकता। जो दूसरे के पाले हुए घोड़े आदि पशुओं को बाँध ले और बंधे हुए पशुओं को खोल दे या दूसरे के नौकर, घोड़े और रथ को हरण कर ले तो उसे चोर के समान दंड देवे। ३४१-३४२।

अनेन विधिना राजा कुर्वाण स्तेननिग्रहम्।

यशोऽस्मिन्प्राप्तुयाल्लोके प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ॥ ३४३ ॥

ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सूर्यशश्चाक्षयमव्ययम्।

नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ३४४ ॥

जो राजा इस प्रकार चोरों को दंड देता है, वह इस लोक में यश और परलोक में परम सुख पाता है। जो राजा इन्द्र पद पाने का अभिलाषी हो और सदा के लिए अचल विमल यश पाना चाहे, वह क्षण भर भी साहसी मनुष्य को दंड देने में उपेक्षा न करे। ३४३-३४४।

वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः।

साहसस्य नरः कर्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ३४५ ॥

साहसे वर्तमानं तु यो मर्षयति पार्थिवः।

स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ३४६ ॥

दुष्ट वचन बोलने वाले, चोर और लाठी से मारपीट करने वाले मनुष्य से भी बढ़कर साहस करने वाला मनुष्य अपराधी है। जो राजा साहस करने वाले को क्षमा करता है, वह शीघ्र विनाश को प्राप्त होता है और सभी लोग उससे शत्रुता करने लग जाते हैं। ३४५-३४६।

न मित्रधारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।

समुत्सृजेत्साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ३४७ ॥

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते ।

द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कालकारिते ॥ ३४८ ॥

राजा मित्र की धारणा से या प्रचुर धन के लोभ से सब प्राणियों को भयभीत करने वाले साहसिक को न छोड़े। जब द्विजातियों के वर्णाश्रम धर्म के नाश होने की सम्भावना हो, जब आपत्काल के कारण देश में अराजकता फैली हो, अपनी रक्षा के लिए अथवा धन, गौ आदि की रक्षा के लिए युद्ध करने का प्रसंग हो। ३४७-३४८।

आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च संगरे ।

स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ चघ्नन्धर्मेण न दुष्यति ॥ ३४९ ॥

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ ३५० ॥

उसी प्रकार जब स्त्रियों और ब्राह्मणों की रक्षा के लिए आवश्यक हो तब द्विजातियों को शस्त्र ग्रहण करना चाहिए—ऐसे समय धर्मतः हिंसा करने में दोष नहीं है। गुरु, बालक वृद्ध या बहुत शास्त्रों का जानने वाला ब्राह्मण भी आततायी होकर (मारने के लिये) आये तो उसे बेखटके मार डाले। ३४९-३५०।

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।

प्रकाशं वाप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युस्तं मन्युमृच्छति ॥ ३५१ ॥

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्महीपतिः ।

उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ ३५२ ॥

सबके सामने या एकान्त में जो किसी के मारने को उतावला हो उसका वध करने में कोई दोष नहीं है कारण आततायी जिसे मारना चाहता है उसके क्रोध से उसी आततायी का क्रोध बढ़ता है। पराई स्त्री के साथ सम्भोग करने वाले मनुष्यों को राज पीड़ा देने वाले दंडों से नाक, कान आदि कटवा कर देश से निकाल दे। ३५१-३५२।

तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसंकरः ।

येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ ३५३ ॥

परस्य पत्न्या पुरुषः संभाषां योजयन्तहः।

पूर्वमाक्षारितो दोषैः प्राप्नुयात्पूर्वं साहसम्॥ ३५४॥

कारण कि परस्त्री गमन से वर्णशंकर होता है, जिससे मूल का ही नाश करने वाला अधर्म, सर्वनाश का कारण होता है। परस्त्री गमन करने वाला कोई पुरुष यदि किसी परस्त्री के साथ एकान्त में भाषण करे तो राजा उस पर प्रथम श्रेणी का दंड करे। ३५३-३५४।

यस्त्वंनाक्षारितः पूर्वमभिभाषेत करणात्।

न दोषं प्राप्नुयात्किंचिन्न हि तस्य व्यतिक्रमः॥ ३५५॥

परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा।

नदीनां वापि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात्॥ ३५६॥

जो परस्त्री गमन के दोष से रहित है और किसी कारण से दूसरे की स्त्री के साथ लोगों के सामने या एकान्त में भाषण करे तो वह अपराधी न होने के कारण दंड पाने योग्य भी नहीं है। जो पुरुष पराई स्त्री से तीर्थ में या नदी के पास, जंगल में या गाँव के बाहर, निर्जन उपवन में या नदियों के संगम स्थान में रहस्य भाषण करे तो उसे राजा संग्रहण का दंड (एक सहस्र पण) करे। ३५५-३५६।

उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्।

सह खटवासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ ३५७॥

स्त्रियं स्पृशेददेशे यः स्पृष्टो वा मर्षयेत्तया।

परस्परस्यानुमते सर्वं संग्रहणं स्मृतम्॥ ३५८॥

परस्त्री के पास माला फूल, इत्र आदि भेजना, उसके साथ हंसी, दिल्लगी करना, आलिंगन करना, उसका भूषण वस्त्र छूना, उसके साथ चारपाई पर बैठना, ये सब शास्त्रों में संग्रह कहे गये हैं। कोई पुरुष परस्त्री के स्पर्श न करने योग्य अंश को स्पर्श करे अथवा उनको अपने अंग स्पर्श करने पर कुछ न बोले, यह सब परस्पर के अनुमोदन से होने वाला संग्रह ही है। ३५७-३५८।

अब्राह्मणः संग्रहणे प्राणान्तं दण्डमर्हति।

चतुर्वर्णामपि वर्णानां दारा रक्ष्यतमाः सदा॥ ३५९॥

भिक्षुका वन्दिनश्चैव दीक्षिताः कारवस्तया।

संभाषणं सह स्त्रीभिः कुर्युरप्रतिवारिताः ॥ ३६० ॥

यदि शूद्र द्विजाति की स्त्री के साथ संग्रहण करे तो उसे प्राण दंड देना चाहिए। चारों वर्णों को सबसे अधिक अपनी स्त्रियों की सदा रक्षा करनी चाहिए। भिक्षुक, भाट, दीक्षित और सूफकार तथा कारीगर लोग गृहस्थ पत्नी से (कार्यवश) बे रोक-टोक बातें कर सकते हैं।

न संभाषां परस्त्रीभिः प्रतिषिद्धः समाचरेत्।

निषिद्धो भाषमाणस्तु स्वर्णं दण्डमर्हति ॥ ३६१ ॥

नैष चारणदारेषु विधिर्नात्मोपजीविषु।

सज्जयन्ति हि ते नारीर्निगूढाश्चारयन्ति च ॥ ३६२ ॥

गृहस्थ जिस पुरुष को मना कर दिया हो वह उस गृहस्थ की पत्नी से बात न करे। मना किया हुआ पुरुष यदि भाषण करे तो वह सोलह मासा सुवर्ण दंड पाने के योग्य है। यह विधि नटों की स्त्रियों के लिए नहीं है, भार्या से अपनी जीविका चलाने वालों के लिए भी नहीं है क्योंकि वे अपनी स्त्रियों का स्वयं ही परपुरुषों से सम्बन्ध कराते और स्वयं छिपे रह कर उनसे व्यभिचार कराते हैं। ३६१-३६२।

किञ्चिदेव तु दाप्यः स्यात्संभाषां ताभिराचरन्।

प्रेष्यासु चैकभक्तासु रहः प्रव्रजितासु च ॥ ३६३ ॥

योऽकामां दूषयेत्कन्यां स सद्यो वधमर्हति।

सकामां दूषयंस्तुल्यो न वधं प्राप्नुयान्नरः ॥ ३६४ ॥

ऐसी स्त्रियों के साथ भी एकान्त में बात करने वाले पुरुषों को राजा कुछ दंड दे। वैसे ही दासियों, वैरागियों और ब्रह्मचारिणियों के साथ जो पुरुष रहस्य भाषण करे उसे भी दंड करे। जो मनुष्य किसी कन्या के साथ बलात्कार करके उसे दूषित करता है, वह तत्काल वध करने योग्य होता है। परन्तु कन्या की इच्छा से दूषित किया हो और वह उस कन्या का स्वजातीय हो तो वध के योग्य नहीं होता। ३६३-३६४।

कन्यां भजन्तीमुत्कृष्टं न किञ्चदपि दापयेत्।

जघन्ये सेवमानां तु संयतां वासयेद्गृहे ॥ ३६५ ॥

उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधर्हमति।

शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि॥ ३६६॥

उत्तम जाति के पुरुष के साथ संभोग करने की इच्छा से उसकी सेवा करने वाली कन्या को कुछ भी दंड न करे। पर, हीन जाति के पास जाने वाली कन्या का यत्नपूर्वक नियमन करे। उत्तम वर्ण की कन्या के साथ संभोग करने वाला नीचवर्ण का पुरुष वध के योग्य है। समान वर्ण की कन्या के साथ समागम करने वाला यदि उस कन्या का पिता धन से सन्तुष्ट हो तो देकर विवाह कर ले। ३६५-३६६।

अभिषह्य तु यः कन्यां कुर्याद्वर्षेण मानवः।

तस्याशु कर्त्यं अंगुल्यौ दण्डं चाहति षट्शतम्॥ ३६७॥

सकामां दूषयंस्तुल्यो नांगुलिच्छेदमाप्नुयात्।

द्विशतं तु दम दाप्यः प्रसङ्गविनिवृत्तये॥ ३६८॥

जो मनुष्य घमंड में आकर जबर्दस्ती कन्या की योनि में अंगुली डालकर उसे भ्रष्ट करता है तो राजा शीघ्र उसकी दो अंगुली कटवाकर उसे ६०० पण जुर्माना करे। स्वयं चाहने वाली कन्या को अंगुली डालकर भ्रष्ट करने वाले समान जाति के पुरुष की अंगुली नहीं कटवानी चाहिये। दो सौ पण दंड उसे इसलिये करना चाहिए कि वह फिर कभी ऐसा दुष्कर्म न करे। ३६७-३६८।

कन्यैव कन्यां च कुर्यात्तस्याः स्वाद्विशतो दमः।

शुल्कं च द्विगुणं दद्याच्छिफाश्चैवाप्नुयादृश॥ ३६९॥

या तु कन्या प्रकुर्यात्स्त्री सा सद्यो मौण्डयमर्हति।

अंगुल्योरेव वा छेदं खरेणोद्वहनं तथा॥ ३७०॥

यदि कन्या दूसरी कन्या के साथ ऐसा व्यवहार करे तो वह दो सौ पण दण्ड राजा को दे और दुगुना शुल्क उस लड़की के बाप को दे। ऐसी लड़की को दस कोड़े लगवावे। यदि स्त्री कन्या की योनि में अंगुली डाले तो राजा तत्काल उसका शिर मुड़वा दे या उसकी दो अंगुली कटवा डाले या गधे पर चढ़ाकर उसे सड़कों पर घुमावे। ३६९-३७०।

भर्तारं लंघयेद्या तु स्त्री ज्ञातिगुणदर्पिता।

तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते॥ ३७१॥

पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे।

अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दहोत पापकृत ॥ ३७२ ॥

जो स्त्री अपने बाप-दादे के धन और रूप गुणों के ऊपर घमंड कर पति का निगदर करे, तो राजा उसे बहुत लोगों के सामने कुत्तों से नुचवा डाले। पापी परस्त्रीगामी पुरुष को राजा तपाये हुए लोहे की शय्या पर सुलाकर ऊपर से लकड़ी रखवा दे जिसमें वह पापकर्ता जलकर खाक हो जाए। ३७१-३७२।

संवत्सराभिशास्तस्य दुष्टस्य द्विगुणो दमः।

व्रात्यया सह संवासे चांडाल्या तावदेव तु ॥ ३७३ ॥

शूद्रो गुप्तमगुप्तं वा द्वैजातं वर्णमावसन्।

अगुप्तमंगसर्वस्वैर्दुप्तं सर्वेण हीयते ॥ ३७४ ॥

परस्त्री गमन से दूषित पुरुष दण्डित होने पर यदि १ वर्ष बाद फिर वैसा अपराध करे तो उसे पहले से दूना दंड करना चाहिए, दुष्ट स्त्री और चाँडालिनी के पास जाने वाले के लिए भी राजा इसी दंड की व्यवस्था करे। जो शूद्र स्वामी आदि अभिभावकों से आरक्षित द्विजाति (ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य) की स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो राजा उसका लिंगच्छेदन करके सर्वस्व हरण कर ले, और रक्षित स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो सर्वस्व हरण के साथ उसे प्राण दंड दे। ३७३-३७४।

वैश्यः सर्वस्वदण्डः स्यात्संवत्सरनिरोधतः।

सहस्रं क्षत्रियो दण्डयो मौण्डयं मूत्रेण चार्हति ॥ ३७५ ॥

ब्राह्मणी यद्यगुप्तां तु गच्छेतां वैश्यपार्थिवौ।

वैश्यं पञ्चशतं कुर्यात्क्षत्रियं तु सहस्रिणम् ॥ ३७६ ॥

यदि वैश्य रक्षित ब्राह्मणी के साथ मैथुन करे तो सर्वस्व हरण कर एक वर्ष की सजा दे और क्षत्रिय को एक हजार पण जुर्माना करे और गधे के मूत्र से उसका सिर मुड़वा दे। यदि वैश्य और क्षत्रिय आरक्षित ब्राह्मणी के साथ गमन करें तो वैश्य को ५०० पण और क्षत्रिय को १०० पण दंड करे। ३७५-३७६।

उभावपि तु तावेव ब्राह्मण्या गुप्तया सह ।

विप्लुतौ शूद्रवदण्डयो दन्धव्यौ वा कटाग्निना ॥ ३७७ ॥

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डयो गुप्तां विप्रां बलाद्व्रजन ।

शतानि पञ्च दण्डयः स्यादिच्छन्त्या सह संगतः ॥ ३७८ ॥

वैश्य और क्षत्रिय, ये दोनों यदि रक्षित ब्राह्मणी के साथ मैथुन करें, तो शूद्र की तरह उसे दंड देना चाहिए अथवा तृण की धधकती हुई आग में इन्हें जला देना चाहिए । यदि ब्राह्मण रक्षित ब्राह्मणी के साथ जबर्दस्ती मैथुन करे तो उसे एक हजार पण दंड देना चाहिये, यदि वह सकामा हो तो उसके साथ संगम करने पर राजा उसे ५०० पण दंड करे । ३७७-३७८ ।

मौण्ड्य प्राणान्तिको दण्डो ब्राह्मणस्य विधीयते ।

इतरेषां तु वर्णानां दण्डः प्राणान्तिको भवेत् ॥ ३७९ ॥

न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।

राष्ट्रादेनं बाहः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम् ॥ ३८० ॥

ब्राह्मण के सिर का बाल मुड़ा देना ही उसके लिए प्राणान्तक दंड है । परन्तु अन्य वर्णों को प्राणान्तक दंड देना चाहिए । सब प्रकार के पाप करने पर भी ब्राह्मण का वध कभी न करे उसे समग्र धन के साथ, अभग्न शरीर से अपने देश से बाहर कर दे । ३७९-३८० ।

न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो विद्यते भुवि ।

तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ३८१ ॥

वैश्यश्चेत्क्षत्रियां गुप्तां वैश्यां वा क्षत्रियो व्रजेत् ।

यो ब्राह्मणयामगुप्तायां तावुभौ दण्डमर्हतः ॥ ३८२ ॥

ब्राह्मण के वध से बढ़कर संसार में दूसरा पाप नहीं है । इसलिए राजा उसके वध की चिन्ता कभी मन से भी न करे । यदि वैश्य रक्षित-क्षत्राणी से और क्षत्रिय रक्षित वैश्य से गमन करे तो रक्षिता ब्राह्मणी के साथ गमन करने में जो दंड कहा गया है, वही दंड इन दोनों को भी देना उचित है । ३८१-३८२ ।

सहस्रं ब्राह्मणो दण्डं दाप्या गुप्ते ते व्रजन् ।

शूद्रायां क्षत्रियाविशोः साहस्रो वै भवेद्दमः ॥ ३८३ ॥

क्षत्रियामामगुप्तायां वैश्ये पञ्चशतं दमः।

मूत्रेण मौडयमिच्छेत्तु क्षत्रियो दंडमेव वा॥ ३८४॥

रक्षिता क्षत्राणी और वेश्या के साथ यदि ब्राह्मण व्यभिचार करे तो उसे १००० पण दंड और क्षत्रिय तथा वैश्य रक्षित शूद्रा से रमण करे तो उन्हें भी एक हजार पण जुमनि का दंड दे। अरक्षित क्षत्रिया से गमन करने पर वैश्य को पाँच सौ पण दंड देना चाहिए यदि क्षत्रिय उससे गमन करे तो गधे के मूत्र से उसका सिर मुड़ा दे या उससे पाँच सौ पण दंड ले। ३८३-३८४।

अगुप्ते क्षत्रियावैश्ये शूद्रां वा ब्राह्मणो व्रजन्।

शतानि पञ्च दंडयः स्यात्सहस्रं त्वन्यजस्त्रियण्॥ ३८५॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।

न साहसिकदंडघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥ ३८६॥

यदि ब्राह्मण अरक्षित क्षत्राणी, वेश्या तथा शूद्रा से गमन करे तो उसे पाँच सौ पण दण्ड दे और चांडाल की स्त्री के साथ मैथुन करे तो उसे एक हजार पण दण्ड दे। जिस राजा के राज्य में परस्त्रीगामी, चोर, मिथ्यावाद, अनुचित कर्म में साहस दिखाने वाला और लाठी से मारपीट करने वाला नहीं है, वह राजा इन्द्रपुरी का सुख भोगने वाला होता है। ३८५-३८६।

एतेषां निग्रहो राज्ञः पंचानां विषये स्वके।

साम्राज्यकृतसजात्येषु लोके चैव यशस्करः॥ ३८७॥

ऋत्विजं यस्त्यजेद्याजो याज्यं चत्विंक्त्यजेद्यदि।

शक्तं कर्मण्यदुष्टं च तोर्दंडः शतं शतम्॥ ३८८॥

जो राजा अपने राज्य में पूर्वोक्त पाँचों अपराधियों को दण्ड देता है, वह अपने सजातीय राजाओं के बीच राज्य का पालन करता हुआ संसार में यशस्वी होता है। यदि यजमान योग्य ऋत्विज को, ऋत्विज निर्दोषी यजमान को छोड़ दे तो दोनों पर सौ-सौ पण दण्ड करे। ३८७-३८८।

न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्यागमर्हति।

त्यजन्नपतितानेतानराज्ञा दंडय शतानि षट्॥ ३८९॥

आश्रमेषु द्विजातीनां कार्यं विवदतां मिथः।

न विब्रुयान्नपो धर्मं चिकीर्षन्हितमात्मनः॥ ३९०॥

माँ, बाप, स्त्री और पुत्र ये अत्याज्य हैं। इनका त्याग करने पर राजा प्रत्येक के लिए छः छः सौ पण दंड करे। गार्हस्थ्य आदि आश्रमोचित कार्य में परस्पर विवाह करते हुए द्विजातियों के बीच अपना हित चाहने वाला राजा धर्म की कोई बात न बोले। ३८९-३९०।

यथार्हमेतानभ्यर्च्य ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।

सांत्वेन प्रशमय्यादौ स्वधर्मं प्रतिपादयेत्॥ ३९१॥

प्रतिवेश्यानुवेश्यौ च कल्याणे विंशतिद्विजे।

अर्हावभोजयन्विप्रो दंडमर्हति माषकम्॥ ३९२॥

राजा अन्य ब्राह्मणों के साथ उन सबका उचित पूजन करके पहले उन्हें शान्त करे, पीछे जो उनका अपना धर्म हो उसका प्रतिपादन करे। किसी शुभ कार्य में बीस ब्राह्मणों को खिलाना हो और उसमें योग्य प्रतिवेश्य (पड़ोसी) और अनुवेश्य (पड़ोसी के पड़ोसी) को भोजन न करकर अन्य ब्राह्मणों को खिलाने वाले ब्राह्मण को एक मासा चाँदी दण्ड कर देना चाहिए। ३९१-३९२।

श्रोत्रियः श्रोत्रियं साधु भूतिकृत्येष्वभोजयन्।

तदत्र द्विगुणं दाप्यो हिरण्यं चैव माषकम्॥ ३९३॥

अन्धो जड़ः पीठसर्पी सप्तत्या स्थविरश्च यः।

श्रेत्रियेषूपकुर्वश्च न दाप्याः केनचित्करम्॥ ३९४॥

जो वेदाध्यायी ब्राह्मण शुभ कार्य में प्रतिवेश्य, अनुवेश्य वैदिक सदब्राह्मणों को भोजन न करावे तो राजा उसे भोज्यान्न का दूना अन्न और एका मासा सोना दण्ड करे। अन्धे, बहरे, लंगड़े और सत्तर वर्ष के बूढ़े या वेदपाठी ब्राह्मणों का उपकार करने वाला यदि दखि हो जाय तो राजा को उससे कर न लेना चाहिए। ३९३-३९४।

श्रोतियं व्याधितातौ च बालवृद्धावकिंचनम्।

महाकुलीनमार्यं च राजा सपूजयेत्सदा॥ ३९५॥

शात्मलीफलके श्लक्ष्णे नेनिज्यात्रेजकः शनैः।

न च वासांसि वासोभिर्निर्हरित्र च वासयेत्॥ ३९६॥

वैदिक, व्याधिग्रस्त, बालक, वृद्ध, दरिद्र, श्रेष्ठ कुल जाति और उदार चरित्र—इनका राजा हमेशा सम्मान करे। धोबी को चाहिए कि सेमर के

चिकने काठ पर धीरे-धीरे वस्त्र धोवे, वस्त्रों से वस्त्र का हेर फेर न करे और किसी का कपड़ा किसी दूसरे को पहनने के लिए न दे। ३९५-३९६।

तन्तुवायो दशपलं दद्यादेकपलाधिकम्।

अतोऽन्यथा वर्तमानो दाप्यो द्वादशकं दमम्॥ ३९७॥

शुल्कस्थानेषु कुशलाः सर्वपण्यविचक्षणाः।

कुर्युरर्धं यथापण्यं ततो विंशं नृपो हरेत्॥ ३९८॥

जुलाहा (कपड़ा बुनने वाला) दश पल सूत लेकर एक पल और अधिक अर्थात् पल कपड़ा तोलकर सूत वाले को दे अन्यथा इससे कम वजन में देने पर उसे बारह पण दण्ड करे। कर सम्बन्धी विषय में कुशल व्यापार में बिकने वाली चीजों की खरीद बिक्री को जानने वाले मनुष्य, जिस वस्तु का जो दाम निर्णय करें उसके लाभ का २०वाँ भाग राजा ले। ३९७-३९८।

राज्ञः प्रख्यातभांडानि प्रतिषिद्धानि यानि च।

तानि निर्हरतो लोभात्सर्वहारं हरेन्नृपः॥ ३९९॥

शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयो।

मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्॥ ४००॥

राजा के सम्बन्ध के विशेष पात्र, वस्त्र, वाहन आदि और जिन चीजों को बाहर ले जाने के लिए राजा ने मना कर दिया हो लोभ से उन चीजों को देशान्तर ले जाने वाले का राजा सर्व हरण कर ले। जो व्यापारी कर देने के डर से दूसरे गस्ते से जाय, असमय में खरीद-फरोख्त करे, अधिक कर देने के अभिप्राय से विक्रय वस्तु का परिमाण झूठा बतावे तो जितना कर उसने झूठ बोलकर बचाया हो, राजा उसका अठगुना दण्ड करे। ३९९-४००।

आगमं निगमं स्थानं तथा वृद्धिक्षयावुभा।

विचार्य सर्वपण्यानां कारयेत्क्रयविक्रयौ॥ ४०१॥

पंचरात्रे पंचरात्रे पक्षे पक्षेऽथवा गते।

कुर्वीत चैषा चैषां प्रत्यक्षमर्घसंस्थापनः नृपः॥ ४०२॥

बाहर से आई चीजों पर, अपने देश की चीजों पर कितने दिनों तक रखने से कितना लाभ होगा, नफ़ा लेकर बेचने पर कितनी वृद्धि होगी, उन वस्तुओं की रक्षा में कितना खर्च होगा, इन सब बातों को भली-भाँति विचार करके

बिकने वाली वस्तुओं की दर ठीक कर दें, जिससे खरीदने और बेचने वाले के मन में किसी प्रकार का दुःख न हो। पाँच-पाँच दिन पीछे या एक-एक पक्ष पर व्यापारियों की वस्तुओं की दर का निश्चय करे। ४०१-४०२।

तुलामनं प्रतीमानं सर्वं च स्यात्सुलक्षितम्।

षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेत्॥ ४०३॥

पणं यानं तसे दाप्यं पौरुषोऽर्धपणं तरे।

पादं पशुश्च योषिच्च पदार्थं रिक्तकः शुमान्॥ ४०४॥

सोना तोलने का तोला, मासा और रत्ती आदि तथा अनाज तोलने से सेर, पंसेरी आदि बटखरे वजन में पूरे हैं या नहीं, राजा प्रति छठे मास जाँच किया करे। खाली सवारी पार उतारने का खेवा एक पण, भार उतारने का आधा पण, पशु और स्त्री को पार उतारने का चौथाई पण और बिना बोझ के पुरुष का खेवा को एक पण के चौथाई का आधा हिस्सा देना चाहिए। ४०३-४०४।

भांडपूर्णानि यानानि तार्यं दाप्यानि सारतः।

रिक्तभांडानि यत्किञ्चित्पुमांसश्चापरिच्छदाः॥ ४०५॥

दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालं तरौ भवेत्।

नदीतीरेषु दद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम्॥ ४०६॥

बरतनों से भरी हुई गाड़ी का खेवा बरतनों के मूल्य की विवेचना करके देना चाहिए। किन्तु खाली गाड़ी, छकड़े और दहिद मनुष्यों को पार उतराई बहुत ही कम देनी चाहिए। जल पथ से दूर तक जाने में नदी का वेग, स्थिरता, अनुकूल, प्रतिकूल प्रवाह और समय आदि देखकर नाव के भाड़े का निश्चय करे यह नियम केवल नदी पथ से जाने के लिए हो सकता है, समुद्र यात्रा के लिए नहीं। ४०५-४०६।

गर्भिणी तु द्विमासादिस्तथा प्रव्रजितो मुनिः।

ब्राह्मणो लिङ्गिनश्चैव न दाप्यास्तारिकं तरे॥ ४०७॥

यन्नावि किञ्चिद्वाशानां विशीर्येतापराधतः।

तद्वाशैरेव दातव्यं समागम्य स्वतोऽशतः॥ ४०८॥

दो मास के ऊपर की गर्भिणी स्त्री, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी और ब्राह्मण, इन लोगों से पार उतारने का खेवा न लेना चाहिये। नाव खेने वालों

की भूल से यात्रियों की कोई चीज नष्ट हो तो नाविकों को थोड़ा-थोड़ा अपने पास से देकर पूरा करना चाहिए। ४०७-४०८।

एष नौयाधिनामुक्तो व्यवहारस्य निर्णयः।

दाशापराधतस्तोये दैविके नास्ति निग्रहः॥ ४०९॥

वाणिज्यं कारयेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।

पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम्॥ ४१०॥

यह नाविकों के व्यवहार का निर्णय कहा है। नाविकों के दोष से जो वस्तु पानी में गिरकर नष्ट हो जाये तो उसका हर्जाना नाविक लोग दें, किन्तु जो दैविक दुर्घटना (तूफान आदि) से नष्ट हो, वह नाविक न देंगे। राजा वैश्य से खेती, वाणिज्य, महाजनी और गाय-बैल आदि पशुओं का पालन और शूद्रों से द्विजातियों की सेवा करावे। ४०९-४१०।

क्षत्रियं चैव वैश्यं च ब्राह्मणो वृत्तिकशितौ।

विभूयादानृशंस्येन स्वानि कर्माणि कारयन्॥ ४११॥

दास्यं तु कारयल्लोभदब्राह्मणः संस्कृतान्द्विजान्।

अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दंडयःशतानि षट्॥ ४१२॥

यदि क्षत्रिय और वैश्य अपनी वृत्ति से निर्वाह न कर सकने के कारण पीड़ित हों तो ब्राह्मण उनसे उनकी वृत्ति करकर दयापूर्वक उनका भरण-पोषण करे। जो ब्राह्मण लोभ से या प्रभुत्व से उपनीत द्विजातियों से उनकी इच्छा के विरुद्ध टहलू का काम ले, राजा उसे छः सौ पण दण्ड करे। ४११-४१२।

शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।

दास्यायैव हि सुष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा॥ ४१३॥

न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते।

निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपाहति॥ ४१४॥

शूद्र खरीदा हुआ हो या न हो उससे नौकर का काम ले, क्योंकि ब्रह्मा ने ब्राह्मण की सेवा के लिए ही उसे बनाया है। स्वामी से कहे जाने पर भी शूद्र सेवावृत्ति से छुटकारा नहीं पा सकता। क्योंकि यह उसकी स्वाभाविक वृत्ति है, उसे कौन अलग कर सकता है। ४१३-४१४।

ध्वजाहतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्रिमा।

पैत्रिको दण्डदासश्च त्रय सप्तैते दासयोनयः॥ ४१५॥

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।

यत्ने समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ ४१६ ॥

युद्ध में विजय प्राप्त होने पर लाया गया, भोजन के लालच से स्वयं आया हुआ, दासी के गर्भ से उत्पन्न, खरीदा हुआ, किसी का दिया हुआ जो बाप-दादे से काम करता आया हो और जो दंड, ऋण आदि चुकाने के लिए दास हुआ हो, ये सातों दास्योनि हैं। पत्नी, पुत्र और सेवक, ये तीनों निर्धन कहे गए हैं क्योंकि इनका उपार्जन किया धन उसी का होगा, जिसके ये पुत्र, कलत्र और सेवक हैं। ४१५-४१६।

विस्त्रब्धं ब्राह्मणः शूद्राद्द्रव्योपादानमाचरेत् ।

नहि तस्यास्ति किञ्चित्त्वं भर्तृहार्यधनो हि सः ॥ ४१७ ॥

वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत् ।

तौ हि च्युतौ स्वकमभ्यः क्षोभयेतामिदं जगत् ॥ ४१८ ॥

काम आ पड़ने पर असम्बन्धित शूद्र का धन ब्राह्मण बेरोक ले सकता है क्योंकि उसका अपना धन कुछ नहीं है, सब धन उसके स्वामी का है। राजा, वैश्य और शूद्र से उनकी वृत्ति यत्नपूर्वक करावे क्योंकि वे दोनों अपने कर्मों से च्युत होने पर सारे संसार को क्षुब्ध कर सकते हैं। ४१७-४१८।

अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।

आयव्यौ च नियतावाकरान्कोशमेव च ॥ ४१९ ॥

एव सर्वानिमान् राजा व्यवहारान्समापयन् ।

व्यपोह्य किल्बिषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥ ४२० ॥

राजा आरम्भ किये कार्यों की सम्पन्नता, नियत आय-व्यय, खान, खजाना, और वाहनों का प्रतिदिन निरीक्षण करे। जो राजा इस प्रकार इन सब पापों से छूटकर पूर्वोक्त व्यवहारों को पूरा करता है, वह सब परम पद को प्राप्त होता है। ४१९-४२०।

॥ इति अष्टम अध्याय ॥



नौवां अध्याय

पुरुषस्य स्त्रियाश्चैव धर्मे वर्त्मनि तिष्ठतोः।

संयोगे विप्रयोगे च धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ॥ १ ॥

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।

विषयेषु च सञ्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥ २ ॥

धर्म मार्ग में रत पुरुष और स्त्रियों के संयोग और वियोग के समय नित्य पालन करने वाले धर्मों को कहूंगा। पुरुषों को अपनी स्त्रियों को कभी स्वतन्त्रता न देनी चाहिये। स्त्रियाँ यदि रूप रसादि में आसक्त हों तो भी उन्हें अपने वश में रखे। १-२।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।

रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ ३ ॥

कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्यतिः।

मृते भर्तरि पुत्रस्तु वाच्यो मातुररक्षिता ॥ ४ ॥

स्त्रियों की बाल्यावस्था में पिता, युवावस्था में पति और बुढ़ापे में पुत्र रक्षा करता है, स्त्री कभी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं। विवाह का समय उपस्थित होने पर विवाह न करने से पिता, ऋतु के समय प्रसंग न करने से पति, पति के मरने पर पुत्र माता की रक्षा न करे तो सभी निन्द्य हैं। ३-४।

सूक्ष्मेभ्योऽतिप्रसंगेभ्यः स्त्रियो रक्षा विशेषतः।

द्वयौर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥ ५ ॥

इमं हि सर्ववर्णानां पश्यन्तो धर्ममुत्तमम्।

यतन्ते रक्षितुं भार्या भर्तारो दुर्बला अपि॥ ६॥

थोड़ी-सी कुसंगति से भी स्त्रियों की विशेष रक्षा करे। क्योंकि ये अरक्षित होने पर दोनों कुलों को कलंकित करती हैं। सभी वर्णों के इस (स्त्री रक्षा रूप) उत्तम धर्म के देखते हुए, दुर्बल पति होते हुए भी अपनी स्त्री की रक्षा में प्रयत्नशील होना चाहिए। ७-८।

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च।

तां च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन्ति रक्षति॥ ७॥

पतिभार्या संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।

जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः॥ ८॥

स्त्री की रक्षा में प्रयत्नशील मनुष्य अपनी सन्तान, चरित्र, कुल, आत्मा और धर्म की रक्षा करता है। पति वीर्य द्वारा स्त्री के गर्भ में प्रवेश कर सन्तान रूप से उत्पन्न होता है। पति फिर स्त्री में जायमान होता है, यही स्त्री का (जायात्व) है। ७-८।

यादृशं भजते हि स्त्री सुतं सूते तथाविधम्।

तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः॥ ९॥

न कञ्चिद्वोषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम्।

एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम्॥ १०॥

जैसे पुरुष के साथ स्त्री समागम करती है, वैसी ही सन्तान उत्पन्न करती है। इसलिए शुद्ध सन्तानोत्पादन का प्रयत्न करके स्त्री की रक्षा करे। बल प्रयोग से कोई भी पुरुष स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता है, किन्तु नीचे लिखे उपायों से रक्षा कर सकता है। ९-१०।

अर्थस्य संग्रहे च नां व्यये चैव नियोजयेत्।

शौचे धर्मेऽन्नपक्तायां च पारिणाह्यय वेक्षणे॥ ११॥

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः।

आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः॥ १२॥

धन के आय-व्यय के विषय में, घर की वस्तुओं की सफाई, धर्मादि कार्यों, रसोई बनाने-खिलाने और घर की देखभाल के काम में नियुक्त करे।

अपने बड़े लोगों से घर में बन्द किये जाने पर भी स्त्री अरक्षित ही होती है। जो स्त्रियाँ अपनी रक्षा अपने आप ही करती हैं, वे ही सुरक्षित रहती हैं। ११-१२।

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।

स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥ १३ ॥

नैता रूपं परिक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।

सरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥

मदिरा पीना, दुष्टों की संगति, पति का वियोग, इधर-उधर घूमना, कुसमय में सोना और दूसरे के घरों में रहना ये छः स्त्रियों के दोष हैं। स्त्रियाँ रूप की परीक्षा नहीं करती हैं, न तो अवस्था का ध्यान रखती हैं सुन्दर हो या कुरूप हो, पुरुष होने से ही वे उसके साथ सम्भोग करती हैं। १३-१४।

पौञ्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।

रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृष्वेता विकुर्वन्ते ॥ १५ ॥

एवं स्वभावं ज्ञात्वासां प्रजापतिनिसर्गजम्।

परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥

पुंश्चल (पराये पुरुष से भोग की इच्छा) दोष से, चंचलता से और स्वभाव से ही स्नेह न होने के कारण घर में यत्नपूर्वक रखने पर भी स्त्रियाँ पति के विरुद्ध काम करती हैं। ब्रह्माजी ने स्वभाव से ही स्त्रियों का ऐसा स्वभाव बनाया है, इसलिए पुरुष को हमेशा स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिए। १५-१६।

शय्यासनमलंकारं कामं क्रोधमनार्जवम्।

द्रोहभावं कुचर्या च स्त्रीभ्यो मनु रकल्पयत् ॥ १७ ॥

नास्ति स्त्रीणां क्रिया मंत्रैरिनि धर्मे व्यवस्थितिः।

निरिन्द्रिया ह्यमंत्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥ १८ ॥

मनुजी ने शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोह और दुराचार स्त्रियों के लिए ही कल्पना की थी। धर्मशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार स्त्रियों की जातकर्मादि क्रियायें मन्त्रों से नहीं करनी चाहिये। उन्हें मन्त्रों का ज्ञान और अधिकार भी नहीं है, उनकी झूठ ही में स्थिति है। १७-१८।

तथा च श्रुतयो बह्वया निगीता निगमेष्वपि।

स्वालक्षणपरीक्षार्थं तासां शृणुत निष्कृतीः ॥ १९ ॥

यन्मे माता प्रलुलुभे विचरन्त्यपतिव्रता।

तन्मे रेतः पिता वृक्तामित्यस्यैतन्निदर्शनम् ॥ २० ॥

वेदों में भी उक्त विषय की अनेक श्रुतियाँ हैं, उनमें जो मन्त्र व्यभिचार के प्रायश्चित्त के लिए हैं उसे सुनो—मेरी माता ने अपवित्र होकर घूमते हुए दूसरे घर में जाकर परपुरुष की इच्छा की, इसलिये उसके उस दूषित रज को मेरे पिता शुद्ध करें। यह मन्त्र उस समय के व्यभिचार का द्योतक है। १९-२०।

ध्यायत्यनिष्टं यत्किञ्चिन्पाणिग्राहस्य चेतसा।

तस्यैष व्यभिचारस्य निह्नवः सम्यगुच्यते ॥ २१ ॥

यादृग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि।

तादृग्गुणा साभवति समुद्रेणैव निम्नगा ॥ २२ ॥

जो स्त्री अपने पति के विरुद्ध परपुरुष से गमन करने की इच्छा मन में करती है, उस मानसिक पाप से क्लुप्त चित्त की शुद्धि के लिए नीचे लिखा मन्त्र है। जैसे गुणी पुरुष के साथ स्त्री का ब्याह होता है वैसे ही गुणों से वह युक्त होती है। जैसे नदी का जल समुद्र से मिलने से खारा हो जाता है। २१-२२।

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।

शारंगी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥ २३ ॥

एसास्त्वान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।

उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः सवैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥ २४ ॥

अधम योनि में उत्पन्न होने वाली अक्षमाला और शारंगी क्रम से वसिष्ठ और मन्दपाल के साथ ब्याह होने से परमपूज्य हुई थीं। इस लोक में ये (उपरोक्त) और अन्य भी कितनी स्त्रियाँ तीन कुल में उत्पन्न होते हुए भी अपने स्वामी के गुणों से युक्त होकर श्रेष्ठता को प्राप्त हुई हैं। २३-२४।

एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा।

प्रेत्येह च सुखोदकान्प्रजाधर्मान्निबोधत ॥ २५ ॥

प्रजनार्थं महाभागः पूजार्हा गृहदीप्तयः।

स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥ २६ ॥

यह स्त्री और पुरुषों के नित्य लोक व्यवहार का शुभ नियम कहा। अब इहलोक और परलोक में आनन्द देने वाले सनातन धर्म को कहता हूँ। स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के कारण उपकार करने वाली पूजनीय और गृह की शोभा रूप हैं। गृह में लक्ष्मी और स्त्रियों में कोई विभिन्नता नहीं है अर्थात् जैसे लक्ष्मी बिना, घर की शोभा नहीं, ऐसे ही स्त्रियों के बिना घर की शोभा नहीं है। २५-२६।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।

प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्रीनिबन्धनम् ॥ २७ ॥

अपत्यं धर्माकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।

दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्चह ॥ २८ ॥

सन्तान उत्पन्न करना, उत्पन्न हुए का पालन, नित्य गृह का कार्य करना, इन सभी कर्मों के प्रत्यक्ष का कारण स्त्रियाँ ही हैं। सन्तान, धर्मकार्य, सेवा, उत्तमरति, पितरों और अपना स्वर्गसाधन ये सभी कार्य स्त्री के ही अधीन हैं। २७-२८।

पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता।

सा भर्तृलोकानाप्नोतिसद्भिः साध्वोतिचोच्यते ॥ २९ ॥

व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम्।

शृगालयोनिं चाप्नोति पापरोगैश्च पीडयते ॥ ३० ॥

जो स्त्री मन, वाणी और शरीर का संयम कर पति के विरुद्ध आचरण नहीं करती, वह मरने के बाद पतिव्रतधर्म को पाती हैं और इस लोक में सज्जनों से पतिव्रता कही जाती है। स्वामी के विरुद्ध आचरण करने वाली स्त्री इस लोक में निन्दित होती है और मरने के बाद शृगाल (सियार) योनि में उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के रोगों को भोगती है। २९-३०।

पुत्रं प्रत्युदितं सद्भिः पूर्वजैश्च महर्षिभिः।

विश्वजन्ममिमं पुण्यमुपन्यासं निबोधत ॥ ३१ ॥

भर्तुः पुत्रं विजानन्ति श्रुतिद्वैधं तु भर्तरि।

आहुरुत्तादकं केचिदपरे श्रेत्रिणं विदुः ॥ ३२ ॥

पूर्व के श्रेष्ठ मन्वादि महर्षियों ने पुत्र के विषय में संसार के हितार्थ जो पुण्य इतिहास कहा है उसको सुनो। पुत्र स्वामी का होता है, किन्तु स्वामी के विषय में दो प्रकार की श्रुति है—कोई पुत्र उत्पन्न करने वाले को पुत्रवान् कहते हैं और कोई जिस स्त्री को पुत्र हुआ उसी को पुत्र मानते हैं। ३१-३२।

क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्।

क्षेत्रबीजसमायोगात्संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ ३३ ॥

विशिष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रयोनिस्त्वेव कुत्रचित्।

उभयं तु सनं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥ ३४ ॥

स्त्री क्षेत्र रूप और पुरुष बीज रूप होता है। क्षेत्र और बीज के संयोग से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है। कहीं बीज प्रधान होता है और कहीं क्षेत्र ही प्रधान होता है। जहाँ दोनों समान होते हैं। वहाँ सन्तान भी श्रेष्ठ होती है। ३३-३४।

बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्ट मुच्यते।

सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥ ३५ ॥

यादृशं तृप्यते बीजं क्षेत्रे कालोपपादिते।

तादृगोहति तत्तस्मिन्बीजं स्वैर्व्याज्जितं गुणैः ॥ ३६ ॥

बीज और क्षेत्र में बीज को ही श्रेष्ठ कहते हैं। क्योंकि सभी प्राणियों की उत्पत्ति बीज के लक्षणानुसार ही होती है। समय पर जैसा ही बीज क्षेत्र में बोया जाता है वैसे ही बीज के गुणों से युक्त क्षेत्र में पौधा निकलता है। ३५-३६।

इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते।

न च योनिगणान्कांश्चिद्बीजं पुष्यति पुष्टिषु ॥ ३७ ॥

भूमावप्येककेदारे कालोप्तानि कृषीवलैः।

नानारूपाणि जायन्ते बीजानीह स्वभावतः ॥ ३८ ॥

यह भूमि सभी प्राणियों का निरन्तर उत्पत्ति स्थान है। परन्तु कभी भी भूमि के गुण से बीज पुष्ट नहीं होता है। एक ही समय में एक खेत में कृषकों द्वारा बोये हुए अनेक प्रकार के बीज अपने

स्वभाव के अनुसार अनेक प्रकार के उत्पन्न होते हैं। ३७-३८।

ब्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा यवाः।

यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा॥ ३९॥

अन्यदुप्तं जातमन्यदिष्येतत्रोपपद्यते।

उप्यते यद्धि यद्बीजं तत्तदेव प्ररोहति॥ ४०॥

धान, मूंग, तिल, उड़द, यव, और लहसुन ईख ये सभी अपने बीज के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। बोया कुछ जाय और उत्पन्न कुछ हो ऐसा कभी नहीं होता है। जो बीज बोया जाता है वही उत्पन्न होता है। ३९-४०।

तत्प्राज्ञन विनीतेन ज्ञानविज्ञानवेदिना।

आयुष्कामेन वप्तव्यं न जातु परयोषिति॥ ४१॥

अत्र गाथा वायुगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।

यथा बीजं न वप्तव्यं पुंसा परपरिग्रहे॥ ४२॥

इसलिए ज्ञान-विज्ञान को जानने वाला दीर्घ आयुष्य की इच्छा वाला विद्वान् कभी भी परस्त्री में बीज को न बोये। दूसरे की स्त्री में दूसरे पुरुष को बीज नहीं बोना चाहिए। इस विषय में प्राचीन आचार्य वायु की गाई हुई गाथाएँ कहते हैं। ४१-४२।

नश्यतीषुर्यथा विद्वः खे विद्धमनुविद्धयतः।

तथा नश्यति व क्षिप्तं बीजं परपरिग्रहे॥ ४३॥

पृथोरपीमां पृथिवीं भार्या पूर्वविदो विदुः।

स्थाणुच्छेदस्य केदारमाहुः शल्यवतो मृगम्॥ ४४॥

जिस प्रकार एक के बेधे हुए निशाने पर दूसरे का फेंका हुआ बाण निष्फल होता है। (अर्थात् पहले ही शिकारी का वह शिकार होता है) उसी प्रकार परई स्त्री में बोया हुआ बीज निष्फल होता है। पूर्वाचार्यों ने इस भूमि को पृथु की पत्नी कहा है। जो जिस भूमि को क्षेत्र रूप में काटकर बनाता है वह उसी की होती है, जैसे पहले मृग को बाण मारने वाले का ही मृग होता है। ४३-४४।

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।

विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्ता सा स्मृतांगना॥ ४५॥

न निष्कृत्यविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते ।

एवं धर्मं विजानीयः प्राक्प्रजापतिनिर्मितम् ॥ ४६ ॥

अपना शरीर, सन्तति और स्त्री ये तीनों मिलकर पुष्प होता है ब्राह्मणों का कहना है कि जो पति है वही स्त्री है अर्थात् पति और पत्नी में कोई भेद नहीं होता है। बेचने से या त्याग देने से स्त्री के पत्नीत्व से अलग नहीं होती है यह धर्म पूर्व में प्रजापति ने जो बनाया है उसे हम लोग जानते हैं। ४५-४६ ।

सकृदंशो निपतति सकृत्कन्या प्रदीयते ।

सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत् ॥ ४७ ॥

तथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महर्षिजाविकासु च ।

नोत्पादकः प्रजाभागी तथैवान्यांगनास्वपि ॥ ४८ ॥

भाइयों में पैतृक सम्पत्ति का बंटवारा एक ही बार होता है। कन्यादान एक ही बार होता है, किसी वस्तु का दान एक ही बार होता है, ये तीनों कार्य सज्जनों के लिए एक बार होते हैं। जैसे गाय, घोड़ी, ऊँटनी, दासी, बकरी और भेड़ी में सन्तान उत्पन्न करने वाले बैल आदि सन्तान के भागी नहीं होते वैसे ही परस्त्री में सन्तान पैदा करने वाला पुरुष भी उस सन्तान का भागी नहीं होता। ४७-४८ ।

येऽक्षेत्रिणो बीजवन्तः परक्षेत्रप्रवापिणः ।

ते वै सस्यस्य जातस्य न लभन्ते फलं क्वचित् ॥ ४९ ॥

यदन्यगोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम् ।

गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्कन्दितमार्षभम् ॥ ५० ॥

जिसके पास स्वयं खेत नहीं है यदि वह दूसरे के खेत में बीज बोता है तो उस खेत में उत्पन्न हुए धान को किसी प्रकार भी पाने का हकदार नहीं है। यदि दूसरे की गौ में वृषभ एक सौ बछड़े पैदा करे तो भी वे बछड़े उस गौ के मालिक स्वामी के होते हैं न कि उस वृषभ के। वृषभ का यह वीर्यसिंचन उसके स्वामी के लिए व्यर्थ होता है। ४९-५० ।

तथैवाक्षेत्रिणो बीजं परक्षेत्रप्रवापिणः ।

कुर्वन्ति क्षेत्रिणामर्थं न बीजी लभते फलम् ॥ ५१ ॥

फलं त्वनभिसंधाय क्षेत्रिणां बीजिनां तथा ।

प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्गरीयसी ॥ ५२ ॥

उसी प्रकार बिना खेत वाले का बीज दूसरे के खेत में बोने से निष्फल हो जाता है। बोया हुआ बीज क्षेत्र स्वामी के निमित्त होता है, बीज वाला उसके फल को नहीं पाता है। यदि खेत के मालिक और बीज बोने वाले में फल के विषय में कोई बात निश्चित नहीं हुई है तो फल खेत के मालिक का ही होता है क्योंकि बीज से खेत श्रेष्ठ होता है। ५१-५२।

क्रियाभ्युपगमात्त्वेतद्वीजार्थं यत्प्रदीयते ।

तस्येह भागिनौ दृष्टौ बीजी क्षेत्रिक एव च ॥ ५३ ॥

ओधवाताहतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति ।

क्षेत्रकस्यैव तद्बीजं न वप्ता लभते फलम् ॥ ५४ ॥

जिस खेत के उपज के फल के विषय में दोनों में आपस में तय हो गया है उस खेत के फल में क्षेत्रपति और बीजपति दोनों का ही भाग देखा जाता है। जल और वायु के प्रवाहों में आया हुआ बीज भी उसी का होता है जिसके खेत में वह जमता है न कि उसका जिसके कि खेत से बहकर आया है। ५३-५४।

एष धर्मो गवाश्वस्य दास्युष्ट्राजविकस्य च ।

विहंगमहिषीणां च विज्ञेय प्रसवं प्रति ॥ ५५ ॥

एतद्वः सारफलुत्वं बीजयोन्योः प्रकीर्तितम् ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदि ॥ ५६ ॥

यही धर्म गौ, घोड़ी, दासी, ऊँटनी, भेड़, बकरी और भैंस की संतानों के लिए जानना चाहिए। यह निश्चय तो क्षेत्र और बीज प्रधानत्व और अप्रधानत्व के विषय में कहा, अब स्त्रियों के आपत्तिकाल सम्बन्धी धर्म कहूँगा। ५५-५६।

भार्तुर्ज्येष्ठस्य भार्या या गुरुपत्यजस्य सा ।

यवीयसस्तु या भार्या स्नुषा ज्येष्ठस्य सा स्मृता ॥ ५७ ॥

ज्येष्ठो यवीयसो भार्या यवीयान्वाग्रजस्त्रियम् ।

पतितौ भवतो गत्वा नियुक्तावप्यनापदि ॥ ५८ ॥

छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री को गुरुपत्नी के समान तथा बड़ा भाई छोटे भाई की स्त्री को पुत्रवधू (पतोहू) के तुल्य माने यह ऋषियों का मत है। जेठा भाई छोटे भाई की स्त्री के साथ और छोटा भाई बड़े भाई की स्त्री के साथ निरापद स्थिति में नियुक्त होकर यदि समागम करे तो वह पतित होता है। ५७-५८।

देवराद्धा पपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया।

प्रजेप्सिताधिगन्तव्या संतानस्य परिक्षये ॥ ५९ ॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।

एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ॥ ६० ॥

सन्तान न होने पर स्त्री अपने पति आदि गुरुजनों की आज्ञा से देवर या सपिण्ड से किसी व्यक्ति से अभीष्ट संतान को पैदा करे। पूर्वोक्त प्रकार से नियुक्त पुरुष अपने शरीर में घी को लगाकर रात्रि में मौन रहकर विधवा स्त्री में एक ही पुत्र को उत्पन्न करे, दूसरे को नहीं। ५९-६०।

द्वितीयमेके प्रजनं मन्यन्ते स्त्रीषु ताद्विदः।

अनिर्वृतं नियोगार्थं पश्यन्तो धर्मतस्तयोः ॥ ६१ ॥

विधवायां नियोगार्थं निवृत्ते तु यथाविधि।

गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ ६२ ॥

कोई धर्म को जानने वाले महर्षियों का मत है कि दो पुत्र पैदा करना चाहिए क्योंकि एक पुत्र का होना न होना बराबर है, इसलिए धर्मपूर्वक द्वितीय पुत्र भी उत्पन्न करे। विधवा में शास्त्ररीत्या नियोग (गर्भ रहने) हो जाने के बाद दोनों स्त्री पुरुष गुरु और स्नुषा (पुत्रवधू) की भाँति व्यवहार करें। ६१-६२।

नियुक्तौ यौ विधिं हित्वा वर्तेयातां तु कामतः।

तावुभौ पतितौ स्यातां स्नुषागगुरुतलक्ष्यगौ ॥ ६३ ॥

नान्यस्मिन्विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः।

अन्यस्मिहि नियुञ्जाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ ६४ ॥

इन दोनों के लिए जो विधि शास्त्रोक्त है उससे भिन्न व्यवहार करने वाले और पुरुष-पुत्रवधू और गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार करने

के पाप के भागी होते हैं। द्विजातियों को विधवा स्त्री का नियोग, दूसरे से नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से सनातन (पतिव्रत) धर्म का नाश हो जाता है। ६३-६४।

नोद्वाहिक्केषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित्।

न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥ ६५ ॥

अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥ ६६ ॥

विवाह के वेदोक्त मन्त्रों से नियोग कहीं नहीं लिखा है और न तो विवाह विषयक शास्त्रों में ही कहीं विधवा विवाह का उल्लेख है। विद्वान् ब्राह्मणों ने इस पशु धर्म की अत्यन्त निन्दा की है। मनुष्यों में भी वेन राजा के समय से यह पशु धर्म प्रचलित हुआ है। ६५-६६।

स महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा।

वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ६७ ॥

तयः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियम्।

नियोजयत्यपत्यार्थं तं निगर्हन्ति साधवः ॥ ६८ ॥

प्राचीनकाल में राजर्षियों में श्रेष्ठ वेन राजा ने सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य करते हुए काम से संतप्त चित्त होकर वर्णशंकरों को पैदा किया। उस समय से जो लोग विधवा स्त्री को संतानोत्पत्ति के लिए प्रयुक्त करते हैं उनकी अच्छे लोगों की मण्डली में निन्दा होती है। ६७-६८।

यस्या प्रियेत कन्याया वाचा सत्ये कृते पति।

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ॥ ६९ ॥

यथाविध्यधिगम्यैनां शुक्लवस्त्रां शुचिब्रताम्।

मिथो भजेताप्रसवात्सकुत्सकृतावृतौ ॥ ७० ॥

वाग्दान हो जाने के बाद जि कन्या का पति मर जावे ऐसी कन्या के साथ आगे कही हुई विधि के अनुसार उसका देवर विवाह करे। वह देवर यथाविधि (विवाहोक्तविधि) से नियोग कर उस पवित्र व्रत और सपेद्द वस्त्र पहनने वाली स्त्री से गर्भधारण काल तक ऋतुकाल में एक बार समागम करे। ६९-७०।

न दत्त्वा कस्यचित्कन्यां पुनर्दद्याद्विचक्षणः ।

दत्त्वा पुनः प्रयच्छन्हि प्राप्नोति पुरुषानृतम् ॥ ७१ ॥

विधिवत्प्रतिगृह्यापि त्यजेत्कन्यां विगर्हिताम् ।

व्याधितां विप्रदुष्टां वा छद्मना चोपपादिताम् ॥ ७२ ॥

किसी को कन्या देने का वचन देकर फिर उस कन्या को ज्ञानी मनुष्य दूसरे को नहीं देता, क्योंकि एक को वचन देने के बाद दूसरे को देने से उस पुरुष को पुरुषानृत्य दोष भोगना पड़ता है। जो कन्या निन्दित, रोगिणी, कलंकित अथवा छल से अच्छी बताई गई हो, ऐसी कन्या विधि से ग्रहण करके भी त्याग की जा सकती है। ७१-७२।

यस्तु दोषवर्ती कन्यामनाख्यायोपपादयेत् ।

यस्य तद्वितथं कुर्यात्कन्यादातुर्दुरात्मनः ॥ ७३ ॥

विधाय वृत्तिं भार्यायाः प्रसवेत्कार्यवान्नरः ।

अवृत्तिकषिता हि स्त्री प्रदुष्येत्स्थितिमत्यपि ॥ ७४ ॥

जो पुरुष दोषयुक्त कन्या को दोष न बतलाकर उसे किसी को दान (ब्याह) कर दे, तो उस पुरुष उस कन्या के दाता को वापस कर दे। कार्यशील पुरुष भार्या की वृत्ति का विधान करके (अपने अर्थोपार्जन वृद्धि के लिए) देशान्तर की यात्रा करे। क्योंकि निवृत्तिक मनुष्य की स्त्री सुशीला होते हुए भी भोजनादि कष्ट से दूषित हो जाती है। ७३-७४।

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थिता ।

प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः ॥ ७५ ॥

प्रोषितौ धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽदौ नरः समाः ।

विद्यार्थं यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान् ॥ ७६ ॥

जीवनोपायन करके पति के परदेश जाने पर स्त्री को नियमपूर्वक समय बिताना चाहिए, यदि स्वामी जीवन निर्वाह का प्रबन्ध किये बिना ही परदेश चला जाय तो स्त्री को अनिन्दित शिल्प (कारीगरी) से जीवन बिताना चाहिये। यदि स्वामी धर्मकार्य (तीर्थयात्रा इत्यादि के निमित्त विदेश गया हो तो आठ वर्ष, विद्याध्ययन के निमित्त अथवा यश प्राप्ति के निमित्त गया हो तो छः वर्ष और विषयवासना के लिए गया हो तो तीन वर्ष आने तक की

प्रतीक्षा करे। ७५-७६।

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः।

ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां दायं हत्वा न संवसेत्॥ ७७॥

अतिक्रामेत्प्रमत्तं या मत्तं रोगार्तमेव वा।

सा त्रीन्सासान्यरित्याज्या विभूषणपरिच्छदा॥ ७८॥

पति से द्वेष करने वाली स्त्री की एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे। यदि एक वर्ष के बाद (उस स्त्री का द्वेष न बदले तो) पति अपने दिये हुए आभूषणादि को लेकर उसके साथ समागम न करे जो स्त्री दुर्बलता से भूले हुए अथवा मतवाले पति या रुग्ण का अनादर करे तो ऐसी स्त्री को पति उसका वस्त्राभूषणादि लेकर तीन मास तक त्याग दे। ७७-७८।

उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्।

न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम्॥ ७९॥

मद्यपाऽसाधुवृत्ता च प्रतिकूला च या भवेत्।

व्याधिता वाधिवेत्तव्या हिंस्रार्थघ्नी च सर्वदा॥ ८०॥

यदि पागल, पतित-नपुंसक, अबीज या कुष्ठ रोग आदि पाप रोगों में युक्त पति की स्त्री सेवा न करे तो उस स्त्री का आभूषण न ले और उसका त्याग भी न करे। मृदिरा पीने वाली, बुरे आचरण वाली, स्वामी के प्रतिकूल चलने वाली, रोगिणी, हिंसा करने वाली और व्यर्थ खर्च करने वाली स्त्री को त्याग देना चाहिए। ७९-८०।

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।

एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी॥ ८१॥

या रोगिणी स्यात्तु हिता संपन्ना चैव शीलतः।

सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित्॥ ८२॥

यदि स्त्री वन्ध्या अर्थात् (प्रथम रजोदर्शन से ७ वर्ष तक यदि संतान न हो) तो आठवें वर्ष में, मृतवत्सा (संतान न जीते हों) तो दशवें वर्ष में, केवल कन्या ही हो तो ग्यारहवें वर्ष में, अपुत्रिणी ही तो शीघ्र ही दूसरा ब्याह कर लेना चाहिए। जो शीलवती और रोगिणी स्त्री अपने पति में प्रेम रखती

हो तो ऐसी स्त्री का पति उस स्त्री से आज्ञा लेकर अपना दूसरा ब्याह करे कभी भी उस स्त्री का अपमान न करे। ८१-८२।

अधिविज्ञा तु या नारी निर्गच्छेद्दुषितां गृहात्।

सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसन्निधौ ॥ ८३ ॥

प्रतिषिद्धापि चेद्या तु मद्यमभ्युदयेष्वपि।

प्रेक्षासमाजं गच्छेद्वा सा दण्डया कृष्णलानिषद् ॥ ८४ ॥

जो स्त्री स्वामी के दूसरा ब्याह करने पर रुष्ट होकर घर से भागे तो उसे पकड़कर घर में बन्द कर देना चाहिए या उसको उसके बाप के घर पहुँचा देना चाहिए। जो स्त्री पति के निषेध करने पर भी उत्सवों में मदिरा पान करे या खेल तमाशा देखने जाय तो ऐसी स्त्री को राजा छः कृष्णल दण्ड दे। ८३-८४।

यदि स्वाश्चापराश्चैव विन्देरन्योषितो द्विजाः।

तासां वर्णक्रमेण स्राज्यैष्ठ्यं पूजा च वेश्म च ॥ ८५ ॥

भर्तुः शरीरश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम्।

स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नास्वजातिः कथंचन ॥ ८६ ॥

यदि द्विजाति किसी स्वजातीय और विजातीय दोनों कन्या से विवाह कर ले तो उनमें वर्णक्रम से श्रेष्ठ और लघु का विचार करना चाहिए और उसी क्रम से भूषणादि व्यवस्था करनी चाहिए। पति के शरीर की सेवा और नित्य कार्य स्वजाति की स्त्री करे। विजातीय स्त्री कभी न करे यह सभी के लिए नियम हैं। ८५-८६।

यस्तु तत्कारयेन्मोहात्सजात्या स्थितयान्यया।

यथा ब्राह्मणचाण्डालः पूर्वदृष्टस्तथैव सः ॥ ८७ ॥

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।

अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

जो पुरुष स्वजाति की स्त्री रखते हुए मोह से विजातीय स्त्री से अपनी सेवा कराता है, वह पुरुष जैसे ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न ब्राह्मण चाण्डाल होता है उसके तुल्य होता है। ऐसा पूर्व ऋषियों ने कहा है। स्वजातीय उत्तम

कुल और सुन्दर वर प्राप्त हो जाय तो विवाह करने योग्य कन्या का विवाह यथाविधि कर देना चाहिए। ८७-८८।

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि।

नचैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ ८९॥

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमायुतुमती सती।

ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९०॥

ऋतुमती होते हुए भी कन्या का आजीवन पिता के घर में अविवाहित रखना श्रेष्ठ है, किन्तु मूर्ख, गुणहीन वर के साथ कभी उसका ब्याह न करे। सती कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक अच्छे वर की प्रतीक्षा करे इसके बाद (अच्छे वर के अभाव में) अपनी जाति और गुणवाले वर का स्वयं वरण करे। ८९-९०।

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम्।

नैनः किञ्चिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति॥ ९१॥

अलंकारं नाददीत पीत्र्यं कन्या स्वयंवरा।

मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तना स्याद्यादि तं हरेत्॥ ९२॥

अपने पूर्वजों (पिता-माता-भाई) के द्वारा विवाह के अभाव में यदि कन्या यथा समय स्वयं विवाह कर ले तो उस कन्या को या उसके पति को कोई पाप नहीं होता है। स्वयं वरण करने वाली कन्या अपने पितृयों (माता पिता भाई) का दिया हुआ आभूषणादि न ले यदि ले लें तो वह चोर समझी जाती हैं। ९१-९२।

पित्रे न दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्।

स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात्॥ ९३॥

त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।

त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षा वा धर्मे सीदति सत्वरः॥ ९४॥

ऋतुमती कन्या से विवाह करने वाला उस कन्या के पिता को शुल्क न दे, क्योंकि ऋतुओं के प्रतिरोध से (अर्थात् संतानोत्पत्ति के निरोध से) उस कन्या के ऊपर उसका (कन्या के पिता का) स्वामित्व नहीं रह जाता है तीस वर्ष की उम्र का वर बारह वर्ष की उम्र की सुन्दर कन्या एवं चौबीस

वर्ष उम्र का वर आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे, इसमें शीघ्रता करने वाले का धर्म (गार्हस्थ्य) क्लेश पाता है। ९३-९४।

देवदत्तां पतिर्भार्या विदन्ते नेच्छयात्मनः।

तां साध्वीं विभूयान्नित्यं देवानां प्रियमाचरन्॥ ९५॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः।

तस्मात्सारणो धर्मः श्रुतौ पत्या सहोदितः॥ ९६॥

पति अपनी इच्छा से पत्नी को नहीं पाता है किन्तु देवता से दी हुई स्त्री पाता है। इसलिए देवताओं के प्रसन्नतार्थ उस सती स्त्री का नित्य पालन करे। ब्रह्मा ने जन्म देने के लिए स्त्री को और आधान करने के लिए पुरुष को बनाया है इसलिए स्त्री के साथ साधारण धर्म भी करना चाहिए। ऐसा वेद में कहा है। ९५-९६।

कन्यायां दत्तशुल्कायां प्रियेत यदि शुल्कदः।

देवराय प्रदातव्या यदि कन्यानुमन्यते॥ ९७॥

आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं हतरं ददम्।

शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छत्रं दुहितृविक्रयम्॥ ९८॥

कन्या के लिए शुल्क देने वाला यदि विवाह के पहले ही मर जाय तो कन्या की अनुमति से उसे उसके देवर के साथ ब्याह देवें। कन्यादान के लिए शूद्र भी शुल्क न ले क्योंकि शुल्क लेने वाला कन्यादान के बहाने से छिपकर कन्या का विक्रय करता है। ९७-९८।

एतत्तु न परे चक्रर्नापरे जातु साधवः।

यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते॥ ९९॥

नानुशश्रुम जात्वेतत्त्वेष्वपि हि जन्मसु।

शुल्कसंज्ञेन मूल्येनं छत्रं दुहितृविक्रयम्॥ १००॥

ऐसा कार्य पहले किसी ने न किया और न वर्तमान में कोई कर रहा है जो किसी को कन्या देने का निश्चय करके और को दे दे। हमने पूर्व में भी कभी यह नहीं सुना कि शुल्क के अन्दर किसी ने कन्या विक्रय को छिपाया हो। ९९-१००।

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरान्तिकः ।

एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥

तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृत कृक्रियौ ।

यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्तावितरेतरम् ॥ १०२ ॥

दोनों स्त्री पुरुष आमरण (जब तक जीवें) पस्पर मेल के साथ सभी धर्मादि कार्यों में सहयोग देते हुए रहें, यही स्त्री पुरुष का संक्षेप में धर्म है। दोनों स्त्री-पुरुषों को सदा ऐसे यत्न से रहना चाहिए जिससे अलग-अलग रहते हुए भी धर्मादि कृत्यों में कोई किसी के विरुद्ध आचरण न करे। १०१-१०२।

एष स्त्रीपुंसयोरुक्तो धर्मो वो रतिसंहितः ।

आपद्यपत्यप्राप्तिश्च दायभागं निबोधेत ॥ १०३ ॥

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम् ।

भजेरन्यैतुकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः ॥ १०४ ॥

यह स्त्री-पुरुषों का रति संयुक्त धर्म और आपद अवस्था संतानोत्पत्ति का नियम कहा, अब दायभाग को कहता हूँ। माता-पिता के मरने के बाद सभी भाई ब्याप के धन को आपस में बराबर-२ बाँट लें। माता-पिता के जीवित अवस्था में उन्हें धन बाँटने का कोई अधिकार नहीं है। १०३-१०४।

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः ।

शेषास्तुमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥ १०५ ॥

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्रीभवति मानवः ।

पितृणामनुश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥ १०६ ॥

भाईयों में सबसे ज्येष्ठ जो हो वह पिता के सम्पूर्ण धन को ग्रहण करे और शेष भाईयों को उसे पिता के तुल्य समझते हुए उसके आधीन रहना चाहिए। ज्येष्ठ पुत्र होने से मनुष्य पुत्रवान होता है और पितृ ऋण से मुक्त हो जाता है इसलिए वह पिता के सम्पूर्ण धन पाने का अधिकारी होता है। १०५-१०६।

यस्मिन्नृणं संनयति येन चात्रत्यश्नुते ।

स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥ १०७ ॥

पित्रेव पालयेत्पुत्राज्येष्ठो भ्रातन्यवीयसः।

पुत्रवचापि वर्तेज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः॥ १०८॥

जिसके जन्म होने से पिता पितृ ऋण से मुक्त होकर और मोक्ष को प्राप्त होता है, उसे धर्मपुत्र और अन्य को कामज पुत्र कहते हैं जिस प्रकार से पिता अपने पुत्रों का पालन करता है उसी प्रकार से जेठा भाई अपने छोटे भाइयों का पालन करे और छोटे भाई भी जेठे भाई के साथ पुत्र की तरह प्रेम के साथ व्यवहार करें। १०७-१०८।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः।

ज्येष्ठः पूज्यतमो लोके ज्येष्ठः सद्भिर्गर्हितः॥ १०९॥

यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यान्मातेव स पितेव सः।

अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात्स संपूज्यस्तु बन्धुवत्॥ ११०॥

जेठा भाई कुल को बढ़ा सकता है और नाश भी कर सकता है। संसार में जेठा भाई पूजनीय माना जाता है कोई भी सज्जन व्यक्ति उसकी निन्दा नहीं करता है। जो जेठा भाई अपने छोटे भाइयों के साथ अपने धर्म के अनुसार व्यवहार करता है वह माता-पिता के समान ही पूजनीय होता है किन्तु जो अपने धर्म के अनुसार व्यवहार नहीं करता है। वह अन्य बन्धुओं के समान आदरणीय होता है। १०९-११०।

एवं सह बसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया।

पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्भर्त्या पृथक्क्रिया॥ १११॥

ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्धरम्।

ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः॥ ११२॥

इस प्रकार सभी भाई एक साथ रहें या धर्म क्रिया की इच्छा से अलग-अलग रहें। अलग रहने से धर्म की वृद्धि होती है। इसलिए आपस में विभाग क्रिया धर्म संगत है। सम्पूर्ण धन का बीसवाँ (१/२०) और सभी वस्तुओं में उत्तम वस्तु जेठे भाई को और उसका आधा (अर्थात् १/४० भाग) मझले भाई को और चौथाई (यानि १/४०) छोटे भाई को देना चाहिए शेष में सभी को बराबर बाँट लेना चाहिए। १११-११२।

ज्येष्ठश्चैव कनिष्ठश्च संहरेतां यथोदितम्।

येऽन्ये ज्येष्ठकनिष्ठाभ्यां तेषां स्यान्मध्यमं धनम् ॥ ११३ ॥

सर्वेषां धनजातानामाददीताग्रयमग्रजः।

यच्च सातिशयं किञ्चिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम् ॥ ११४ ॥

जेठा और सबसे छोटा भाई ऊपर के कहे अनुसार धन को लें इन दोनों के बीच के जो भाई हैं वे सभी मझले के बराबर भाग (१/४०) लेवें। जेठा भाई सभी धनों में से उत्तम, सभी वस्तुओं में से उत्तम वस्तु और दश पशुओं में से एक उत्तम पशु लेवें।

उद्धारो न दशस्वस्ति संपन्नानां स्वकर्मसु।

यत्किञ्चिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम् ॥ ११५ ॥

एवं समुद्धृतोद्दारे समानं शान्त्रकल्पयेत्।

उद्दारेऽनुद्धृते त्वेषामियं स्यादंशकल्पना ॥ ११६ ॥

यदि सभी भाई समान गुण वाले हों तो ऊपर कहे हुए दश पशुओं में से एक श्रेष्ठ पशु जेठे भाई को देना चाहिए वह न ले, किन्तु उसके सम्मान के लिए औरों से कुछ विशेष दे देवे। इस प्रकार सभी भाइयों को पूर्व निर्णयानुसार अपने-अपने भागों को ले लेने पर जो बच जाये उसे आपस में बराबर-बराबर बाँट लें। यदि पूर्व निश्चयानुसार भाग न मिले हों तो आगे के नियम के अनुसार धन को बाँट लेवें। ११५-११६।

एकाधिकं हरेज्येष्ठः पुत्रोऽध्यर्थं ततोऽनुजः।

अंशमंशं यवीयांस इति धर्मो व्यवस्थितः ॥ ११७ ॥

व्येभ्योऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्याद्भ्रातरः पृथक्।

स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतितां स्युरदित्सवः ॥ ११८ ॥

जेठा भाई दो भाग और इससे छोटा भाई डेढ़ भाग इसके बाद जितने छोटे भाई हों वे सब एक-एक अंश लें यह धर्मानुसूल विभाग है। कन्या (अविवाहिता बहनों को) सभी भाई अपने भागों में से अलग दें। जो भाई बहन के विवाह के लिए अपने धन का चौथा भाग नहीं देते वे पतित होते हैं। ११७-११८।

अजाविकं सैकशफं न जातु विषमं भजेत्।

अजाविकं तु विषमं ज्येष्ठस्यैव विधीयते ॥ ११९ ॥

यवीयाञ्ज्येष्ठभार्यायां पुत्रमुत्पादयेद्यदि।

समस्तत्र विभागः स्यादिति धर्मो व्यवस्थितः ॥ १२० ॥

भेड़, बकरी और घोड़ा आदि पशुओं को बराबर-२ बाँट लें। यदि बराबर बाँटने से शेष बचे तो वह ज्येष्ठ भाई को दे दें। किन्तु उन्हें बेचकर उनके मूल्यों का बटवारा न करें। यदि छोटे भाई की स्त्री पुत्र उत्पन्न करे तो उस पुत्र को अपने चाचा के समान ही हिस्सा मिलेगा, यह धन की व्यवस्था धर्मतः नियम है। ११९-१२०।

उपसर्जनं प्रधानस्य धर्मतो नोषपद्यते।

पिता प्रधानं प्रजने तस्माद्धर्मेण तं भजेत् ॥ १२१ ॥

पुत्रः कनिष्ठो ज्येष्ठायां कनिष्ठायां च पूर्वजः।

कथं तत्र विभागः स्यादिति चेत्संशयो भवेत् ॥ १२२ ॥

वह पुत्र ज्येष्ठ भाई का क्षेत्रज होने के कारण ज्येष्ठ के समान धन का भाग नहीं पा सकता है। क्योंकि संतानोत्पत्ति में पिता ही प्रधान होता है। इसलिए वह अपने चाचा के अनुसार ही धन के भाग को पाने का अधिकारी है। यदि प्रथम विवाह से स्त्री से छोटा पुत्र हो और द्वितीय विवाह की स्त्री से ज्येष्ठ पुत्र हो (यानि पहले दूसरी स्त्री से पुत्र हो और पीछे पहली स्त्री से) तो धन का बटवारा किस प्रकार किया जाएगा ऐसा संशय हो तो—

एकं वृषभमुद्धारं संहरेत स पूर्वजः।

ततोऽपरे ज्येष्ठवृषास्तदूनानां स्वमातृतः ॥ १२३ ॥

ज्येष्ठस्तु जातो ज्येष्ठायां हरेद्वृषभषोडशः।

ततः स्वमातृतः शेषा भजेरन्निति धारणा ॥ १२४ ॥

पूर्वज (पहली स्त्री से उत्पन्न बालक) अपने हिस्से में एक बैल अधिक ले। इसके बाद शेष भाई अपनी माताओं की छोटाई-बड़ाई के अनुसार अपना-अपना हिस्सा लेवें। यदि ज्येष्ठ स्त्री में ज्येष्ठ पुत्र हो तो वह अपने हिस्से में पन्द्रह गौ और एक बैल ले, इसके बाद अन्य भाई अपनी-अपनी माता की ज्येष्ठता के अनुसार धन का विभाग करें। १२३-१२४।

सदृशस्त्रीषु जातानां पुत्राणामविशेषतः।

न मातृतो ज्येष्ठयमस्ति जन्मतो ज्येष्ठयमुच्यते ॥ १२५ ॥

जन्मज्येष्ठेन चाह्वानं सुब्रह्मण्यास्वपि स्मृतम्।

यमयोश्चैव गर्भेषु जन्मतो ज्येष्ठता स्मृता ॥ १२६ ॥

सजातीय स्त्रियों में जो पुत्र उत्पन्न होते हैं उनमें विशेषता न होने के कारण माता ज्येष्ठ होने पर भी उनकी ज्येष्ठता नहीं होती है किन्तु जन्म से ही इनकी बड़ाई-छोटाई होती है। (ज्योतिष्ठोमादि यज्ञों में) 'सुब्राह्मण्या' इत्यादि मन्त्र से जन्म से ज्येष्ठ पुत्र द्वारा ही पितरों का आवाहन होता है। यमल गर्भ से उत्पन्न बालकों में भी जिसका जन्म पहले होता है, वह बड़ा होता है। १२५-१२६।

अपुत्रोऽनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकांम्।

यतपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम् ॥ १२७ ॥

(अभातृकां प्रदास्यामि तुभ्यंकन्यामलंकृताम्।

अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति।)

अनेन तु विधानेन पुरा चक्रेऽथ पुत्रिका।

विवृद्धयर्थं स्ववंशस्य स्वयं दक्षः प्रजापतिः ॥ १२८ ॥

पुत्रहीन मनुष्य अपनी कन्या को इस प्रकार से पुत्रिका करे कि इस कन्या को पुत्र होगा वह मेरा श्राद्ध करेगा। (मैं आभूषण से युक्त भ्रातृहीन इस कन्या को तुम्हें दे रहा हूँ। इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मेरे के सदृश होगा)। इसी विधि से पहले दक्षप्रजापति ने अपने वंश की वृद्धि के लिए पुत्रिका दी थी। १२७-१२८।

ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश।

सोमाय राज्ञे सत्कृत्य प्रीतात्मा सप्तविंशतिम् ॥ १२९ ॥

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।

तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥ १३० ॥

दक्ष प्रजापति ने प्रसन्न होकर दश कन्यायें धर्मराज को, तेरह कश्यप को और सत्ताइस कन्यायें द्विजराज चन्द्रमा को दी थीं। जैसे आत्मा और पुत्र समान हैं, उसी प्रकार पुत्र और पुत्री समान हैं। इसलिए आत्मा के सदृश

कन्या रहते दूसरा धन को कैसे ले सकता है। १२९-१३०।

मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः।

दौहित्र एव च हरेदपुत्रस्याखिलं धनम्॥ १३१॥

दौहित्रो ह्यखिलं रिक्थमपुत्रस्य पितुहरेत।

स एव दद्याद्द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च॥ १३२॥

माता के विवाह के समय आभूषणादिक जो उनके पिता इत्यादि से मिले हैं वह सम्पूर्ण उनको अविवाहित कन्याओं को मिलना चाहिए और पुत्रहीन नाना का सम्पूर्ण धन उसके दौहित्र (लड़की के लड़के को) लेना चाहिए। अपुत्रवान पिता का भी सम्पूर्ण धन उसके दौहित्र को ही मिलना चाहिए और वही दौहित्र पिता और मातामह दोनों को पिण्ड देवे। १३१-१३२।

पौत्रदौहित्रौर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः।

तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः॥ १३३॥

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते।

समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठतानास्ति हि स्त्रियां॥ १३४॥

संसार में पौत्र और दौहित्र में धर्मतः कोई पवित्रता नहीं है, क्योंकि उन दोनों के माता-पिता एक ही शरीर से उत्पन्न हुए हैं। पुत्रिका कर लेने के बाद यदि पुत्र का जन्म हो तो दोनों को धन का विभाजन समान करना चाहिए, कन्या की ज्येष्ठता नहीं होती है। १३३-१३४।

अपुत्रायां मृतायां तु पुत्रिकायां कथंचन।

धनं तत्पुत्रिकाभर्ता हरेतैवाविचारयन्॥ १३५॥

अकृता वा कृता वापि यं विन्देत्सदृशात्सुतम्।

पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्भनम्॥ १३६॥

यदि दैवात् पुत्रिका बिना पुत्र के ही मर जाय तो उस अवस्था में बिना विचार किए हुए ही धन (जिसकी पुत्रिका अधिकारी थी) उसका पति ले ले। मातामह पुत्रिका करे या न करे। यदि उसकी कन्या को समान जातीय पति से पुत्र उत्पन्न हो तो उसी पुत्र से मातामह पौत्रवान होगा और वही मातामह का पिण्डदान करके धन का भागी होता है। १३५-१३६।

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते ।

अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रह्मस्याप्नोति विष्टपम् ॥ १३७ ॥

पुनाम्नो नरकाद्यस्यमात्त्रायते पितरं सुतः ।

तस्मात्पुत्र इति प्रोक्ताः स्वयमेव स्वयंभुवा ॥ १३८ ॥

पुत्र के जन्म से मनुष्य (स्वर्गादि) को पाता है और पौत्र के जन्म से दीर्घकाल तक स्वर्ग में रहता है और प्रपौत्र के उत्पन्न होने से सूर्यलोक को पाता है। लड़का (पु) नामक नरक से पितरों का उद्धार करता है, इसलिए स्वयं ब्रह्मा जी ने लड़के को पुत्र कहा है। १३७-१३८।

पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते ।

दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैवं संतापयति पौत्रवत् ॥ १३९ ॥

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वर्ततेपुत्रिकासुतः ।

द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥ १४० ॥

संसार में पौत्र और दौहित्र में विशेषता नहीं है, दौहित्र में पिण्डदानादि क्रियाओं से मातामह का उसके अनुसार ही परलोक में उद्धार करता है। पुत्रिका का पुत्र (दौहित्र) पहला पिण्ड माता को, दूसरा मातामह (नाना) को और तीसरा प्रमातामह (पर नाना) को दे। १३९-१४०।

उपपन्नो गुणैः सर्वैः पुत्रो यस्य तु दत्त्रिमः ।

स हरेतैव तद्रिक्थं संप्राप्तोऽप्यन्यगोत्रतः ॥ १४१ ॥

गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्त्रिमः क्वचित् ।

गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥ १४२ ॥

जिसका दत्तक पुत्र सभी गुणों से सम्पन्न है वह दूसरे गोत्र से आने पर भी पिता के सब धन का अधिकारी होता है। दत्तक पुत्र को उसके जन्म काल के गोत्र और धन से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। जिसका वह दत्तक है, उसी को उसका पिण्डदान दिया हुआ प्राप्त होता है। किन्तु उसके जन्मदाता पिता को उससे पिण्डदान पाने का हक नहीं रहता है। १४१-१४२।

अनियुक्तासुतश्चैव पुत्रिण्डयाप्तश्च देवरात् ।

उभौ तौ नार्हतौ भागं जारचातककामजौ ॥ १४३ ॥

नियुक्तायामपि पुमान्नाथं जातोऽविधानतः।

नैवार्हः पैतृकं रिक्थं पतितोत्पादितो हि सः॥ १४४॥

विधान के अनुसार नियोग के बिना या अपुत्रिणी यदि देवर से पुत्र उत्पन्न कर ले तो ये दोनों पुत्र धन के भागी होते हैं क्योंकि पहला जारज और दूसरा कामज होता है। अविधि से नियुक्ता स्त्री में भी उत्पन्न पुत्र पिता के धन का भागी नहीं होता है। क्योंकि वह पतित से उत्पन्न हुआ है। १४३-१४४।

हरेत्तत्र नियुक्तायां जातः पुत्रो यथौरसः।

क्षेत्रकस्य तु तद्बीजं धर्मतः प्रसवश्च सः॥ १४५॥

धनं यो बिभृयाद्भातुर्मृतस्य स्त्रियमेव च।

सोऽपत्यं भातुरुत्पाद्य दद्यात्तस्यैव तद्धनम्॥ १४६॥

शास्त्रीय विधान के अनुसार नियुक्ता स्त्री में जो पुत्र उत्पन्न होता है, वह पिता के धन का अधिकारी होता है। क्योंकि वह धर्मतः क्षेत्रज से उत्पन्न किया हुआ है। भाई के मरने के बाद जो भाई उसकी स्त्री और धन की रक्षा करे वह भाई की स्त्री में शास्त्रीय रीति से पुत्र उत्पन्न कर भाई का धन दे दे। १४५-१४६।

या नियुक्तान्ततः पुत्रं देवराद्वाप्यवाप्नुयात्।

यं कामजमरिक्थीयं दृथोत्पन्नं प्रचक्षते॥ १४७॥

एतद्विधानं विज्ञेयं विभागस्यैकयोनिषु।

वह्नीषु चैकजातानां नानास्त्रीषु निबोधत॥ १४८॥

जो स्त्री बड़े लोगों से नियुक्त होने पर भी या देवर या अन्य किसी से पुत्र उत्पन्न करावे यदि वह कामज पुत्र हो तो वह पितृधन का अधिकारी नहीं होता। क्योंकि पंडितों ने उसके जन्म को वृथा कहा है। यह सजातीय स्त्रियों में उत्पन्न हुए पुत्रों के विभाग की व्यवस्था कह रहा हूँ। १४७-१४८।

ब्राह्मणस्यानुपूर्व्येण चतस्रस्तु यदि स्त्रियः।

तासां पुत्रेषु जातेषु विभागेऽयं विधिः स्मृतः॥ १४९॥

कीनाशौ गोवृषो यानमलंकारश्च वेश्म च।

विप्रस्यौद्धारिकं देयमेकांशश्च प्रधानतः॥ १५०॥

यदि ब्राह्मण को चारों वर्णों की स्त्रियाँ हों, और चारों को पुत्र हों, तो उनके विभाग की व्यवस्था इस प्रकार है स्वजातीय स्त्री से उत्पन्न पुत्र को खेती करने लायक श्रेष्ठ बैल, सवारी लायक घोड़ा, आभूषण-मकान, अन्य विभागीय वस्तुओं में से एक श्रेष्ठ वस्तु देना चाहिए। और शेष धन का विभाग अन्य लोग इस प्रकार करें। १४९-१५०।

त्र्यंशं दायाद्धरेद्विप्रो द्वावंशौ क्षत्रियासुतः।

वैश्याजः सार्धमेवांशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥ १५१॥

सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधा परिकल्प्य च।

धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधिनानेन धर्मवित्॥ १५२॥

सम्पूर्ण धन का तीसरा भाग ब्राह्मणी का पुत्र, दो भाग क्षत्राणी का पुत्र। डेढ़ भाग वैश्य का पुत्र और एक भाग शूद्र का पुत्र लेवे। अथवा धर्मज्ञ महात्मा लोग सम्पूर्ण धन का दश भाग करके आगे कही हुई विधि के अनुसार धन को बाँट दें। १५१-१५२।

चतुरोऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः ।

वैश्यपुत्रो हरेद्द्वयंशमंशं शूद्रासुतो हरेत्॥ १५३॥

यद्यपि स्यात्त सन्पुत्रोऽप्यसत्पुत्रोऽपि वा भवेत्।

नाधिकं दशमाश्वद्याञ्छूद्रापुत्राय धर्मता॥ १५४॥

ब्राह्मणी के पुत्र को चार भाग, क्षत्रिय के पुत्र को तीन भाग, वैश्य के पुत्र को दो भाग और शूद्रा के पुत्र को एक भाग देवे। ब्राह्मण की द्विजातीय स्त्रियों से पुत्र हों या न हों किन्तु शूद्रों के पुत्र को दसवें भाग से अधिक न दें। १५३-१५४।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्रापुत्रो न रिक्थभाक्।

यदेवास्य पिता दद्यात्तदेवास्य धनं भवेत्॥ १५५॥

समवर्णासु ये जाता सर्वे पुत्रा द्विजन्मनाम्।

उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम्॥ १५६॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य से शूद्र का जो पुत्र उत्पन्न हो वह उनके धन के पाने का हकदार होगा। किन्तु पिता जो कुछ दे दे वही उसका धन होता है। द्विजातियों को सजातीय स्त्रियों में जितनी सन्तान हों वे बड़े को उसका

ज्येष्ठौश देकर शेष बराबर बाँट लें। १५५-१५६।

शूद्रस्य तु सवर्णैव नान्या भार्या विधीयते।

तस्यां जाताः समांशाः स्युर्यदि पुत्रशतं भवेत्॥ १५७॥

पुत्रान्द्वादश यानाह नृणां स्वायंभुवो मनुः।

तेषां षड्बन्धुदायादाः षडदायादबान्धवाः॥ १५८॥

शूद्र को सवर्ण की स्त्री नहीं करनी चाहिए उसको अन्य वर्ण की स्त्री करने का अधिकार नहीं है। इसलिए यदि उस स्त्री से एक सौ पुत्र भी हों तो उनको पिता की सम्पत्ति बराबर ही मिलेगी। स्वायम्भुव मनु ने मनुष्यों के जो बारह पुत्र कहे हैं उनमें छः सगोत्र के दायभागी और बाँधव हैं और शेष छः केवल बाँधव होते हैं। १५७-१५८।

औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृत्रिम एव च।

गूढोत्पन्नोऽपविद्धश्च दायदा बान्धवाश्च षट्॥ १५९॥

कानीनश्च सहादश्च क्रीतः पौनर्भवस्तथा।

स्वयं दत्तश्च शौद्रश्च षडदायादबान्धवाः॥ १६०॥

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपवित्र छः पुत्र सगोत्र और बाँधव होते हैं। कानीन, सहाद, क्रीत, पौनर्भव, स्वयदत्त और शौद्र, ये पुत्र केवल बाँधव होते हैं। जो पुत्र सगोत्र और बाँधव दोनों हैं वे धन के भागी होते हैं, उससे भिन्न जो हैं, वे धन भागी नहीं होते हैं। १५९-१६०।

यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरञ्जलम्।

तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रः संतरंस्तमः॥ १६१॥

यद्येकरिक्थिनौ स्यातामौरसक्षेत्रजौ सुतौ।

यस्य यत्पैतृकं रिक्थं स तद्गृहीत नेतरः॥ १६२॥

जैसे खरब नाव से जल को पार करने वाला पार नहीं हो पाता है उसी प्रकार कुपुत्र से मनुष्य भवसागर को पार करने में सफल नहीं होता है। यदि एक ही धन के औरस और क्षेत्रज दोनों अधिकारी हों तो जिस पुत्र के पिता का धन है वही उसको पा सकता है दूसरा पुत्र नहीं पा सकता। १६१-१६२।

एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः।

शेषाणामानृशंस्यार्थं प्रदद्यात्त प्रजीवनम्॥ १६३॥

पष्ठं तु क्षत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात्।

औरसौ विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥ १६४ ॥

एक औरस पुत्र ही पिता की सम्पत्ति का अधिकारी होता है शेष पुत्रों को निर्धनता के निवारणार्थ जीविका का उपाय कर देना चाहिए। पिता के धन का विभाग करते समय औरस पुत्र, क्षेत्रज को धन का छठा या पाँचवां भाग दे। १६३-१६४।

औरसक्षेत्रजो पुत्रौ पितृरिव्थस्य भागिनौ।

दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिव्थांशभागिनः ॥ १६५ ॥

स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम्।

तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ १६६ ॥

पिता के धन के उत्तराधिकारी औरस और क्षेत्रज पुत्र ही होते हैं। अन्य दस प्रकार के पुत्र गोत्र धन के अनुसार क्रम से (एक के बाद दूसरा) अधिकारी होता है। वैदिक रीति से संस्कारित अपनी स्त्री में जो पुत्र स्वयं उत्पन्न करता है, वही सब पुत्रों में श्रेष्ठ औरस पुत्र होता है। १६५-१६६।

यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा।

स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजा स्मृता ॥ १६७ ॥

माता पिता वा दद्यातां यमदिभा पुत्रमापदि।

सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्त्रिमः सुतः ॥ १६८ ॥

मरे हुए, रुग्ण या नपुंसक पति की स्त्री में शास्त्रोक्त रीति से नियोग द्वारा जो पुत्र उत्पन्न होता है—उसे क्षेत्रज कहते हैं। माता पिता जिस सजातीय पुत्र को अपनी खुशी से जलोत्सर्ग द्वारा किसी पुत्रभावरूपी आपद्ग्रस्त को देते हैं, उस पुत्र को दत्तक पुत्र कहते हैं। १६७-१६८।

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविचक्षणम्।

पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयश्च कृत्रिमः ॥ १६९ ॥

उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः।

स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥ १७० ॥

सजातीय गुणदोष के जानने वाले पुत्र के गुणों से युक्त पुत्र को अपना पुत्र मानकर रखा जाता है—उसे कृत्रिम पुत्र कहते हैं। जो पुत्र किसी की

स्त्री में सुवर्णी जार से उत्पन्न हो, ठीक-२ विदित न हो कि वह किसका है, ऐसे पुत्र को गूढ़ोत्पन्न कहते हैं और वह पुत्र उसी का माना जाएगा जिसकी स्त्री में उत्पन्न हुआ है। १६९-१७०।

मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा।

यं पुत्रं परिगृहीयादपविद्धः स उच्यते॥ १७१॥

पितृवेशमनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेद्रहः।

तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुदभवम्॥ १७२॥

माता पिता दोनों से या किसी एक से त्यागे हुए पुत्र का जो पालन पोषण करके पुत्रवत् रखता है—वह उसका अवविद्ध पुत्र कहलाता है। पिता के घर में गुप्त रूप से जो कुमारी कन्या पुत्र को उत्पन्न करती है वह पुत्र उसका होता है, जो उससे विवाह करता है। किन्तु उस पुत्र को कानीन पुत्र कहते हैं। १७१-१७२।

या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताज्ञातापि वा सती।

वोढुः स गर्भोभवति सहोढ इति चोच्यते॥ १७३॥

क्रोणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमनिकात्।

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥ १७४॥

जानते हुए या अनजान में जो गर्भवती कन्या के साथ विवाह कर लेता है, उस गर्भ से उत्पन्न पुत्र को सहोढ पुत्र कहते हैं। जो पुत्र कुछ मूल्य देकर माता-पिता से खरीदा जाता है, वह सजातीय हो अथवा विजातीय हो वह क्रीत पुत्र कहा जाता है। १७३-१७४।

या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।

उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥ १७५॥

सा चेदक्षतयोनिः स्यादगतप्रत्यागतापि वा।

पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥ १७६॥

जो स्त्री पति से त्याग दी जाने पर अथवा विधवा होने पर या स्वयं दूसरे की स्त्री होकर पुत्र उत्पन्न करे, तो वह पुत्र पैदा करने वाले का पौनर्भव पुत्र कहलाता है। पूर्वोक्त विधवा यदि अक्षतयोनि (अर्थात् विवाह के बाद पति से संगम नहीं हुआ और विधवा हो गई हो) अथवा ऐसी अवस्था में

पति से त्याग दी गई हो और फिर पति के पास आ जाय तो दोनों स्थिति में पुनः विवाह संस्कार हो सकता है इसी कारण वह स्त्री पुनर्भू कही जायेगी। १७५-१७६।

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात्।

आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः॥ १७७॥

यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायां कामादुत्पादयेत्सुतम्।

स पारयन्नेव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः॥ १७८॥

जो पुत्र मातृ-पितृ से हीन है अथवा अकारण ही उनसे त्याग दिया गया हो वह जिसे अपने को सौंप दे, उसका वह स्वयंदत्त पुत्र कहा जाता है। जिस पुत्र को काम वश होकर ब्राह्मण शूद्रा में उत्पन्न करता है, उस पुत्र को पारशव कहते हैं। क्योंकि वह जीता हुआ भी शव (मुर्दे) के समान है। १७७-१७८।

दास्यां वा दासदास्यां वा यः शूद्रस्य सुतो भवेत्।

सोऽनुज्ञातो हरेदंशमिति धर्मो व्यवस्थितः॥ १७९॥

क्षेत्रजादीन्सुतानेतानेकादश यथोदितान्।

पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः॥ १८०॥

दासी में या दास की दासी में शूद्र का जो पुत्र हो वह पिता की आज्ञा से धन का समभाग ले, यही धर्म की व्यवस्था है। पंडितों ने पूर्वोक्त ग्यारह प्रकार के पुत्रों को पुत्र का प्रतिनिधि रूप कहा है जिससे पितरों की क्रिया का लोप न हो। १७९-१८०।

य एतेऽभिहिताः पुत्राः प्रसंगादन्बीजजाः।

यस्य ते बीजतो जातास्तस्य ते नेतरस्य तु॥ १८१॥

भातृणामेकातानामेकश्चेत्पुत्रवान्भवेत् ।

सर्वास्तांस्तेन पुत्रेण पुत्रिणो भनुरब्रवीत्॥ १८२॥

प्रसंगानुसार जो ये पुत्र कहे गए हैं (उनमें औरस के विचार में) इनमें दो दूसरे बीज से उत्पन्न हुए हैं जिनके बीज से उत्पन्न हुए हैं वे उन्हीं के पुत्र होंगे दूसरे के नहीं। एक ही माता-पिता से उत्पन्न अनेक भाइयों में से यदि एक ही भाई पुत्रवान हो तो उसी एक पुत्र से सभी पुत्रवान होंगे, ऐसा

मनु जी ने कहा है। १८१-१८२।

सर्वासामेकपत्नीनामेका चेतुत्रिणी भवेत्।

सर्वास्तास्तेन पुत्रेण प्राह पुत्रवतीर्मनुः॥ १८३॥

श्रेयसः श्रयसोऽलाभे पापीयान्निवृत्तमर्हति।

बहवश्चेतु सदृशाः सर्वे रिक्थस्य भागिनः॥ १८४॥

सभी सपत्नियों में से यदि एक ही को पुत्र हो तो उसी एक ही पुत्र से सभी पुत्रवती होती हैं ऐसा मनु ने कहा है। यदि श्रेष्ठ पुत्र में श्रेष्ठता का अभाव हो तो छोटे पुत्रों में जो श्रेष्ठ हो वही पिता के धन का अधिकारी होता है। यदि छोटे पुत्रों में सभी समान गुण वाले हों तो सभी धन पाने के योग्य अधिकारी होते हैं। १८३-१८४।

न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहरा पितः।

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च॥ १८५॥

त्रयाणामुद्रकं कार्यं त्रियु पिण्डः प्रवर्तते।

चतुर्थः सम्प्रदातैषां पञ्चमो नोपद्यते॥ १८६॥

पिता के भाई, पिता या चाचा उसके धन को नहीं पा सकते हैं पुत्र ही धन का अधिकारी होता है। यदि पिता निःसन्तान ही मर जाय तो उसके धन को उसका पिता ले सकता है। तीनों (पिता, पितामह, प्रपितामह) को जूल और पिंड देने का अधिकार एक चौथा पुरुष (पुत्र) ही होता है, पाँचवां कोई व्यक्ति नहीं होता। १८५-१८६।

अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत्।

अत ऊर्ध्वं सकुल्यः स्यादाचार्यः शिष्य एव वा॥ १८७॥

सर्वेषामप्यभावे तु ब्राह्मणा निरिक्थभागिनः।

त्रैविद्याः शुचयो दान्तास्तथा धर्मो न हीयते॥ १८८॥

इसके बाद पूर्वोक्त धनाधिकारियों के न रहने पर सपिण्ड में जो जितना हही समीपी होता है वह सगोत्र के धन का उतना ही अधिक अधिकारी होता है। पूर्वोक्त अधिकारियों के अभाव में तीनों वेदों के ज्ञाता शुद्ध हृदय जितेन्द्रिय जो ब्राह्मण हों वे ही धन के अधिकारी होते हैं, इसमें धर्म की हानि नहीं होती है। १८७-१८८।

अहाय ब्राह्मणद्रव्यं नित्यमियि स्थितिः।

इतरेषां च वर्णानां सर्वाभावे हरेवृषः॥ १८९॥

संस्थितस्यानपत्यस्य सगोत्रात्पुत्रमाहरेत्।

तत्र यद्विकथजातं स्यात्तत्तस्मिन्प्रतिपादयेत्॥ १९०॥

निःसन्तान ब्राह्मण का धन राजा को नहीं लेना चाहिए, यह शास्त्र की मर्यादा है। अन्य वर्णों के अधिकारियों के न होने पर उनका धन राजा ले सकता है। सन्तानहीन पति के मरने के बाद स्त्री सगोत्र से यथाविधि सन्तान लेकर (उत्पन्न करके) पति के धन को उस पुत्र को दे दे। १८९-१९०।

द्वौ तु यौ विवदेयातां द्वाभ्यां जातो स्त्रिया धने।

तयोर्यद्यस्य पित्र्यं स्यात्तत्स गृहीत नेतरः॥ १९१॥

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।

भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः॥ १९२॥

दो पिता से एक ही माता में उत्पन्न दो पुत्र यदि माता के धन के लिए आपस में विवाद करें तो जिसके पिता का धन हो उस लड़के को धन दे देना चाहिए। माता के मरने के बाद सभी सहोदर भाई और कुमारी बहनें माता के धन को बराबर बाँट लें। १९१-१९२।

यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामति यथार्हतः।

मातामह्या धनाकिंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम्॥ १९३॥

अध्वग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।

भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ १९४॥

बहिन की कुमारी कन्याओं को भी नानी के धन में से अपनी प्रसन्नता से उनके संतोष के लिए कुछ देना चाहिए। अध्यग्नि, अध्यावाहनिक, प्रीति से दिया हुआ, भाई से, माता से और पिता से दिया हुआ धन ये छः प्रकार के स्त्री के धन होते हैं। १९३-१९४।

अन्वाघेयं च यदत्तं पत्या प्रीतेन चैव यत्।

पत्यौ जीवति वृत्तायाः प्रजायास्तद्धनं भवेत्॥ १९५॥

ब्राह्मदैवार्षगान्धवप्राजापत्येषु यद्वसु।

अप्रजायामतीतायं भर्तुरेव तदिष्यते॥ १९६॥

विवाह के बाद पितृकुल या पतिकुल से धन अन्वाधेय स्त्री को मिला है और पति ने प्रसन्न होकर स्त्री को दिया है वह सभी धन यदि पति के पहले ही स्त्री मर जाय तो उसके पुत्र को देना चाहिए। ब्राह्म, दैव, आर्य, गौधर्व और प्राजापत्य विधि से ब्याही हुई स्त्री का धन उसके निःसन्तान मरने के बाद पति का होता है ऐसा आचार्यों का मत है। १९५-१९६।

यन्त्वस्याः स्याद्भनं दत्तं विवाहेष्वासुरादिषु।

अप्रजायामतीतायां मातापित्रोस्तदिष्यते ॥ १९७ ॥

स्त्रियां तु यद्भवेद्वित्तं पित्रा दत्तं कथंचन।

ब्राह्मणी तद्धरेत्कन्या तदपत्यस्य वा भवेत् ॥ १९८ ॥

आसुरादि विवाहों में जो धन स्त्री को मिलता है, वह धन यदि स्त्री निःसन्तान ही मर जाए तो वह उसके माता-पिता का होता है। ब्राह्मण की अनेक स्त्रियों को जो धन उसके माता-पिता से मिला है यदि उनमें से कोई निःसन्तान मर जाये तो उनका धन उनकी ब्राह्मणी सौत की कन्या को और उनके न रहने पर उनकी सन्तान को मिलना चाहिए। १९७-१९८।

न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्।

स्वकादपि च वित्ताद्धि स्वस्य भर्तृनाज्ञया ॥ १९९ ॥

पत्यौ जीवति यः स्त्रीभिरलंकारो धृतो भवेत्।

न तं भजेरन्दायादा भजमानाः पतन्ति ते ॥ २०० ॥

अनेक कुटुम्बियों के धन में से स्त्रियों को धन एकत्र नहीं करना चाहिए। पति की आज्ञा बिना अपने धन में से भी कुछ जमा नहीं करना चाहिए। पति के जीवित अवस्था में स्त्रियों ने जो आभूषण पहने हों पति के मरने के बाद दामाद लोग धन बाँटते समय उन आभूषणों को न बाँटे क्योंकि बाँटने वाले पतित होते हैं। १९९-२००।

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा।

उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ २०१ ॥

सर्वेषामपि तु न्याय्यं दातुं शक्त्या मनीषिणा।

ग्रासाच्छादनमत्यन्तं पतितो ह्यददभवेत् ॥ २०२ ॥

जो लड़के नपुंसक, पतित, जन्मान्ध, जन्मबधिर, पागल, जड़, गूंगे और लूले-लंगड़े हैं वे पिता के धन के भागी नहीं होते हैं। बुद्धिमानों को इन सभी नपुंसकादिकों को यथाशक्ति उनके जीवन पर्यन्त भोजनादि देना चाहिए। न देने वाला पतित होता है। २०१-२०२।

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्कलीबादीनां कथंचन।

तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ २०३ ॥

यत्किंचित्पितरि प्रेते धनं ज्येष्ठोऽधिगच्छति।

भागो यवीयसां तत्र यदि विद्यानुपालितः ॥ २०४ ॥

कदाचित् इन नपुंसकादिकों को विवाह की इच्छा हो और उनकी स्त्रियों से क्षेत्रज्ञ पुत्र उत्पन्न हों तो वे धन के भागी होते हैं। पिता के मरने के बाद जेठा भाई जो धन प्राप्त करे तो विद्याभ्यास करने वाले छोटे भाइयों को उस धन का अंश दे, अन्य को नहीं दे। २०३-२०४।

अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत्।

समस्तत्र विभागः स्यादप्रित्र्य इति धारणा ॥ २०५ ॥

विद्याधनं तु यद्यस्य तत्स्यैव धनं भवेत्।

मत्र्यमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥ २०६ ॥

भाइयों में जो पढ़े-लिखें नहीं वे यदि किसी प्रकार के रोजगार से धन संग्रह करें तो उस धन में सभी भाइयों का समान विभाग होगा किन्तु पिता के धन में नहीं होगा। विद्या से प्राप्त जो जिसका धन होता है वह उसी का होता है। एवं मैत्री और विवाह के द्वारा तथा मधुपर्क में जो धन जिसे मिलता है वह भी उसी का होता है। २०५-२०६।

भ्रातृणां यस्तु नेहेत धनं शक्तः स्वकर्मणा।

स निर्भान्यः स्वकादंशात्किंचिद्वत्त्वोपजीवनम् ॥ २०७ ॥

अनुपघ्नन्यितृद्वयं श्रमेण यदुपार्जितम्।

स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ २०८ ॥

भाइयों में जो अपने कर्म द्वारा धन का उपार्जन करने से पितृधन में अपने अंश को न लेना चाहे तब भी उसे उसके अंश में से कुछ देकर उसे निरंश

कर देना चाहिए। पितृधन को यथाशक्ति रखकर यदि अपने परिश्रम से धन उपार्जन करे तो अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी को नहीं दे सकता। २०७-२०८।

पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्।

न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम् ॥ २०९ ॥

विभक्ताः सह जीवन्तो गिभजेरन्युर्यदि।

समस्तत्रविभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते ॥ २१० ॥

अप्राप्त पितृधन को यदि किसी प्रकार प्राप्त कर ले तो वह स्वयं उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई भी पुत्र बाँट नहीं सकता है। अलग होने के बाद एक साथ रहकर यदि फिर अलग होवे तो सभी सम्पत्ति को बराबर-बराबर बाँट ले किन्तु जेठे को ज्येष्ठौश नहीं मिलेगा। २०९-२१०।

येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः।

प्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥ २११ ॥

सोदर्या विभजेरस्तं समेत्य सहिताः समम्।

भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभय ॥ २१२ ॥

जिन भाइयों में जेठा भाई या छोटा भाई धन के बंटवारे के समय मरने या अन्य किसी कारण से अपने भाग को न ले सके तो उसका भाग लुप्त नहीं होता है। उस भाई के धन के हिस्से को उसके पुत्र को दे देना चाहिए। पुत्र के अभाव में सभी छोटे भाई-बहन आपस में उस धन को बराबर-२ बाँट लें। २११-२१२।

यो ज्येष्ठो विनिकुर्वीत लोभाद्भातृन्यवीयसः।

सोऽज्येष्ठः स्याद्भागश्च नियन्तव्यश्च राजभिः ॥ २१३ ॥

सर्व एव विकर्मस्था नार्हन्ति भ्रातरो धनम्।

न चादत्त्वा कनिष्ठेभ्यो ज्येष्ठः कुर्वीत यौतकम् ॥ २१४ ॥

जो जेठा भाई लोभ से छोटे भाइयों को ठगे वह सम्मान और ज्येष्ठौश पाने के योग्य नहीं होता है। किन्तु राजा से दण्डित होने योग्य होता है। यदि सभी भाई पतित (जुआ, वेश्यागमनादि कृत्यों को करने वाले) हों तो पितृधन के भागी नहीं होते। जेठा भाई छोटे भाइयों के अंश को न देकर स्वयं उसे लेवे। २१३-२१४।

मातृणामविभक्तानां शद्युत्थानं भवेत्सह।
 न पुत्रभागं विषमं हिता दद्यात्कथंचन॥ २१५॥
 ऊर्ध्वं विभागाजतस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्।
 संसृष्टास्तेन वा ये स्युर्विभजेत स तैः सह॥ २१६॥

यदि सभी भाई एक साथ रहकर तख्की करें तो पिता अधिक न्यून करके अपने धन का हिस्सा न दे। पिता के जीवित अवस्था में ही यदि पुत्रों का धन विभाग हो गया हो और उनके बाद कोई पुत्र उत्पन्न हो तो इस पुत्र को पिता का ही भाग पिता के मरने के बाद मिलेगा और विभाग होने पर जो पुत्र पिता के साथ रहता हो तो पिता के मरने के बाद दोनों (अर्थात् जो लड़का साथ रह रहा है और जो धन विभाग के बाद उत्पन्न हुआ है) मिलकर धन को बराबर-बराबर बाँट लें। २१५-२१६।

अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दयामवाप्नुयात्।
 मातर्यपि च वृत्तायां पितुर्माता हरेद्धनम्॥ २१७॥
 ऋणे धने सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि।
 पश्चाददृश्येत यत्किञ्चित्तत्सर्वं समतां नयेत्॥ २१८॥

जो पुत्र निःसन्तान मर जाता है उसका हिस्सा उनकी माता को मिलना चाहिए। माता भी मर गई तो उसके पिता की माता (दादी) को धन मिलेगा। सभी ऋण और धन यथोचित विधि से बाँट जाने पर पीछे से यदि पिता का ऋण दिखाई दे तो उसे भी सभी अंशों में बाँट लेना चाहिए। २१७-२१८।

वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः।
 योगक्षेमं प्रचारं च न विभाज्य प्रचक्षते॥ २१९॥
 अयमुक्तो विभागो वः पुत्राणां च क्रियाविधिः।
 क्रमशः क्षेत्रजादीना द्यूतधर्मं निबोधत॥ २२०॥

वस्त्र, वाहन, आभूषण, बनाया हुआ अन्न, जल, पुरोहित और पशुओं के मार्ग से ये सभी चीज नहीं बंटनी चाहिए। यह क्षेत्रज आदि पुत्रों की क्रियाविधि और धन विभाग का नियमादि कहा है, अब द्यूत (जूआ) की व्यवस्था कहता हूँ। २१९-२२०।

द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रात्रिवारेत् ।
राजान्तकरणावेतौ द्वो द्वोषौ पृथिवीक्षिताम् ॥ २२१ ॥

प्रकाशमेतत्तात्पर्यं यद्देवनसमाह्वयौ ।
तयोर्नित्यं प्रतीघाते नृवतिर्यत्नवान्भवेत् ॥ २२२ ॥

राजा अपने राज्य में जुआ और समाह्वय दोनों को न होने दे क्योंकि ये दोनों दोष राजाओं के राज्य का अन्त कर देते हैं। क्योंकि ये दोनों जुआ और समाह्वय प्रत्यक्ष चोरी हैं। इसीलिए राजा इन दोनों कार्यों को रोकने में हमेशा यत्नशील रहे। २२१-२२२।

अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते ।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः ॥ २२३ ॥

द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा ।
तान्सर्वान्यातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः ॥ २२४ ॥

संसार में बिना जीव की वस्तुओं से (पासे से) बाजी लगाकर जो खेल खेलते हैं उसे द्यूत कहते हैं और जो जीवों (भेड़ा, तीतर, बटेर आदि) से बाजी लगाकर खेलते हैं। जो स्वयं द्यूत या समाह्वय करे या दूसरे से करावे उन सभी को कठोर दण्ड दे और जो शूद्र ब्राह्मणादि के चिन्ह धारण कर ले उसे भी राजा दण्ड दे। २२३-२२४।

कितवान्कुशीलवान्कूरान्याषण्डस्थांश्च मानवान् ।
विकर्मस्थाञ्छौण्डिकांश्च क्षिप्रं निर्वासयेत्पुरात् ॥ २२५ ॥

एते राष्ट्रे वर्तमाना राज्ञः प्रच्छन्नतस्कराः ।
विकर्मक्रियया नित्यं बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥ २२६ ॥

जुआरी, नट, दुष्ट, वेदनिन्दक, कुकर्म और मदिरा बनाने वाले को राजा नगर से निकाल दे। ये पूर्वोक्त गुप्त चोर हैं, ये राज्य में रहकर नित्य ही भद्र राजा को पीड़ा पहुँचाते हैं। २२५-२२६।

द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत् ।
तस्माद्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २२७ ॥

प्रच्छन्नं वा प्रकाशं वा तन्निषेवेत यो नरः ।
तस्य दण्डविकल्पः स्याद्यथेष्टं नृपतेस्तथा ॥ २२८ ॥

यह घूत पूर्वकाल में भी बड़ा ही वैर कराने वाला सिद्ध हो चुका है, इसलिए बुद्धिमान हास-विलास के लिए भी इसका कभी सेवन न करें। जो मनुष्य छिपकर अथवा प्रकाशरूप से जुआ खेलता हो राजा उसे उचित और यथेष्ट दण्ड दे। २२७-२२८।

क्षत्रविदः शूद्रयोनिस्तु दण्डं दातुमशक्नुवन्।

आनृण्यं कर्मणा गच्छेद्विप्रो दद्याच्छनैः शनैः ॥ २२९ ॥

स्त्रीबालोन्मत्तवृद्धानां दरिद्राणां च रोगिणाम्।

शिकाविदलरज्जवाद्यैर्विदध्यान्नृपतिर्दमम् ॥ २३० ॥

यदि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र दण्ड (जुर्माना आदि) देने में असमर्थ हों तो इनसे कार्य लेकर दण्ड वसूल करे। किन्तु ब्राह्मण से सेवा न करावे। स्त्री, बालक, पागल, वृद्ध, दरिद्र और रोगियों को राजा बेंत, बाँस की फराटी या रस्सी की सजा दे। २२९-२३०।

ये नियुक्तास्त कार्येषु हन्युः कार्याणि कार्यिणाम्।

धनोष्मणा पच्यमानास्तात्रिः स्वान्कारयेन्नृपः ॥ २३१ ॥

कूटशासनभृश्च प्रकृतीनां च दूषकान्।

स्त्रीबालब्राह्मणघ्नांश्च हन्याद् विदसेविनस्तथा ॥ २३२ ॥

जो कर्मचारी कार्य में नियुक्त कर्मचारियों के कार्यों को धन के लालच में आकर (घूस लेकर) नष्ट करे तो, राजा उसको दरिद्र बना दे उसका सब कुछ ले लेवे। छल से शासन करने वालों, स्त्री, बालक और ब्राह्मणों को मारने वालों और शत्रु की सेवा करने वालों को राजा मार डाले। २३१-२३२।

तिरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यदभवेत्।

कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तदभूयो निवर्चयेत् ॥ २३३ ॥

अपात्माः प्राड्विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यया।

तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत् ॥ २३४ ॥

जहाँ कहीं भी ऋणादि व्यवहार में तथा दण्ड विधान में धर्मशास्त्र द्वारा जो निर्णय कहा गया है उसे मान लेना चाहिए उसको फिर बदलना नहीं चाहिए। मंत्रीगण या न्यायकर्ता जो कार्य उल्टा करे उसे राजा दण्ड ही करे।

और उसे राजा एक हजार पण दे। २३३-२३४।

ब्रह्महा च सुरापश्च स्तेयी च गुरुतल्पगः।

एते सर्वे पृथग्ज्ञेया महापातकिनो नराः॥ २३५॥

चतुर्णामपि चैतेषां प्रायश्चित्तमकुर्वताम्।

शारीरं धनसंयुक्तं दण्डं धर्म्यं प्रकल्पयेत्॥ २३६॥

ब्रह्मघाती, मद्य को पीने वाले, चोर, गुरुपत्नी के साथ गमन करने वाले ये मनुष्य महापातकी हैं। उपयुक्त चारों मनुष्य यदि प्रायश्चित्त न करें तो शारीरिक और आर्थिक धर्म सम्बन्धी दण्ड देना चाहिए। २३५-२३६।

गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः।

स्तेये च स्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान्॥ २३७॥

असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठयाविवाहिनः।

चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः॥ २३८॥

गुरुपत्नी गामी के मस्तक पर लोहा तपाकर भग का चिन्ह, मद्यप, के मस्तक पर मद्य पात्र का चिन्ह, चोर के मस्तक पर कुत्ते के पाँव का चिन्ह और ब्रह्म हत्यारे के मस्तक पर एक शिरहीन पुरुष का चिन्ह अंकित कर दे। ये महापातकी भोजन, यज्ञ और अध्यापन करने योग्य नहीं हैं इनके साथ कन्यादान का भी सम्बन्ध न करे, ये चारों सब धर्मों से रहित होकर दीन हुए पृथ्वी पर घूमते हैं। २३७-२३८।

ज्ञातिसंबन्धिभिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः।

निर्दया निर्नमस्कारास्तत्रोरनुशासनम्॥ २३९॥

प्रायश्चित्तं तु कुर्वाणाः सर्ववर्णा यथोदितम्।

नांकत्रा राज्ञा ललाटे स्यर्दाप्यास्तूतमसाहसम्॥ २४०॥

इन चिन्हित महापापियों को स्वजन तथा अन्य सम्बन्धी छोड़ दें, उन पर दया न करें, उन्हें नमस्कार न करें, यह मनु की आज्ञा है। यदि ये सब अपने-अपने वर्ण के अनुसार प्रायश्चित्त करें तो उनके मस्तक पर राजा चिन्ह अंकित न करे परन्तु उन्हें इत्तम् साहस दण्ड दे। २३९-२४०।

आत्रःसु ब्राह्मणस्यैव कार्यो मध्यमसाहसः।

विवास्यो वा भवेद्राष्ट्रात्सद्रव्यः सपरिच्छदः॥ २४१॥

इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः ।

सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ॥ २४२ ॥

ब्राह्मण अज्ञान से पातक करे तो राजा उसे भी मध्यम साहस दण्ड दे और जानकर करे तो उसे धन वस्त्रसहित राज्य से बाहर निकाल दे। यदि क्षत्रिय आदि अज्ञान से इन सब पातकों को करे तो उन्हें सर्वस्व हरण का दण्ड होगा और जानकर करने पर वे देश से निकाल दिये जायेंगे। २४१-२४२।

नाददीत नृपः साधुमहापातकिनो धनम् ।

आददानस्तु तल्लोभात्तेन दोषेण लिप्यते ॥ २४३ ॥

अप्सु प्रवेश्य तं दण्डं वरुणायोपपादयेत् ।

श्रुतवृत्तोपपन्ने ब्राह्मणे प्रतिपादयेत् ॥ २४४ ॥

धार्मिक राजा महापातकी का धन कदापि न ले और जो लोभ से ले तो वह महापातक के दोष से लिप्त होता है। महापातकी को दण्ड देने से जो धन मिले उसे जल में फेंककर वरुण देवता के अर्पण कर दे अथवा वेद और सदाचार से युक्त ब्राह्मण को दे दे। २४३-२४४।

ईशो दण्डस्य वरुणो राज्ञां दण्डधरो हि सः ।

ईशः सर्वस्य जगतो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥ २४५ ॥

यत्र वर्जयते राजा पापकृद्भयो धनागमम् ।

तत्र कालेन जायन्ते मानवा दीर्घजीविनः ॥ २४६ ॥

क्योंकि वरुण राजाओं के शासक हैं और दण्ड के स्वामी हैं और वेदपाठी ब्राह्मण सब जगत का प्रभु है। जहाँ राजा पापियों का धन नहीं लेता है वहाँ मनुष्य उचित समय में जन्मते और दीर्घजीवी होते हैं। २४५-२४६।

निष्पद्यन्ते च सस्यानि यथोप्तानि विशां पृथक् ।

बालाश्च न प्रमीयन्ते विकृतं न च जायते ॥ २४७ ॥

ब्राह्मणान्बधमानं तु कामादवरवर्णजम् ।

हन्याच्चात्रैर्वधोपायैरुद्वेजनकरैर्नृपः ॥ २४८ ॥

वहाँ वैश्य जैसा-२ अन्न बोते हैं वैसे ही सब शस्य भी अलग-अलग उपजते हैं, बाल्यावस्था में कोई नहीं मरता और (कुब्ज, पंगु आदि) विकृत

पुरुष पैदा नहीं होते। यदि शूद्र जान-बूझकर ब्राह्मणों को क्लेश दे तो राजा शूद्र को अनेक प्रकार के उद्देगजनक वध के उपायों से मारे। २४७-२४८।

यावानवध्यस्य वधे तावान्वध्यस्य मोक्षणे।

अधर्मो नृवतेर्दृष्टो धर्मस्तु विनियच्छतः॥ २४९॥

उदितोऽयं वितरशो मिथो विवदमानयोः।

अष्टादशसु मार्गेषु व्यवहारस्य निर्णयः॥ २५०॥

राजा को अवध्य के मारने से जितना पाप होता है उतना ही वध्य को छोड़ देने में अधर्म होता है, शास्त्र के अनुसार दण्ड देना राजा का धर्म देखा गया है। आपस में झगड़ने वाले वादी-प्रतिवादी का व्यवहार निर्णय मैंने अठारह भागों में विस्तारपूर्वक कहा। २४९-२५०।

एवं धर्म्याणि कार्याणि सम्यक्कुर्वन्महीपतिः।

देशानलब्धांल्लिप्सेत लब्धांश्च परिपालयेत्॥ २५१॥

सम्यगिंविष्टदेशस्तु कृतदुर्गश्च शास्त्रतः।

कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्॥ २५२॥

इस भाँति राजा धर्मपूर्वक कार्यों को अच्छी तरह करता हुआ अलब्ध देशों के पाने की इच्छा करे और अपने आधीन देशों का पालन करे। राजा पूर्वोक्त जंगल सस्य सम्पन्न के देशों में शास्त्रानुसार किला बना कर रहे और चोर, साहस आदि कंटकों के नष्ट करने में सदा उत्तम यत्न करे। २५१-२५२।

रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात्।

नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥ २५३॥

अशासंस्तस्कारान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।

तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते॥ २५४॥

सदाचारी लोगों को रक्षा करने से और दुष्टों को दण्डित करने वाले प्रजापालक राजा स्वर्ग में जाते हैं। चोरों को बिना दण्ड दिये जो राजा प्रजा से कर लेता है उसका राज्य बिगाड़ जाता है और उसे स्वर्गलोक नहीं मिलता। २५३-२५४।

निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम्।

तस्य द्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः॥ २५५॥

द्विविधांस्तस्करान्विद्यात्परद्रव्यापहारकान् ।

प्रकाशांश्चांप्रकाशांश्च चारचक्षुर्महीपतिः ॥ २५६ ॥

जिस राजा के बाहुबल के आसरे सब देश निर्भय रहता है उसका देश इस प्रकार बढ़ता है जैसे सींचने से वृक्ष बढ़ता है। दूत ही है नेत्र जिनके ऐसा राजा दूतों के द्वारा प्रकाश और गुप्त दोनों प्रकार के परधनहारी चोरों को जाने। २५५-२५६।

प्रकाशवज्ज्वाकास्तेषां नानापण्योपजीविनः ।

प्रच्छन्नवज्ज्वाकास्त्वेते ये स्तेनाटविकादयः ॥ २५७ ॥

उत्कोचकाश्चोपधिका वज्ज्वाकाः कितवास्तथा ।

मंगलादेशवृत्ताश्च भद्राश्चक्षुणिकैः सह ॥ २५८ ॥

उनमें से बेचने की अनेक वस्तुओं के मूल्य वा तौल आदि में ठगें वे प्रत्यक्ष वंचक हैं और जो सेंध लगाकर चोरी करें अथवा जंगल में रहकर पराया धन हरे उन्हें गुप्त वंचक जानना चाहिए। २५७-२५८।

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः ।

शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्योषितः ॥ २५९ ॥

एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान् ।

निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः ॥ २६० ॥

घूस लेने वाले, डराकर धन लेने वाले, ठग, जुआरी, दूसरों के मंगल कामना से जीने वाले, पाप को छिपाकर साधुवेश में जीविका करने वाले, हस्तेरेखा रमल आदि विद्याओं द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले, चिकित्सा से जीने वाले, चित्रकार तथा धूर्त और वेश्यायें ये और इस प्रकार की जीविका से जीने वाले सभी राजा के लिए कंटक स्वरूप प्रकट चोर हैं और इससे भिन्न छल करने वाले, नीच, अच्छे लोगों के रूप को धारण करने जो वाले मनुष्य हैं उन्हें भी चोर ही समझना चाहिए। २५९-२६०।

तान्विदित्वा सुचरितैर्गूढैस्तत्कर्मकारिभिः ।

चारैश्चानेकभंस्थानैः प्रोत्साद्य वशमानयेत् ॥ २६१ ॥

तेषां दोषानभिख्याप्य स्वे स्वे कर्मणि तत्त्वतः ।

कुर्वीत शासनं राजा सम्यक्सारापराधतः ॥ २६२ ॥

गुप्त वार्ताओं को पता लगाने के काम करने वाले, सुन्दर सुचरित्र गुप्तचरों को अनेक स्थानों में नियुक्त कर राजा उन देश के कंटक स्वरूप दुष्टों का पता लगाकर उन पर शासन करता हुआ अपने वश में लावे। उन चोरों में जिसका जैसा कार्य हो उसे लोगों में बताते हुए उनके अपराधों के अनुसार सम्यक् प्रकार से दण्ड दे। २६१-२६२।

नहि दण्डादृते शक्यः कर्त पापविनिग्रहः।

स्तेनानां पापबुद्धीनां निभृतं चरतां क्षितौ ॥ २६३ ॥

सभाप्रपापूपशालावेशमद्यान्नविक्रयाः ।

चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥ २६४ ॥

पृथ्वी पर विचरने वाले पाप बुद्धि वाले चोरों को उनके कर्मों से अलग करना और उनके पापों का मार्जन बिना दण्ड दिए असम्भव है। २६३-२६४।

जीर्णोद्यानान्यरण्यानि कारुकावेशनानि च।

शून्यानि चाप्यगाराणि वनान्युपवनानि च ॥ २६५ ॥

एवं विधान्नृपो देशान्गुल्मैः स्थावरजंगमैः।

तस्करप्रतिषेधार्थं चारैश्चाप्यनुचारयेत् ॥ २६६ ॥

सभा स्थान, प्रपा (पौसरा), मिठाई की दुकान, वेश्यागृह, मदिरा और अनाज बिकने की जगह, चौराहा, प्रसिद्ध छाया वाला वृक्ष (जहाँ प्रायः लोग विश्राम करते हों), लोगों के बैठने की जगह, पुराना बगीचा, जंगल, चित्रशाला, निर्जन मकान, वन और उपवन इन उपरोक्त स्थानों में राजा सैनिकों और गुप्तचरों को नियुक्त करके उक्त स्थानों की रक्षा करे। २६५-२६६।

तत्सहायैरनुगतैर्नानाकर्मप्रवेदिभिः ।

विद्यादुत्सादयेच्चैव निपुणैः पूर्वतस्करैः ॥ २६७ ॥

भक्ष्यभोज्योपदेशैश्च ब्राह्मणानां च दर्शनैः।

शौर्यकर्मोपदेशैश्च कुर्युस्तेषां समागमम् ॥ २६८ ॥

जो चोरों के सहायक हों, उनके अनुगामी हों अथवा तत्सम्बन्धी अनेक कार्यों के जानकर हों और जो पहले के पक्के चोर हों इन लोगों की सहायता से पूर्व कथित राजा कंटकों का पता लगाकर उनका नाश करे। गुप्तचर उन कंटकों को खिलाने-पिलाने के बहाने से अथवा ब्राह्मणों के दर्शन कराने

के बहाने से, वीरता के काम को दिखलाने के बहाने से, लाकर पकड़वा दें। २६७-२६८।

ये तत्र नोपसर्पेयुर्मूलप्रणिहिताश्च ये।

तान्प्रसह्य नृपो हन्यात्समित्रज्ञातिबान्धवान्॥ २६९॥

न होढेन बिना चौरं घातयेद्भामिको नृपः।

सहोढ सोपकरणं घातयेदविचारयन्॥ २७०॥

जो चोर गुप्तचरों के साथ न आवें अथवा गुप्तचरों को जानकर सावधान हो गए हों तो राजा गुप्तचरों द्वारा उनकी गतिविधि का पता लगाकर उन्हें उनके मित्र कुटुम्ब और बाँधवों के साथ पकड़कर मरवा डाले। राजा बिना पूरा प्रमाण के सन्देहवश चोर का वध न करे। चोरी का पूरा प्रमाण पा जाने पर विचार किये बिना उसका हाथ कटवा ले अथवा सूली दे दे। २६९-२७०।

ग्रामेष्वपि च ये केचिच्चौराणां भक्तदायकाः।

भण्डावकाशदाश्चैव सर्वास्तानपि घातयेत्॥ २७१॥

राष्ट्रेषु रक्षाधिकृतान्सामन्ताश्चैव चोदितान्।

अभ्याघातेषु मध्यस्थाञ्छिव्याचौरानिव द्रुतम्॥ २७२॥

गाँव में भी कोई मनुष्य चोरों को भोजन, चोरी करने लायक बर्तन और रहने के लिए स्थान दे तो उन सबको भी राजा दंड दे। राज्य में जो रक्षा के लिए नियुक्त हों, जो सीमा की रक्षा के लिए तैनात हों यदि वे चोरों के सहायक हों तो उन्हें भी चोर की भाँति दण्ड दे। २७१-२७२।

यश्चापि धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मजीवनः।

दण्डेनैव तमप्योषेत्स्वकाद्धर्माद्धि विच्युतम्॥ २७३॥

ग्रामधाते हिताभंगे पथि मोषाभिदर्शने।

शक्तितो नाभिधावंतो निर्वास्याः सपरिच्छदाः॥ २७४॥

जो स्वयं धर्म को न करके दूसरे के धर्म से जीवनयापन करे या अपने धर्म से च्युत हो गये हों तो उन्हें भी दण्ड देकर सतावें। ग्राम में अराजकता होने पर, बाँध टूट जाने पर, रास्ते में चोर का दर्शन होने पर जो लोग अपनी शक्ति के अनुसार उनकी रक्षा के लिए न दौड़ें तो राजा उन्हें सपरिच्छेद देश से निकाल देवे। २७३-२७४।

राज्ञः कोषापहर्तृश्च प्रतिकूलेषु च स्थितान्।

घातयेद्विविधैर्दण्डैररीणां चोपजापकान् ॥ २७५ ॥

संधिं छित्त्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तत्स्कराः।

तेषां छित्त्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णो निवेशयेत् ॥ २७६ ॥

राजा खजाने का अपहरण करने वाले को, राजा के प्रतिकूल चलने वाले और शत्रुओं को उकसाने वाले को राजा अनेक प्रकार के दंडों से मारे। जो चोर रात में संध काटकर चोरी करते हैं राजा उन चोरों के हाथों को कटवाकर तेज सूली पर चढ़ा दे। २७५-२७६।

अंगुलीर्ग्रन्थिमेदस्य छेदयेत्प्रयमे ग्रहे।

द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति ॥ २७७ ॥

अग्निदान्भक्तदांश्चैव तथा शस्त्रावकाशदान्।

संनिधातृश्च मोषस्य हन्याच्चौरमिवेश्वरः ॥ २७८ ॥

किसी चीज में बंधे हुए द्रव्य की गाँठ खोलकर चुराने वाले चोर को पहली बार के अपराध में अंगुलियों को कटवा दे। दूसरी बार हाथ पाँव कटवा दे और तीसरी बाद वध करने योग्य होता है। चोरों को अग्नि, भोजन, हथियार और आराम करने की जगह देने वाले को राजा चोर के ही समान दण्ड दे। २७७-२७८।

तडागभेदकं हन्यादप्सु शुद्धवधेत वा।

यद्वापि प्रतिसंकुर्याद्वाप्यस्तूतमसाहसम् ॥ २७९ ॥

कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान् ।

हस्त्यश्वरथहर्तृश्च हन्यादेवाविचारयन् ॥ २८० ॥

तालाब को किसी प्रकार से नष्ट करने वाले को जल में डुबाकर मार डाले अथवा कोई कड़ा दण्ड देकर मार डाले। यदि वह नष्ट की हुई वस्तु को दुरुस्त कर दे तो उसे एक उत्तम साहस का दण्ड दे। कोठार (भंडार), शस्त्रागार और देव मंदिर को नष्ट करने वालों को तथा हाथी घोड़े और रथ को चुराने वालों को बिना विचार किये प्राण दण्ड दे। २७९-२८०।

यस्तु पूर्वनिविष्टस्य तडागस्योदकं हरेत्।

आगमं वाप्यपां भिद्यात्स दाप्यः पूर्वसाहसम् ॥ २८१ ॥

समुत्सृजेद्राजमार्गे यस्त्वमेध्यमनापदि ।

स द्वौ कार्षापणौ दद्यादमेध्यं चाशु शोधयेत् ॥ २८२ ॥

जो कि सर्वसाधारण के उपकारार्थ बने हुए तालाब के जल को खराब करे या ले लेवे अथवा तालाब में डाले, आगे के रास्ते को बन्द करे तो राजा उसे प्रथम साहस का दण्ड दे। जो बिना किसी आपत्ति अवस्था में राजमार्ग में मूल इत्यादि को डाल दे। उसको दो कार्षापण दण्ड देना चाहिए और फेंके हुए वस्तु को मार्ग में से शीघ्र हटा दे। २८१-२८२।

आपद्गतोऽथवा वृद्धा गर्भिणी बाल एव वा ।

परिभाषणमर्हन्ति तच्च शोध्यमिति स्थितिः ॥ २८३ ॥

चिकित्सकानां सर्वेषां मिथ्या प्रचरतां दमः ।

अमानुषेषु प्रथमो मानुषेषु तु मध्यमः ॥ २८४ ॥

जो किसी प्रकार के रोगादि आपत्तियों में पंसा हो, वृद्धा और गर्भिणी स्त्री तथा बालक यदि रास्ते में मलादि का उत्सर्ग करें तो दण्डनीय नहीं हैं। उनको केवल प्रतारण मात्र करके उनसे मलादि को रास्ते से साफ करा दे, यही शास्त्रीय व्यवस्था है। वैद्यक शास्त्र के बिना अध्ययन के ही झूठे वैद्य होकर विचरने वाले को जो कि पशुओं की चिकित्सा में अयोग्य हों उन्हें प्रथम साहस मनुष्यों के चिकित्सा में अयोग्य हों तो मध्यम साहस का दंड करे। २८३-२८४।

संक्रमध्वजयष्टीनां प्रतिमानां च भेदकः ।

प्रतिकुर्याच्च तत्सर्वं पञ्च दद्याच्छतानि च ॥ २८५ ॥

अदूषितानां द्रव्याणां दूषणे भेदने तथा ।

मणीनामपवेधे च दण्डद्वद्वः प्रथमसाहसः ॥ २८६ ॥

संक्रम (जो पानी के सोतों को पार करने वाली लकड़ी या पत्थर होता है उसे संक्रम कहते हैं) पताका खम्भा जिसका पूजन होता हो मूर्ति, इनको नष्ट करने वाले को पाँच सौ पण दंड देना चाहिए और बिगड़ी चीजों को फिर से बना देना चाहिए। निर्दोष द्रव्यों को दूषित करने, रत्नादिकों को तोड़ने और मणियों को ठीक न छेदने से प्रथम साहस दंड दे। २८५-२८६।

समैहिं विशमं यस्तु चरेद्वै मूल्यतोऽपि वा।

समाप्नुयाद्दमं पूर्वं नरो मध्यममेव वा॥ २८७॥

बन्धनानि च सर्वाणि राज मार्गे निवेशयेत्।

दुःखिता यत्र दृश्येरन्विकृताः पापकारिणः॥ २८८॥

जो कोई एक ही दाम पर विषम वस्तु किसी को कम या किसी को अधिक दे वह मनुष्य प्रथम साहस या मध्यम साहस का दंड पाने योग्य है। राजा सभी प्रकार के दण्डनीय स्थान (जेलखाना आदि) सड़क के किनारे में ही बनवावे जिससे अपने पाप के कारण दुःख भोगने वालों को सर्वसाधारण लोग देख सकें। २८७-२८८।

प्रकारस्य च भेत्तारं परिखाणां च पूरकम्।

द्वाराणां चैव भङ्क्तारंक्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥ २८९॥

अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः।

मूलकर्मणि चानाप्तेः कृत्यासु विविधासु च॥ २९०॥

किले की चारदीवारी (किले के चारों तरफ जो दीवार होती है उसे प्रकार कहते हैं) को तोड़ने वाले को परिखा (जो किले के बाहर चारों तरफ जल की खाई होती है। उसे परिखा कहते हैं) पाटने वाले को और दरवाजा तोड़ने वाले को शीघ्र ही राज्य से निकाल दें। सभी प्रकार के अभिचार (मारण उच्चाटनादि) करने पर भी यदि अभीष्ट सिद्ध न हो तो अभिचार करने वाले को दो सौ पण दण्ड देना चाहिए। २८९-२९०।

अबीजविक्रयी चैव बीजोत्कृष्टं तथैव च।

मर्यादाभेदकश्चैव विकृतं प्राप्नुयाद्धधम्॥ २९१॥

सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।

प्रवर्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः॥ २९२॥

जो मनुष्य न जमने वाले बीज या खुरब बीज को अच्छा कहकर बेचे, गाँव की मर्यादा को नष्ट करे तो राजा उसका अंग-भंग करके मरण तुल्य दंड दे। सभी प्रकार के कंटकों में पापी कंटक हेमकार होते हैं यदि ये अन्याय में प्रवृत्त हों तो राजा छुरे से इनके अंगों को खण्ड-२ करा दे। २९१-२९२।

सीताद्रव्यापहरणे शत्रुषणामौषधस्य च ।

कालामासाद्य कार्यं च राजा दण्डं प्रकल्पयेत् ॥ २९३ ॥

स्वाम्यमात्मीयं पुरं राष्ट्रं कोशदण्डो सुहृत्तथा ।

सप्त प्रकृतयो ह्येताः समाङ्गं राज्यमुच्यते ॥ २९४ ॥

खेती करने के हथियारों को, शस्त्रों और औषधि की चोरी करने पर राजा समय के अनुसार दंड को नियुक्त करे। राजा, मन्त्री, ग्राम, देश, खजाना, सेना और मित्र से सात राज्य की प्रकृति हैं। इसलिए राज्य को सप्तांग कहते हैं। २९३-२९४।

सप्तानां प्रकृतीनां तु राज्यस्यासां यथाक्रमम् ।

पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत् ॥ २९५ ॥

समाङ्गस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ।

अन्योन्यगुणवैशेष्यान् किञ्चिदतिरिच्यते ॥ २९६ ॥

राज्य के इन सप्तांगों में यथाक्रम से प्रत्येक दूसरे से पहला बली होता है। इसी प्रकार प्रत्येक दूसरे से पहला विपत्ति में भी बलवान होता है। राज्य के ये सातों अंग परस्पर एक दूसरे के उपकारी होने के कारण संन्यासी के त्रिदण्ड की तरह सभी एक दूसरे से मिले हुए और समान हैं। २९५-२९६।

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदङ्गं विशिष्यते ।

येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिञ्श्रेष्ठमुच्यते ॥ २९७ ॥

चारेणोत्साहयोगेन क्रिययैव च कर्मणाम् ।

स्वशक्तिं परशक्तिं च नित्यं विद्यान्महीपतिः ॥ २९८ ॥

जिस अंगों की जिस कार्य में निपुणता है उन-उन अंगों को उन्हीं-२ कार्यों में विशेषता है उसी कार्य में वह अंग श्रेष्ठ माना जाता है। गुप्तचरों और सेना के द्वारा और नियन्त्रित क्रियाओं के कर्मों से राजा अपनी और शत्रु की शक्ति का पता लगाता रहे। २९७-२९८।

पीडनानि च सर्वाणि व्यसनानि तथैव च ।

आरभेत ततः कार्यं संचिन्त्य गुरुलाघवम् ॥ २९९ ॥

आरभेतैव कर्माणि श्रान्तः श्रान्तः पुनः पुनः ।

कर्माण्यारम्भमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते ॥ ३०० ॥

सब प्रकार से दुर्व्यसन और पीड़ाओं का अपने और शत्रु राज्य का पता लगाकर और उनके गौरव लाघव का विचार करके काम को आरम्भ करे। बारम्बार थक जाने पर भी बार-बार कार्य को आरम्भ करे क्योंकि कार्य का आरम्भ करने वाले की सेवा स्वयं लक्ष्मी करती है। २९९-३००।

कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलियुगं च।

राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा युगमुच्यते ॥ ३०१ ॥

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रदुद्वापरं युगम्।

कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥ ३०२ ॥

सत्युग, त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग में राजाओं के ही कर्मों के वृत्तान्त हैं इसलिए राजा को ही युग कहते हैं। राजा सुसावस्था में कलि होता है, सोते से जागने पर द्वापर, कर्म करने में उद्यत होने पर त्रेता और कर्म करता हुआ सत्युग होता है। ३०१-३०२।

इन्द्रस्याकम्य वातोश्च यमस्य वरुणस्य च।

चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृयश्चरेत् ॥ ३०३ ॥

वापिकांश्चतुरो मासान्यथेन्द्रोऽभिप्रवर्षति।

तथाभिवर्षेस्त्वं राष्ट्रं कामैरिन्द्रव्रतं चरन् ॥ ३०४ ॥

इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि और पृथ्वी इनके तेज के समान ही राजा से व्यवहार करना चाहिए। जिस प्रकार वर्षा ऋतु के चार मासों में इन्द्र वर्षा करते हैं, उसी प्रकार इन्द्र व्रत को करता हुआ अभीसित द्रव्यादि की वर्षा करते हुए राजा अपने राष्ट्र को सन्तुष्ट करे। ३०३-३०४।

अष्टो मासान्यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः।

तथा हरेत्करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥ ३०५ ॥

प्रविष्य सर्वभूतानि यथा चरति मारुतः।

तथा चारैः प्रवेष्टव्यं व्रतमेतद्धि मारुतम् ॥ ३०६ ॥

जिस प्रकार सूरज आठ महीने तक अपनी किरणों से जल को हस्ता है उसी प्रकार राजा अपने राष्ट्र से कर ले, इसको राजा के लिए सूर्य व्रत कहा है। जिस प्रकार सभी प्राणियों में वायु प्रवेश कर घूमती है उसी प्रकार अपने गुप्तचरों द्वारा अपने राष्ट्र में घूमना चाहिए, यही राजा का वायु व्रत है। ३०५-३०६।

यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।

तथा राज्ञा नियन्तव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ॥ ३०७ ॥

वरुणेन यथा पाशैर्वद्ध एवाभिदृश्यते ।

तथा पापान्निमृहीयाद्व्रतमेतद्धि वारुणम् ॥ ३०८ ॥

जिस प्रकार यमराज मृत्यु के समय मित्र और शत्रु का भेद छोड़कर सभी को मारता है उसी प्रकार राजा को प्रजा के ऊपर नियन्त्रण करना चाहिए, इसको राजा का यमव्रत कहते हैं। जैसे वरुण देवता के पाश में बाँधे जाते हुए देखे जाते हैं। उसी प्रकार राजा पापियों को बन्धन में बाँधे यह राजा का वारुणव्रत है। ३०७-३०८।

परिपूर्ण यथा चन्द्रं दृष्ट्वा हृष्यन्ति मानवाः ।

तथा प्रकृतयो यस्मिन् चान्द्रव्रतिको नृपः ॥ ३०९ ॥

प्रतापयुक्तस्तेजस्वी नित्यं स्यात्पापकर्मसु ।

दुष्टसामन्तहिंस्त्रश्च तदाग्नेयं व्रतं स्मृतम् ॥ ३१० ॥

पूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य को जैसी प्रसन्नता होती है। वैसी ही प्रसन्नता यदि राजा को देखकर प्रजा को हो तो यही राजा के लिए चान्द्रव्रत है। पापियों को नित्य दंड देने में तेजस्वी और प्रतापी होकर दुष्ट मंत्रियों को भी त्रास देवे, यही राजा के लिए आग्नेय व्रत है। ३०९-३१०।

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम् ।

तथा सर्वाणि भूतानि विभ्रतः पार्थिवं व्रतम् ॥ ३११ ॥

एतैरुपायैरन्यैश्च युक्तो नित्यमतन्द्रितः ।

स्तेनानाजा निगृहीयात् स्वराष्ट्रे पर एव च ॥ ३१२ ॥

जिस प्रकार समान भाव से सब प्राणियों को पृथ्वी धारण करती है। उसी प्रकार सभी प्राणियों का भरण पोषण करते हुए धारण करना राजा के लिए पार्थिवव्रत है। इन उपायों से तथा अन्य उपायों से युक्त और नित्य निरालस्य हो राजा स्वदेशीय और पर राष्ट्रीय चोरों का दलन करे। ३११-३१२।

परामप्यापदं प्राप्तो ब्राह्मणान्न प्रकोपयेत् ।

तेन ह्येनं कुपिता हन्युःसद्यः सबलवाहनम् ॥ ३१३ ॥

यैः कृतः सर्वभक्ष्योऽग्निरपेयश्च महोदधिः।

क्षयीचाप्यायितःसोमःको न नश्येत्प्रकोप्य तान्॥ ३१४॥

अत्यन्त विपत्ति आने पर भी राजा ब्राह्मणों को कुपित न करे। यदि ब्राह्मण कुपित हो जायें तो सेना और वाहन के साथ उसका नाश कर देते हैं। जिन्होंने अग्नि को सर्व भक्षी, समुद्र को अपेय, क्षय होने वाला चंद्रमा को पूर्ण कर दिया- तो उनके कुपित हो जाने से कौन नहीं नष्ट होगा। ३१३-३१४।

लोकानन्यान्सृजेयुर्ये लोकपालांश्च कोपिताः।

देवान्कुर्युरदेवांश्च कः क्षिण्वंस्तान्समृध्यात्॥ ३१५॥

यानुपाश्रित्य तिष्ठन्ति लोका देवाश्च सर्वदा।

ब्रह्म चैव धन येषां को हिंस्यात्ताञ्जिजीविषुः॥ ३१६॥

जो कुपित होने पर अन्य लोकों की और लोकपालों की रचना कर सकते हैं और देवताओं को मनुष्य कर सकते हैं उनको छोड़कर कौन समृद्धिशाली हो सकता है। जिनके आश्रय में लोक देवता सदा रहते हैं। जिनका ब्रह्म ही धन है उनको जीने की इच्छा वाला कौन सतावेगा। ३१५-३१६।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।

प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥ ३१७॥

श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दूष्यति।

हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते॥ ३१८॥

जिस प्रकार वैदिक और अवैदिक रीति से स्थापित हुई अग्नि महान देवता है उसी प्रकार ब्राह्मण पंडित हो या मूर्ख हो महान देवता है। श्मशान में भी तेजस्वी अग्नि दूषित नहीं होती है और यज्ञ में हवन करने से भी वह बढ़ती ही है। ३१७-३१८।

एवं यद्यप्यनिष्ठेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।

सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं तित्॥ ३१९॥

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः।

ब्रह्मव संनियन्तु स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम्॥ ३२०॥

उसी प्रकार सभी प्रकार के अपवित्र कार्यों में संलग्न रहने पर भी ब्राह्मण

सब प्रकार पूजनीय हैं क्योंकि वह परम देवता हैं। सब प्रकार से अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से ब्राह्मण को पीड़ा देने वाले क्षत्रिय का शमन ब्राह्मण ही कर सकता है क्योंकि क्षत्रिय ब्राह्मण से ही उत्पन्न हुआ है। ३१९-३२०।

अद्भयोऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम्।

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ ३२१ ॥

नाब्रह्म क्षत्रमृणोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।

ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते ॥ ३२२ ॥

जल से अग्नि, ब्राह्मण से क्षत्रिय और पत्थर से लोहा उत्पन्न हुआ है उनका तेज सर्वत्र व्याप्त होने पर भी अपने उत्पत्ति स्थान में ही शान्त हो जाता है। बिना ब्राह्मण के क्षत्रिय की वृद्धि नहीं होती है और क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण की उन्नति नहीं होती है। यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों परस्पर मिले रहें तो यहाँ और परलोक दोनों जगह दोनों की वृद्धि होती है।

दत्त्वा धनं तु विप्रेभ्यः सर्वदण्डसमुत्थितम्।

पुत्र राज्यं समासृज्य कुर्वीत प्रायणं रणे ॥ ३२३ ॥

एवं चरन्सदा युक्तो राजधर्मेषु पार्थिवः।

हितेषु चैव लोकस्य सर्वान्भृत्यान्नियोजयेत् ॥ ३२४ ॥

सभी प्रकार दंडों से पाए हुए धन को ब्राह्मण को देकर और अपने पुत्र को राज्य देकर राजा रण में प्रयाण करे। इस प्रकार राजा सदा राजधर्म में संयुक्त होकर सभी प्रजाओं के कल्याण के लिए सभी कर्मचारियों को नियुक्त करे। ३२३-३२४।

एषोऽखिलः कर्मविधिरुहुक्तो राज्ञः सनातनः।

इमं कर्मविधिं विद्यात्क्रमशो वैश्यशूद्रयोः ॥ ३२५ ॥

वैश्यस्तु कृतसंस्कारः कृत्वा दारपरिग्रहम्।

वर्तायां नित्ययुक्तः स्यात्पशूनां चैव रक्षणे ॥ ३२६ ॥

यह राजाओं की सनातन कर्म विधि को कहा है और अब क्रम से वैश्य और शूद्रों को कर्म विधि को जानना चाहिए। वैश्य यज्ञोपवीत संस्कार के बाद विवाह करके खेती, व्यापार और पशुओं की रक्षा करने में नित्य तैयार रहें। ३२५-३२६।

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।

ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजा ॥ ३२७ ॥

न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति।

वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ॥ ३२८ ॥

ब्रह्मा ने पशुओं की सृष्टि करके वैश्यों को उनका भार दे दिया और ब्राह्मण तथा राजा को सभी प्रजाओं का भार दे दिया। वैश्य को कभी यह इच्छा नहीं करनी चाहिए कि मैं पशुओं की रक्षा न करूँ और वैश्य जब तक पशुशाला की इच्छा करे तब तक दूसरे से कभी भी पशु की रक्षा न करावे। ३२७-३२८।

मणिमुक्ताप्रवालानां लोहानां तान्तवस्य च।

गन्धानां च रसानां च विद्यादर्घबलाबलम् ॥ ३२९ ॥

बीजानामुप्तिविच्च स्यात्क्षेत्रदोषगुणस्य च।

मानयोगं च जानीयात्तुलायोगांश्च सर्वशः ॥ ३३० ॥

मणि, मोती, मूँगा, लोहा, वस्त्र, गन्ध और रसों के भाव में न्यूनाधिक का ज्ञान वैश्य को हमेशा रखना चाहिए। बीजों के बोने का ज्ञान और खेतों के दोष और गुण का ज्ञान भी रहना चाहिए। ३२९-३३०।

सारासारं च भाण्डानां दशानां च गुणगुणान।

लाभालाभं च पण्यानां पशूनां परिवर्धनम् ॥ ३३१ ॥

भृत्यानां च भृतिं विद्याद्भाषाश्च विविधा नृणाम्।

द्रव्याणां स्थानयोगांश्च क्रयविक्रियमेव च ॥ ३३२ ॥

प्रत्येक वस्तुओं के अच्छे बुरे की पहचान, प्रत्येक देशों की सस्ती और महंगी चीजों का ज्ञान, विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के हानि या लाभ का ज्ञान, पशुओं की वृद्धि के उपाय, नौकरों के मासिक देने का ज्ञान, मनुष्यों के अनेक प्रकार की भाषाओं का ज्ञान, वस्तुओं के सुरक्षित रखने वाले स्थानों का ज्ञान और खरीद बिक्री का ज्ञान रखना चाहिए। ३३१-३३२।

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद्यत्नमुत्तमम्।

दद्याच्च सर्वे भूतानामन्नयेव प्रयत्नतः ॥ ३३३ ॥

विप्राणां वेदविदुषां गृहस्थानां यशस्विनाम्।

शुश्रूषव तु शूद्रस्य धर्मो नैश्रेयसः परः॥ ३३४॥

धर्म से द्रव्य की वृद्धि में उत्तम यत्न करना चाहिए और प्रयत्न करके सभी प्राणियों को अन्न देना चाहिए। वेद को जानने वाले ब्राह्मणों को और यशस्वी की सेवा करना शूद्र को स्वर्ग देने वाला परम धर्म कहा है। ३३३-३३४।

शुचिरुत्कृष्टशुश्रूषुमृदुवाऽग्नहंकृतः ।

ब्राह्मणाद्याश्रयो नित्यमुत्कृष्टां जातिमश्नुते॥ ३३५॥

एषोऽनापदि वर्णानामुक्तः कर्मविधि शुभः।

आपद्यपि हि यस्तेषां क्रमशस्तन्निबोधतः॥ ३३६॥

यत्न और वाणी से पवित्र रहने वाला, श्रेष्ठ जातियों की सेवा करने वाला, मीठा वचन बोलने वाला, अहंकार रहित और ब्राह्मण के आश्रित रहने वाला शूद्र अपने से उत्कृष्ट जाति को पाता है। यह चारों वर्णों की निरपद स्थिति में शुभ कर्म विधि कही, अब आपत्तिकाल में उन लोगों का जो धर्म है उसे सुनो। ३३५-३३६।

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥



दसवाँ अध्याय

अधीवीरंस्त्रयो वर्णाः स्वकर्मस्था द्विजातयः ।
प्रब्रूयाद्ब्राह्मणस्त्वेणं नेतराविति निश्चयः ॥ १ ॥
सर्वेषां ब्राह्मणो विद्यादवृत्युपायान्यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥ २ ॥

अपने-अपने कर्मों में निस्त द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) वेदों को पढ़े।
इनमें ब्राह्मण ही वेदों को पढ़ावे अन्य कोई भी न पढ़ावे, यही निश्चय है ब्राह्मण
सबको वृत्ति का उपाय यथा विधि जानकर उसका सब लोगों को उपदेश करे
और स्वयं भी अपनी जीविका का उपाय करे। १-२।

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रेष्ठयान्नियमस्य च धारणात् ।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ॥ ३ ॥
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्य एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

अत्यन्त श्रेष्ठता, प्रकृति की श्रेष्ठता के कारण नियमों को धारण करने में
और संस्कारों की विशेषता से सभी वर्णों को द्विजाति कहते हैं। चौथा (एक
जाति वर्ण) शूद्र है पाँचवाँ कोई नहीं है। ३-४।

सर्ववर्णेषु तुल्यासु नलीष्वक्षतयोनिषु ।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते ॥ ५ ॥

स्त्रीष्वनन्तरजातासु

द्विजैरुत्पादितान्सुतान् ।

सदृशानेव

जानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥ ६ ॥

सभी वर्णों में सजाय अक्षतयोनिवाली स्त्रियों में अनुलोम विधि से जो सन्तान होगी वह उसी वर्ण की होगी । (जैसे ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण ही होगा एवं अन्य वर्णों में जानना) व्यवधानरहित अपने से निम्न वर्ण की स्त्रियों में द्विजातियों से उत्पन्न हुए पुत्र (अर्थात् ब्राह्मण से क्षत्रियों में, क्षत्रियों से वैश्य में, वैश्य से शूद्र में) माता के हीन जातीय होने से निन्दित और पिता के सदृश होते हैं । ५-६ ।

अनन्तरासु जातानां विधिरेष सनातनः ।

द्वयेकान्तरासु जातानां धर्म्यं विद्यादिमं विधिम् ॥ ७ ॥

ब्राह्मणाद्वैश्यकन्यायामम्बष्ठो नाम जायते ।

निषादः शूद्रकन्यायां यः पारशव उच्यते ॥ ८ ॥

यह व्यवधानरहित अपने से हीन जाति की स्त्रियों में उत्पन्न पुत्रों की यह सनातन विधि कही, अब दो अथवा एक वर्ण के अन्तरवाली स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों के लिये यह नियम है । ब्राह्मण से वैश्य कन्या में उत्पन्न पुत्र को अम्बष्ठ कहते हैं और शूद्र कन्या से उत्पन्न पुत्र को निषाद कहते हैं और उसी को पारशव भी कहते हैं । ७-८ ।

क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां कूराचारविहारवान् ।

क्षत्रशूद्रवपुर्जन्तुरुग्रो नाम प्रजायते ॥ ९ ॥

विप्रस्य विषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः ।

वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्वडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥ १० ॥

क्षत्रियों से शूद्र कन्या से उत्पन्न पुत्र कूर आचार और विहार करने वाला होता है । उसकी प्रकृति क्षत्रिय और शूद्र दोनों के जैसी होती है । और उसे उग्र कहते हैं । ब्राह्मण से अन्य तीन वर्ण वाली (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) स्त्रियों में उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय से अन्य दो वर्ण (वैश्य, शूद्र) की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्र और वैश्य से केवल शूद्र वर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र ये छः पुत्रों को अपसद कहते हैं । ९-१० ।

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः।

वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्रांगनासुतौ ॥ ११ ॥

शूद्रादायोगवः क्षता चण्डालश्चाधमो नृणाम्।

वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः ॥ १२ ॥

ब्राह्मण की कन्या में क्षत्रिय से उत्पन्न हुए पुत्र की सूत जाति होती है। क्षत्रिय और ब्राह्मण की कन्या से वैश्य द्वारा उत्पन्न हुआ पुत्र क्रमशः मगध और वैदेह जाति के होते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की कन्या में शूद्र से उत्पन्न हुए पुत्र क्रमशः अयोगव, क्षता और अधम 'चाण्डाल' वर्ण संकर होते हैं। ११-१२।

एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथ स्मृतौ।

क्षत्रवैदेहको तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि ॥ १३ ॥

पुत्रा येऽनन्तरस्त्रीजाः क्रमेणोक्ता द्विजन्मनाम्।

ताननन्तरनाम्नस्तु मातृदोषात्प्रचक्षते ॥ १४ ॥

अनुलोम से एकान्तर में जैसे अम्बष्ठ और उग्र हैं वैसे ही प्रतिलोम रीति से एकान्तर वर्ण में उत्पन्न छत्ता और वैदेह भी हैं। द्विजातियों के अनन्तर स्त्रियों में जो संतानें होती हैं वे माता के दोष से (अर्थात् माता के भिन्न जाति होने से) उसी जाति के पुकारे जाते हैं। १३-१४।

ब्राह्मणादुग्रकन्यायामावृतो नाम जायते।

अभीरोऽम्बष्ठकन्यायामायोगव्यां तु धिग्वणः ॥ १५ ॥

आयोगवश्च क्षता च चाण्डालश्चाधमो नृणाम्।

प्रातिलोम्येन जायन्ते शूद्रादपसदास्त्रयः ॥ १६ ॥

उग्र कन्या (क्षत्रियों से शूद्रा से उत्पन्न कन्या को उग्रा कहते हैं) में ब्राह्मण से उत्पन्न बालक को आवृत, अम्बष्ठ (ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न कन्या) कन्या में उत्पन्न पुत्र अमीर और आयोगवी कन्या (शूद्र से वैश्या में उत्पन्न कन्या) में उत्पन्न पुत्र को धिग्वण कहते हैं। प्रतिलोम रीति से उत्पन्न आयोगव, क्षता और मनुष्यों में अधर्म चाण्डाल ये तीनों सर्वदा शूद्र से भी नीच होते हैं। १५-१६।

वैश्यान्मागधवैदेहौ क्षत्रियात्सूत एव तु।

प्रतीपमेते जायन्ते परेष्यपसदास्त्रया ॥ १७ ॥

जातो निषादच्छूद्रायां जात्या भवति पुक्कसः।

शूद्राज्जातोनिषाद्यां तु स वै कुक्कुटकः स्मृतः ॥ १८ ॥

प्रतिलोम रीति से वैश्य से उत्पन्न (अर्थात् क्षत्रिय और ब्राह्मण की कन्या में) पुत्र क्रम से मागध और वैदेह तथा क्षत्रिय से उत्पन्न (ब्राह्मण की कन्या में) पुत्र सूत, ये तीनों सर्वदा भ्रष्ट होते हैं। शूद्र की कन्या में निषाद से उत्पन्न 'पुक्कस' और निषाद की कन्या में शूद्र से उत्पन्न पुत्र 'कुक्कुट' कहा जाता है। १७-१८।

क्षतुर्जातस्तथोग्रायां स्वापक इति कीर्त्यते।

वैदेहकेन त्वम्बष्ठ्यामुत्पन्नो वेण उच्यते ॥ १९ ॥

द्विजातयः सर्वासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्।

तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्ब्रात्यानिति विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

उग्र कन्या में छत्ता से उत्पन्न पुत्र को 'स्वापक' कहते हैं। अम्बट कन्या में वैदेह से उत्पन्न पुत्र को 'वेण' कहते हैं। द्विजातियों के सवर्ण स्त्रियों में जो पुत्र होते हैं यदि उनका यज्ञोपवीत संस्कार किया गया तो सावित्री से भ्रष्ट होने के कारण वे 'ब्रात्य' कहे जाते हैं। १९-२०।

ब्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः।

आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च ॥ २१ ॥

झल्लो मल्लश्च राजन्गाद्ब्रात्यान्निच्छिविरेव च।

नटश्च करणश्चैव खसो द्रविड एव च ॥ २२ ॥

वात्य विप्र से पापात्मा 'भूर्जकण्टक' पुत्र उत्पन्न होता है उसी को आवन्तय, वाटधान, पुष्पध और शैख भी कहते हैं। क्षत्रिय वर्ण के ब्रात्य से उत्पन्न पुत्र को झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस और द्रविड़ कहते हैं। २१-२२।

वश्यात्त जायते ब्रात्यात्सुधन्वाचार्य एव च।

कारुवश्च विजन्मा च मैत्रः सत्वत एव च ॥ २३ ॥

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च ।

स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकराः ॥ २४ ॥

वैश्य वर्ण के ब्राह्म्य से स्वजातीय स्त्री से उत्पन्न पुत्र को सुधन्वाचार्य कारुष्य विजन्मा मैत्र और सात्वत कहते हैं । विप्रादि वर्णों का परस्पर व्यभिचार करने से, स्वगोत्र में विवाह करने में और अपने-अपने कर्मों को छोड़ देने से वर्ण संकर उत्पन्न होते हैं । २३-२४ ।

संकीर्णयोनयो ये तु प्रतिलोमानुलोमजाः ।

अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च तान्प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ २५ ॥

सूतो वैदेहकश्चैव चाण्डालश्च नराधमः ।

मागधः क्षत्रजातिश्च तथाऽयोगव एव च ॥ २६ ॥

प्रतिलोम और अनुलोम से जो संकीर्ण जातियाँ उत्पन्न होती हैं तथा परस्पर व्यभिचार से उत्पन्न जाति को सम्पूर्ण कहता हूँ । सूत, वैदेहक, नराधम, चाण्डाल, मागध, क्षता और आयोगव ये ६ वर्णसंकर हैं । २५-२६ ।

एते षट् सदृशान्वर्णाञ्जनयन्ति स्वयोनिषु ।

मातृजात्यां प्रसूयन्ते प्रवरासु च योनिषु ॥ २७ ॥

यथा त्रयाणां वर्णानां द्वयोरात्मास्य जायते ।

आनन्तर्यात्स्वयोण्यां तु तथा बाह्येष्वपि क्रमात् ॥ २८ ॥

ये छः अपने सजातीय, माता की जाति की कन्यायें अपने ही अनुरूप सन्तान को उत्पन्न करती हैं । जैसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) तीनों वर्णों के बीच दो वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य) की विवाहित कन्याओं से ब्राह्मण द्वारा अनुलोमक्रम से उत्पन्न पुत्र श्रेष्ठ होता है उसी प्रकार वैश्य और क्षत्रिय से क्षत्रिया और ब्राह्मणी स्त्री में उत्पन्न पुत्र, शूद्र के प्रतिलोमज पुत्र से श्रेष्ठ होता है । २७-२८ ।

ते चापि बाह्यान्सुबहूस्ततोऽप्यधिकदूषितान् ।

परस्परस्य दारेषु जनयन्ति विगर्हितान् ॥ २९ ॥

यथैव शूद्रो ब्राह्मण्यां बाह्यं दन्तुं प्रसूयते ।

तथा बाह्यतरं बह्याश्चातुर्वर्ण्ये प्रसूयते ॥ ३० ॥

वे पूर्वोक्त वर्णसंकर परस्पर का स्त्रियों में उभयक्रम से अत्यन्त निन्दित संतान उत्पन्न करते हैं । जिस प्रकार से शूद्र ब्राह्मणी (ब्राह्मण की स्त्री) में

चाण्डाल को पैदा करता है। उसी प्रकार चारों चाण्डाल जातियाँ अपने से भी निन्दित सन्तानों को उत्पन्न करती हैं। २९-३०।

प्रतिकूलं वर्तमाना बाह्या बाह्यतरान्युनः।

हीना हीनात्प्रसूयन्ते वर्णान्यञ्चशैव तु॥ ३१॥

प्रसाधनोपचारज्ञमदासं दासजीवनम्।

सैरिन्ध्रं वागुरावृत्तिं सूते दस्युरयोगवे॥ ३२॥

प्रतिकूल वर्तमान बाह्यहीन पुत्रों के चारों वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न और स्वजातीय स्त्रियों में पन्द्रह-पन्द्रह प्रकार की बाह्यतर हीन जाति उत्पन्न होती हैं। आयोगव स्त्री से दस्यु द्वारा उत्पन्न हुए पुत्र को 'सैरिन्ध्र' कहते हैं। वह प्रसाधनोपचार (केश रचनादि) में कुशल और जूठा न खाकर दासवृत्ति और व्याध (बहेलिये) की वृत्ति से अपना निर्वाह करता है। ३१-३२।

मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते।

नृन्प्रशंसत्यजस्त्रं यो घण्टाताडोऽरुणोदये॥ ३३॥

निषादो मार्गवं सूते दासं नौकर्मजीविनम्।

कैवर्तमिति यं प्राहुरार्यावर्तनिवासिनः॥ ३४॥

वैदेह से पूर्वोक्त स्त्री में उत्पन्न पुत्र को 'मैत्रेय' कहते हैं। वह मधुर बोलने वाला और सूर्योदय में घंटा बजाकर अपनी जीविका के लिए मनुष्यों की प्रशंसा करता फिरता है। निषाद पूर्वोक्त स्त्री में उत्पन्न पुत्र को 'मार्गव' या 'दास' कहते हैं। जो कि नौका के द्वारा जीवन निर्वाह करता है। जिसे आर्यावर्त के रहने वाले 'कैवर्त' कहते हैं। ३३-३४।

मृतवस्त्रभृत्सु नारीषु गतितात्राशनासु च।

भवन्त्यायोगवीष्वेते जाविहीनाः पृथक् त्रयः॥ ३५॥

कारावरो निषादात्तु चर्मकारः प्रसूयते।

वैदेहिकादन्ध्रमेदौ बहिर्ग्रामप्रतिश्रयौ॥ ३६॥

पूर्वोक्त तीनों (सैरिन्ध्र, मैत्रेय, मार्गव) हीन जातियाँ मुँदे का वस्त्र पहनने वाली और गर्हित (जूठा) खाने वाली आयोगवी स्त्रियों से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न होती हैं। निषाद जाति से वैदेह पत्नी में उत्पन्न पुत्र 'कारावर'

नामकी चमार जाति उत्पन्न होती है और वैदेह जाति से पूर्वोक्त पत्नियों में 'अन्ध्र' और 'मेद' क्रम से उत्पन्न होते हैं। ये ग्राम से बाहर घर बनाकर रहते हैं। ३५-३६।

चण्डालात्पाण्डुसोपाकस्त्वक्सारव्यहारवान् ।

आहिण्डको निषादेन वैदेह्यामेव जायते ॥ ३७ ॥

चाण्डालेन तु सोपाको मूलव्यसनवृत्तिमान् ।

पुक्कस्यां जायते पापः सदा सज्जनगर्हितः ॥ ३८ ॥

चाण्डाल से वैदेहिक स्त्री में 'पाण्डुसोपाक' नाम का पुत्र होता है जो कि (त्वक्साठ) बाँस से जीविका करने वाला होता है। निषाद से वैदेहिक पत्नी में 'आहिण्डक' नामक पुत्र उत्पन्न होता है। चाण्डाल से पुक्कसी स्त्री में सोपाक उत्पन्न होते हैं ये अपने मूल व्यवसाय (वधिकवृत्ति) को करने वाले होते हैं इसलिए सज्जनों से निन्दित होते हैं। ३७-३८।

निषादस्त्री तु चण्डालात्पुत्रमन्त्यावसायिनम् ।

श्मशानगोचरं सूते बाह्यानामपि गर्हितम् ॥ ३९ ॥

संकरे जातयस्त्वेताः पितृमातृप्रदर्शिताः ।

प्रच्छन्ना वा प्रकाशा वा येदितव्याः स्वकर्मभिः ॥ ४० ॥

निषाद जाति की स्त्री चाण्डाल से 'अन्त्यावासायी' पुत्र को उत्पन्न करती है जो श्मशान का काम करने वाला और चाण्डाल से भी हीन होता है। वर्णसंकरों की इतनी जातियाँ माता-पिता के भेद से दिखाई गईं किन्तु जो गुप्त और प्रकाश में जातियाँ हैं उन्हें उनके कर्म से समझना चाहिए। ३९-४०।

सजातिजानन्तरजा षट् सुता द्विजधर्मिणः ।

शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृता ॥ ४१ ॥

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे ।

उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः ॥ ४२ ॥

द्विजातियों में सजातीय स्त्रियों में और अनन्तर जातियों (अनुलोम क्रम से) द्वारा (अर्थात् ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया और वैश्यों में तथा क्षत्रिय द्वारा वैश्य

में) ये छः पुत्र द्विजत्व के अधिकारी होते हैं और प्रतिलोम क्रम से उत्पन्न जातियाँ शूद्र के सहधर्मी हैं इसलिए वे द्विजत्व के योग्य नहीं हैं। वे (पूर्वोक्त सजातीय और अनुलोमज) युग-युग में तपस्या और बीज के प्रभाव से जन्म से ही मनुष्यों के बीज उच्चता और नीचता को प्राप्त होते हैं। ४१-४२।

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।

वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥ ४३॥

पौण्ड्रकाश्चौड्रपविडाः काम्बोजा यवनां शकाः।

पारदाः पल्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥ ४४॥

ये (आगे कही हुई) क्षत्रिय जातियाँ क्रिया के (उपनयनादि) लोप होने से ब्राह्मण का दर्शन न होने के कारण (अनध्ययनादि से) इस लोक में शूद्रत्व को प्राप्त होती हैं। पौंड्रक, औड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्लव, चीन किरात, दरद और खश-ये क्रियालोपादि के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हो गई है। ४३-४४।

मुखबाहूरुपञ्जनां या लोके जायते बहिः।

म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे त दस्यवः स्मृताः॥ ४५॥

य द्विजानामपसदा ये चापध्वंसजाः स्मृताः।

ते निन्दितैर्वतयेयुर्द्विजानामेव कर्मभिः॥ ४६॥

(मुख) ब्राह्मण, (बाहु) क्षत्रिय, (ऊरु) वैश्य और (पद) शूद्र की बाह्य जातियाँ हो गई हैं वे चाहे म्लेच्छ या आर्य दोनों में चाहे जिस भाषा को बोले वे संसार में दस्यु कही जाती हैं। द्विजों से उत्पन्न अपसद और प्रतिलोमज जातियाँ वे द्विजों के कर्म के लिए आगे कहे हुए निन्दित कर्मों द्वारा अपना जीवन निर्वाह करें। ४५-४६।

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम्।

वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः॥ ४७॥

मत्स्यघातो निषादानां त्वष्टिस्त्वायोगवस्य च।

मेवान्धचुम्भदगूनामारण्य पशुर्हिसनम्॥ ४८॥

सूतों का कार्य घोड़ों का सारथ्य (सहीसी) करना और रथ हाँकना

(कोचवानी) है तथा अम्बष्ठों का चिकित्सा (दवा) करना, वैदेहकों का जनानखाने में स्त्रियों का कार्य करना और मगधों का स्थलमार्ग से रोजगार करना है। निषादों का कार्य मछली मारना, आयोगवों का कार्य लकड़ी का है मेद, आँध्र, चुंचु, और मद्गओं का कार्य जंगली पशुओं का वध करना है। ४७-४८।

क्षत्रुग्रपुक्कसानां त विलौकौवधबन्धनम्।

धिग्वणानां चर्मकार्य वेणानां भांहवादनम्॥ ४९॥

चैत्यद्रमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च।

वसेयुरेते विज्ञानां वर्तयन्तः स्वकर्मभिः॥ ५०॥

क्षता, उग्र और पुकसों का कार्य बिल में रहने वाले जीवों को बांधना और मारना है। धिग्वणों का कार्य चमड़ा बेचना और वेणों का कार्य बजाने वाले बर्तनों को बजाना है। ये पूर्वोक्त जातियाँ ग्राम के निकट किसी विशिष्ट वृक्ष के नीचे या श्मशान, पहाड़ अथवा उपवन में अपने कर्म के अनुरूप जीविका करती हुई वास करें। ४९-५०।

चण्डालचश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः।

अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वर्दभम्॥ ५१॥

वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम्।

कार्णायसमलंकारः परिव्रज्या च नित्यशः॥ ५२॥

चांडाल और श्वपचों के रहने का स्थान गाँव के बाहर रहना चाहिए। इनके पात्र (बर्तन) मिट्टी के न होने चाहिए तथा कुत्ता और गदहा ही इनका धन है। मुर्दों के उतारे वस्त्र ही इनके वस्त्र हैं, टूटे-फूटे बर्तनों में भोजन करना चाहिए लौह के आभूषण पहनना चाहिए और नित्य एक स्थान से दूसरे स्थान में घूमना चाहिए। ५१-५२।

न तैः समयमन्विच्छेत्पुरुषो धर्ममाचरन्।

त्र्यवहारो मिथस्तेषां विवाहः सदृशैः सह॥ ५३॥

अन्नमेषां पराधीनं देयं स्यादिभन्नभाजने।

रात्रौ न विचरेयुस्ते ग्रामेषु नगरेषु च॥ ५४॥

धर्म कार्य में संलग्न मनुष्य इनके साथ भाषण आदि व्यवहार न करे। इनका विवाह और परस्पर का व्यवहार न (लेन-देन) आपस में ही होता

है। इनको अपने नौकरों से टूटे-फूटे बर्तनों से अन्न दिलावे। ये रात में ग्राम या नगर में न घूमें। ५३-५४।

दिवा करेयुः कार्यार्थं चिह्निता राजशासनैः।

अबान्धवं शवं चैवं निहरेयुरिति स्थितिः॥ ५५॥

वध्यांश्च हन्युः सततं यथाशास्त्रं नृपाज्ञया।

वध्यवासांसि गह्वीयुःशय्याश्चाभरणामि च॥ ५६॥

ये राजा की आज्ञा से राजचिन्ह को धारण कर दिन में काम के लिए घूमे। जिनके कोई बन्धु-बाँधव नहीं हैं ऐसे मुर्दों को ढोवे यही निर्णय है। शास्त्र के अनुसार राजा की आज्ञा की आज्ञा से दिए हुए वध के दण्ड वाले मनुष्य (फाँसी पाने वाले) का वध करें और उनके, कपड़े चारपाई और आभूषण ले लेवें। ५५-५६।

वर्णापेतमविज्ञातं नरं कलुषयोनिजम्।

आयरूपमिवानार्यं कर्मभिः स्वैर्विभावयेत्॥ ५७॥

अनार्यया निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मा।

पुरुषं व्यञ्जयन्तीह लोके कलुषयोनिजम्॥ ५८॥

जो मनुष्य वर्ण से रहित, अज्ञात और कलुषितयोनि (वर्ण संकर) से उत्पन्न के रूप में अनार्य हों उन्हें कर्म से जानना चाहिए। अनार्यता (असाधुता), निष्ठुरता, क्रूरता, अकर्मण्यता—ये लक्षण इस संसार में कलुषित योनि में उत्पन्न पुरुषों के होते हैं। ५७-५८।

पित्र्यं वा भजेते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।

न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥ ५९॥

कुले मुख्येऽपि जातस्य यस्य स्याद्योनिसंकरः।

संश्रयत्मेव तच्छीलं नरोऽल्पमपि वा बहु॥ ६०॥

पूर्वोक्त पुरुष पिता या माता के अथवा दोनों के शील स्वभाव के अनुसार ही होते हैं। किसी भी प्रकार वह दुष्टकुल में उत्पन्न पुरुष अपने असली रूप को नहीं छुपा सकता है। श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर भी जो वर्णसंकर हो जाता है वह अपने जन्म देने वाले के स्वभाव से वंचित नहीं रहता थोड़ा या अधिक अपने पूर्वज का स्वभाव उसमें अवश्य रहता ही है। ५९-६०।

यत्र त्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः ।

राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ६१ ॥

ब्राह्मणार्थे गवार्थे व देहत्यागोऽनुपस्कृतः ।

स्त्रीबालाभ्युपपत्तौ च बाह्यानां सिद्धिकारणम् ॥ ६२ ॥

जहाँ पर जिस देश में ये वर्ण को दूषित करने वाले वर्णसंकर उत्पन्न होते हैं, वह देश प्रजा के साथ शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण के लिए, गौ के लिए और स्त्रियों तथा बालकों के आपत्ति काल में इनकी रक्षा के लिए निरपेक्ष बुद्धि से प्रतिलोभज जातियों का प्राण दे देना इनकी (रक्षा करने में प्राण देने वालों के लिए) स्वर्ण अवसर होता है। ६१-६२।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ॥ ६३ ॥

शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्यजायते ।

अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद्युगात् ॥ ६४ ॥

अहिंसा (किसी को भी मन, वाणी और शरीर से दुःख न देना) सत्य बोलना, चोरी नहीं करना, पवित्रता और इन्द्रियों का निग्रह करना ये संक्षेप में चारों वर्णों का धर्म मनुजी ने कहा है। ब्राह्मण से शूद्रा (शूद्र जाति की स्त्री में) उत्पन्न कन्या यदि ब्राह्मण के साथ ब्याही जाये और आगे भी यही क्रम रहे तो अपनी सातवीं पीढ़ी में अपनी नीच योनि से उद्धार पाकर ब्राह्मण हो जाती है। ६३-६४।

शूद्रो ब्राह्मणताभेति ब्राह्मणश्चति शूद्रताम् ।

क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ ६५ ॥

अनार्यायां समुत्पन्ना ब्राह्मणात्तु यदृच्छया ।

ब्राह्मण्यामप्यनार्यात्तु श्रेयस्त्वं क्वेति चेद्भवेत् ॥ ६६ ॥

शूद्र ब्राह्मणत्व को और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है उसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य से उत्पन्न शूद्र भी क्षत्रियत्व और वैश्यत्व को प्राप्त होता है। ब्राह्मण से अपनी इच्छा से (क्वारी अविवाहित शूद्र कन्या में और शूद्र से ब्राह्मण कन्या में) उत्पन्न पुत्र, इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है, ऐसी शंका होने पर—

जातो नार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः ।

जातोऽप्यनार्यादार्यायामनार्य इति निश्चयः ॥ ६७ ॥

तावुभावप्यसंस्कार्याविति धर्मो व्यवस्थितः।

वैगुण्याज्जन्मनः पूर्वं उत्तरः प्रतिलोमतः ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण से शूद्र कन्या में उत्पन्न पाकादि यज्ञ गुणों से युक्त होने के कारण श्रेष्ठ है। शूद्र से ब्राह्मण की कन्या में उत्पन्न पुत्र प्रतिलोभज होने के कारण अपशस्त है, यही निश्चय है। ये दोनों (पूर्वोक्त उत्पन्न पुत्र) उपनयनादि संस्कारों के अधिकारी नहीं होते, यही धर्मशास्त्र की व्याख्या है। मंत्र से ही वैगुण्य होने के कारण और दूसरा प्रतिलोमज होने के कारण यज्ञोपवीतादि संस्कारों के योग्य नहीं है। ६७-६८।

सुबीजं चैव सुक्षेत्रे जातं संपद्यते यथा।

तथार्याज्जात आर्यायां सर्वं संस्कारमर्हति ॥ ६९ ॥

बीजमेके प्रशंसन्ति क्षेत्रमन्ये मनीषिणः।

बीजक्षेत्रे तथैवान्य तत्रेयं तु व्यवस्थितिः ॥ ७० ॥

जैसे अच्छे खेत में अच्छा बीज बोने से अच्छी उपज होती है उसी प्रकार आर्य पुरुष के आर्य स्त्री में उत्पन्न पुत्र सभी संस्कारों का अधिकारी होता है। कोई बीज की प्रशंसा करता है, कोई क्षेत्र और कोई दोनों की प्रशंसा करता है इसलिए इस विषय में यह व्याख्या है। ६९-७०।

अक्षेत्रे बीजदमुत्सृष्टमन्तरेव विनश्यति।

अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥ ७१ ॥

यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्।

पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद्बीजं प्रशस्यते ॥ ७२ ॥

खराब खेत में (ऊसर में) बोया हुआ बीज फूल देने के पूर्व ही नष्ट हो जाता है, और जिस खेत में बीज ही न पड़े वह केवल स्थंडिल ही रहता है। जिस कारण से बीज के प्रभाव से तिर्यक जाति में उत्पन्न होने पर भी (ऋष्यशृंग आदि) ऋषि होकर पूजित हुए इसलिए बीज ही प्रधान है। ७१-७२।

अनार्यमार्यकर्माणमार्य चानार्यकर्मिणम्।

संप्रधार्याब्जवीद्धाता न समौ नाशमाविति ॥ ७३ ॥

ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिताः।

ते सम्यगुपजीवेयुः षट्कर्माणि यथाक्रमम् ॥ ७४ ॥

आर्य (द्विज, काम करने वाला अनार्य शूद्र) और अनार्य का काम करने वाला आर्य इन दोनों के विषय में विचार करके ब्रह्मा ने कहा कि ये दोनों न समान हैं और न तो असमान ही हैं। जो ब्राह्मण अपने कर्म में संलग्न और ब्रह्मनिष्ठ हैं वे आगे कहे हुए छः कर्मों का भली-भाँति अनुष्ठान करें। ७३-७४।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।

दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनः ॥ ७५ ॥

षष्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।

याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ॥ ७६ ॥

अध्यापन, अध्ययन यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह ये छः कार्य ब्राह्मण के हैं। इन छः कार्यों में से तीन काम याजन (यज्ञ करना) अध्यापन और विशुद्ध दान लेना ब्राह्मण की जीविका है। ७५-७६।

त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्माक्षत्रियं प्रति।

अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः ॥ ७७ ॥

वैश्यं प्रति तथैवते निवर्तेरन्निति स्थितिः।

न तौ प्रति तान्धमन्मिनुसह प्रजापतिः ॥ ७८ ॥

ब्राह्मण से क्षत्रिय तीन धर्मों अध्यापन, याजन और तीसरा प्रतिग्रह (दान लेने) से रहित हैं। उसी प्रकार वैश्य भी इन तीनों धर्मों से निवृत्त है, यह स्थिति है। क्योंकि प्रजापति से मनु ने इन लोगों के प्रति ये धर्म नहीं कहे हैं। ७७-७८।

शस्त्रास्त्रभृत्त्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।

आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ॥ ७९ ॥

वेदाभ्यासो ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य च रक्षणम्।

वार्ता कर्मैव वैश्यस्य विशिष्टानि स्वकर्मसु ॥ ८० ॥

क्षत्रिय को हथियार धारण करना और वैश्य को पशुपालन, खेती और व्यापार जीविका के लिए करना चाहिए। इनका धर्म दान देना, अध्ययन और यज्ञ करना है। ब्राह्मण को वेदाभ्यास, क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा और वैश्य को रोजगार करना ये ही उनके विशेष कर्म हैं। ७९-८०।

अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।

जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥ ८१॥

उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।

कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्त जीविकाम्॥ ८२॥

यदि ब्राह्मण अपने यथोक्त कर्म से जीविका न कर सके तो वह क्षत्रिय धर्म से (रक्षा कार्य) जीविका चलावे, क्योंकि क्षात्र धर्म ही उसके निकट धर्म है। यदि दोनों प्रकार की जीविका से ब्राह्मण अपनी जीविका न कर सके तो उसकी जीविका कैसे हो ऐसी स्थिति में खेती और गौ की रक्षा को करके वैश्य वृत्ति से अपनी जीविका करे। ८१-८२।

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।

हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्॥ ८३॥

कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता।

भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयोमुखम्॥ ८४॥

वैश्य की वृत्ति से जीता हुआ ब्राह्मण या क्षत्रिय हिंसा वाली पराधीन कृषि को यत्न से त्याग दे, कृषि कर्म श्रेष्ठ है। ऐसा कोई-कोई मानते हैं किन्तु सज्जनों ने कृषि की निन्दा की है क्योंकि खेती और औजार (फरसा, फर, हल) से भूमि और भूमि में रहने वाले जीवों का नाश होता है। ८३-८४।

इदं तु वृत्तिवैकल्यात्त्यजतो धर्मनैपुणम्।

विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम्॥ ८५॥

सर्वान्सानपोहेत कृतात्रं च तिलैः सह।

अश्मनो लवणं चैव पशवो ये च मानुषाः॥ ८६॥

जिन ब्राह्मणों क्षत्रियों ने अपनी निज वृत्ति से जीविका असम्भव समझकर अपने धर्म नैपुण्य का त्याग किया हो वे वैश्यों के व्यापार पदार्थों को छोड़कर अन्य वस्तुओं का व्यापार अपने धन को बढ़ाने के लिए करें। सभी प्रकार के रसों से युक्त पदार्थ, अन्न से बने पदार्थ, तिल, पत्थर, नमक और मनुष्यों के उपकारी पशु इन सबको बेचना त्याग दे। ८५-८६।

सर्वं च तान्तवं रक्तं शाणक्षौमाविकानि च।

अपि चैत्त्युररक्तानि फलमूले तथौषधीः॥ ८७॥

अपः शस्त्रं विषं मांसं सोमं गन्धांश्च सर्वशः।

क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान्॥ ८८ ॥

सभी प्रकार के बने वस्त्र लाल रंग, तीसी के छाल का और उन्नी वस्त्र यदि रंगे न हों तब भी और फल, मूल और औषधि इनका बेचना भी त्याग दे। पानी, हथियार, विष, माँस, सोमस्स सभी प्रकार के सुगंधित पदार्थ, दूध, दही, तेल, मधु, गुड़ और कुश भी बेचना मना है। ८७-८८।

आरण्यांश्च पशून्सर्वान्द्विषाणश्च वयांसि च।

मद्यं नीलिंश्च लाक्षां च सर्वांश्च कशपांस्तथा॥ ८९ ॥

काममुत्पाद्य कृष्यां तु स्वमेव कृषीवलः।

विक्रीणीत तिलाज्जूद्रान्धर्मार्थमचिरस्थितान्॥ ९० ॥

सभी प्रकार के जंगल में रहने वाले जानवर, दाढ़ वाले पशु, पक्षी, मदिरा, नील, लाख (लाह) और जिन पशुओं का खुर जुटा हो उन्हें न बेचे। अपनी किसी खेती में अन्य धान्यों के साथ अधिक मात्रा में तिल पैदा कर धर्मार्थ हेतु उसे बेच दें। ८९-९०।

भोजनाभ्यञ्जनाहानाद्यदन्यकुरुते तिलैः।

कुमिभूतः श्वविष्ठायां पितृभिः सह मज्जति॥ ९१ ॥

सद्यः पतति मांसेन लाक्षया लवणेन च।

त्र्यहेण शूद्रो भवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥ ९२ ॥

जो भोजन, उबटन और दान के सिवा अन्य कार्य तिल से करता है तो वह कीड़ा होकर पितरों के साथ कुत्ते की विष्ठा में गिरता है। माँस, बेचने से तीन ही दिन में शूद्र हो जाता है। ९१-९२।

इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः।

ब्राह्मणः समरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति॥ ९३ ॥

रसा रसैर्निमातव्या न त्वेव लवणं रसैः।

कृतान्नं चाकृतान्नेन तिला धान्येन तत्समाः॥ ९४ ॥

इतर पदार्थों को (मांसादि को छोड़कर) स्वेच्छा से बेचने से ब्राह्मण सात रत में ही वैश्यत्व को प्राप्त हो जाता है। रस को रस से बदल सकते हैं (गुड़ादि को घी आदि से बदलना) किन्तु नमक अन्य रसों में नहीं बदला

जाता है। पक्वान कच्चे अन्न से और तिल धान से दोनों बराबर-बराबर तौल कर बदले जा सकते हैं। ९३-९४।

जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।

न त्वेव ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत कर्हिचित्॥ ९५॥

यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।

तं राजा निर्धनं कत्वा क्षिप्रमेव प्रवासयेत्॥ ९६॥

इस प्रकार आपत्ति में पंसा हुआ क्षत्रिय अपनी जीविका करे किन्तु कभी भी ब्राह्मण की वृत्ति का अवलम्बन न करे। जो अधम जाति मोहवश उत्तम वृत्ति से जीवन निर्वाह करती हो उसको राजा निर्धन करके शीघ्र ही देश से निकाल देवे। ९५-९६।

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारव्यः स्वनुष्ठितः।

नरधर्मेण जीवन्हि सद्यः पतति जातितः॥ ९७॥

वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्त्यापि वर्तयेत्।

अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥ ९८॥

अपना धर्म किसी प्रकार से खंडित हो तो भी श्रेष्ठ है किन्तु दूसरे का सर्वांग सम्पन्न होते हुए भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि दूसरे के बल पर जीने वाला शीघ्र ही जाति से पतित हो जाता है। यदि वैश्य अपनी जीविका जीवन निर्वाह न कर सके तो शूद्रवृत्ति से जीविका का निर्वाह करे और शक्तिशाली हो जाने पर उसे छोड़ दे। ९७-९८।

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।

पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः॥ ९९॥

यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।

तानि कारुककर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥ १००॥

यदि द्विजातियों की सेवा करने में शूद्र असमर्थ हो और उसके स्त्री बच्चे अन्नादि का कष्ट पा रहे हों तो वह कारीगरी का काम करके जीविका चलाकर सबका भरण पोषण करें। जिन प्रचलित कार्यों द्वारा द्विजातियों की सेवा की जा सकती है वे अनेक प्रकार के शिल्प और कारीगरी के काम हैं। ९९-१००।

वैश्यवृत्तिमनातिष्ठन्ब्राह्मणः स्वे पति स्थितः।

अवृत्तिकषितः सोदन्निमं धर्म समाचरेत्॥ १०१॥

सर्वतः प्रतिगृहीयाद्ब्राह्मणस्त्वन्यं गतः।

पवित्रं दुष्यतोत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते॥ १०२॥

अपने मार्ग में स्थित ब्राह्मण यदि वृत्ति के अभाव में पीड़ित होकर यदि वैश्य वृत्ति न कर सके तो आगे कही हुई वृत्ति को करे। आपत्ति में फंसा हुआ ब्राह्मण दान लेवे क्योंकि धर्मशास्त्र में यह प्रसिद्ध है कि पवित्र वस्तु दूषित नहीं होती। १०१-१०२।

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात्।

दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते॥ १०३॥

जीवितात्यथमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।

आकाशमिव पंकेन न स पापेन लिप्यते॥ १०४॥

अध्यापन (अपात्र को पढ़ाने) से, याजन, (यज्ञ करने से) अथवा निकृष्ट दान लेने से ब्राह्मणों को दोष नहीं होता क्योंकि ब्राह्मण अग्नि और जल के बराबर हैं। जैसे आकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता वैसे ही प्राण जाने के भय से जो कहीं इधर-उधर अन्न खा लेता है वह प्राणी भी पाप से लिप्त नहीं होता है। १०३-१०४।

अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पदबुभुक्षितः।

न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन्॥ १०५॥

श्वमांसमिच्छन्नातोंऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः।

प्राणामां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान्॥ १०६॥

भूख से व्याकुल अजीगर्त ऋषि पुत्र को मारने (वध करने) के लिए तैयार हो गए (यज्ञ में बलि देने को) किन्तु क्षुधा के मिटाने के लिए ऐसा करने पर भी वे पाप से लिप्त नहीं हुए। धर्म अधर्म को जानने वाले वामदेव ऋषि ने प्राणों की रक्षा के लिए क्षुधा से आर्त होकर कुत्ते के मांस को खाने की इच्छा की तो भी वे उस पाप से लिप्त नहीं हुए। १०५-१०६।

भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सुपुत्रो विजने वने।

बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः॥ १०७॥

क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम् ।

चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः ॥ १०८ ॥

निर्जन वन में क्षुधा से पीड़ित महातपस्वी भगद्वाज ऋषि पुत्रों के सहित वृधुनामक बड़ई से बहुत-सी गायें माँगी थीं। धर्म अधर्म के जानने वाले विश्वामित्र ऋषि भूख से आर्त होकर चाण्डाल के हाथ से कुत्ते की जंघा का मांस लेने को तैयार हुए। १०७-१०८।

प्रणिग्रहाद्याजनाद्वा तथैवाध्यापनादपि ।

प्रतिग्रहः प्रत्यवरः प्रेत्य विप्रस्य गर्हितः ॥ १०९ ॥

याजनाध्यापने नित्यं क्रियेते संस्कृतात्मनाम् ।

प्रतिग्रहस्तु क्रियते शूद्रादप्यन्त्यजन्मनः ॥ ११० ॥

दान से, यज्ञ से और अध्यापन से जो प्रतिग्रह लिया जाता है वह ब्राह्मण के लिए अत्यन्त निकृष्ट है क्योंकि वह परलोक में नरक का कारण है। सभी द्विजों के जिनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ है सभी समय में याजन और अध्यापन होता है। शूद्र और अन्त्यज से प्रतिग्रह लिया जाता है (अर्थात् पढ़ने और यज्ञ करने से दान लेना निषिद्ध है।) १०९-११०।

जतहोमैरपैत्येनो याजनाध्यापनैः कृतम् ।

प्रतिग्रहनिमित्तं तु त्यागेन तपसैव च ॥ १११ ॥

शिलोऽञ्जमप्याददीत विप्रोऽजीवन्त्यतस्ततः ।

प्रतिग्रहाच्छिलः श्रेयांस्ततोऽप्युज्जः प्रशस्यते ॥ ११२ ॥

याजन और अध्यापन से किया हुआ पाप जप और होम से नष्ट होता है। और प्रतिग्रह से जो पाप होता है यह प्रतिग्रह ली हुई वस्तु के त्याग और तपस्या से दूर होता है। इधर-उधर जीविका के लिए प्रतिग्रह न लेकर ब्राह्मण शिलोच्छ वृत्ति का आश्रय ले। प्रतिग्रह से शिल वृत्ति अच्छी है और शिल! से उच्छवृत्ति अच्छी होती है। १११-११२।

सीददिभः कुप्यमिच्छदभिर्धने वा पृथिवीपतिः ।

याच्यः स्यात्स्नातकैर्विप्रैरदित्सन्त्यागमर्हति ॥ ११३ ॥

१. कटे हुए खेत की बाल बीन कर लाने को शिल वृत्ति कहते हैं।

२. खेत में गिरे हुए अन्न के दाने चुनने को उच्छ वृत्ति कहते हैं।

अकृतं च कृतात्क्षेत्रादगौरजाविकमेव च।

हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत्॥ ११४॥

स्नातक ब्राह्मण द्रव्याभाव के कारण दुःखी होकर यदि धन की इच्छा करे तो राजा से याचना करे, यदि राजा धन न दे तो इसका त्याग कर दे। जोते बोये हुए खेत से बिना जोता बोया खेत प्रतिग्रह के लिए अच्छा होता है। इसी प्रकार गौ, बकरी, भेड़, सोना, धान और अन्न इनमें पूर्व (अर्थात् एक दूसरे से पहला) दोष हीन है। ११३-११४।

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः।

प्रयोगः कर्मयोश्च सत्प्रतिग्रह एव च॥ ११५॥

विद्या शिल्पं भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः।

धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः॥ ११६॥

दाय (पूर्वजों की सम्पत्ति), लाभ (गड़े हुए धन की प्राप्ति), क्रय (मोल लेना), जय (जीत कर लेने से), प्रयोग (ब्याज पर द्रव्य देने से), कर्मयोग (खेती और वाणिज्य) और सत्प्रतिग्रह (शास्त्रोक्त दान से प्राप्त) ये सात रस्ते धर्म मार्ग से धन के हैं। विद्या (जीविकोपयोगी विद्या), शिल्प (कारीगरी), वेतन लेकर काम करना, सेवा, गौरक्षा, रोजगार, खेती, सन्तोष, भिक्षा और ब्याज का व्यापार ये दश जीवनोपयोगी व्यापार हैं। ११५-११६।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वृद्धिं नैव प्रयोजयेत्।

कामं तु खलु धर्मार्थं दद्यात्पापीयसेऽल्पिकाम्॥ ११७॥

चतुर्थमाददानोऽपि क्षत्रियो भागमापदि।

प्रजा रक्षन्परं शक्त्या कित्त्विषात्प्रतिमुच्यते॥ ११८॥

ब्राह्मण या क्षत्रिय ब्याज न लें किन्तु धर्म कार्य के लिए यदि पापी भी रुपया चाहे तो उसे थोड़े ब्याज पर ऋण दे देना चाहिए। आपत्ति काल में उपज का चौथा भाग भी लेकर राजा यथाशक्ति प्रजा की रक्षा करे तो वह अधिक कर लगाने के पाप से मुक्त हो जाता है। ११७-११८।

स्वधर्मो विजयस्तस्य नाहवे स्यात्पराङ्मुखः।

शस्त्रेण वैश्यान्नक्षित्वा धर्म्यमाहारयेत्बलिम्॥ ११९॥

धान्येऽष्टमं विशां शुल्कं विंशं कार्पायणावरम्।

कर्मोपकरणाः शूद्रा कारवाः शिल्पिनस्तथा॥ १२०॥

रजा का युद्ध में विजय पाना ही धर्म है इसलिए वह युद्ध से पराङ्मुख न हो। शस्त्र से वैश्यों की रक्षा करके धर्मानुकूल प्रजा से बलि (कर) लेवे। (आपत्तिकाल में) वैश्यों से धान्य (अन्न) का आठवाँ भाग और कार्षापण पर्यन्त द्रव्य का बीसवाँ भाग कर लेना श्रेष्ठ है। शूद्र, कारीगर शिल्पी (जो कि अनेक प्रकार की चित्रकारी वगैरह करते हैं) आदि से काम लेना चाहिए। ११९-१२०।

शूद्रस्तु वृत्तिमाकाङ्क्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि।

धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत् ॥ १२१ ॥

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।

जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥ १२२ ॥

ब्राह्मण की सेवा करते हुए यदि शूद्र का जीवन निर्वाह न हो तो क्षत्रिय की सेवा करे। यदि उससे भी पेट न भरे तो धनिक वैश्य की सेवा कर जीवन निर्वाह करे। वह (शूद्र) स्वर्ग के लिए या स्वार्थ और परमार्थ के लिए ब्राह्मणों की सेवा करे। इस शूद्र की (वह ब्राह्मण की सेवा करता है) ऐसी प्रसिद्धि होना ही उसके लिए कृतकृत्यता है। १२१-१२२।

विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।

यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥ १२३ ॥

प्रकल्प्या तस्य नैवृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः।

शक्ति चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥ १२४ ॥

ब्राह्मण की सेवा करना शूद्र का विशिष्ट कर्म कहा गया है। इस कार्य से भिन्न वह जो कुछ कर्म करता है वह उसके लिए निष्फल होता है। उस शूद्र की (जो सेवा कर रहा है) शक्ति, कार्यकुशलता और भृत्यों का परिग्रह (उसके कुटुम्ब के भरण पोषण का खर्च) देखकर ब्राह्मण अपने कुटुम्ब से यथार्थ प्रबन्ध करे। १२३-१२४।

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।

पुलाकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥ १२५ ॥

न शूद्रे पातकं किञ्चिन् संस्कारमर्हति।

नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥ १२६ ॥

उस शूद्र को जूठा अन्न, पुगना वस्त्र, सारहीन अन्न, पुगना ओढ़ना और बिछौना देना चाहिए। शूद्र कोई पातक नहीं होता (दूषित पदार्थ खाने से), उसका कोई संस्कार भी नहीं है, धर्म कार्य में उसका कोई अधिकार भी नहीं है और न ही धर्म कार्य से निषेध ही है। १२५-१२६।

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।

मन्त्रवर्यं न दुष्यन्ति प्रशंसा प्राप्नुवन्ति च॥ १२७॥

यथायथा हि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः।

तथातथेमं चामुं स लोकं प्राप्नोत्यभिन्दितः॥ १२८॥

जो धर्म में इच्छा रखने वाले हैं, धर्मज्ञ हैं, सज्जनों की वृत्ति से रहते हैं, मन्त्रहीन धर्माचरण (पंच महायज्ञादिकों के) करने से वे दोषी नहीं होते किन्तु प्रशंसा को ही पाते हैं। जैसे-२ वह अनिन्दक (दूसरे की निन्दा न करने वाला) होकर सज्जन वृत्ति को करता है, वैसे-वैसे वह इस लोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्ग को पाता है। १२७-१२८।

शक्तेनोपि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।

शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते॥ १२९॥

एते चतुर्णां वर्णानामापद्धर्माः प्रकीर्तिताः।

यान्सम्यगनुतिष्ठन्तो ब्रजन्ति परमां गतिम्॥ १३०॥

धन संचय करने में समर्थ होता हुआ भी शूद्र धन का संग्रह न करे। क्योंकि धन को पाकर शूद्र ब्राह्मण को ही बाँधता (सताता) है। यह चारों वर्णों के आपत्काल के कर्म को कहा। जिसका सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान करके सभी वर्ण वाले परम गति को पाते हैं। १२९-१३०।

एष धर्मविधिः कृत्स्नश्चातुर्वर्ण्यस्य कीर्तितः।

अतः परं प्रवक्ष्यामि प्रायश्चित्तविधिं शुभम्॥ १३१॥

यह चारों वर्णों का सम्पूर्ण धर्म विधि को कहा। अब इसके बाद प्रायश्चित्त की विधि कहूँगा।



ग्यारहवाँ अध्याय

सांतानिकं यक्ष्यमाणमध्यवगं सर्ववेदसम् ।
गुर्वर्थं पितृमात्रर्थं स्वाध्यायार्थं पतापिनः ॥ १ ॥
नवैतान्स्नातकान्विद्याद्ब्राह्मणान्धमभिक्षुकान् ।
निःस्वेभ्यो देयमेतेभ्यो दानं विद्याविशेषतः ॥ २ ॥

सन्तान की इच्छा वाला, यज्ञ करने की इच्छा वाला, पथिक (रहगौर) सर्वस्व दान देकर यज्ञ करने वाला, गुरु (विद्यागुरु) और माता-पिता के भरण पोषण के लिए धन चाहने वाला, वेद पढ़ने वाला और रोगी मनुष्य धर्म भिक्षुक ब्राह्मण स्नातक हैं अर्थात् इनको स्नातक जाने। इन निर्धनों को विद्या और इनकी योग्यता के अनुसार धन देना चाहिए। १-२।

एतेभ्यो हि द्विजाग्येभ्यो देयमन्नं सदक्षिणम् ।
इतरेभ्यो बहिर्वेदि कृतान्नं देयमुच्यते ॥ ३ ॥
सर्वरत्नानि राजा तु यथार्हं प्रतिपादयेत् ।
ब्राह्मणान्वेदविदुषो यज्ञार्थं चैव दक्षिणम् ॥ ४ ॥

इन द्विजों में श्रेष्ठ ब्राह्मणों को दक्षिणा के सहित अन्न देना चाहिए। इनसे भिन्न ब्राह्मणों को वेदी के बाहर सिद्ध अन्न को देना चाहिए। राजा यज्ञ के लिए वेद के जानने वाले ब्राह्मणों को यथायोग्य सभी रत्न और दक्षिणा देवे। ३-४।

कृतदारोऽपराधरान्भिक्षित्वा योऽधिगच्छति ।
 रतिमात्रं फलं तस्य द्रव्यदातुस्तु संतति ॥ ५ ॥
 धनानि तु यथाशक्ति विप्रेषु प्रतिपादयेत् ।
 वेदवित्सु विविक्तेषु प्रेत्य स्वर्गं समश्नुते ॥ ६ ॥

जो विवाह करके फिर भिक्षा माँगकर दूसरा विवाह करता है उसे रति मात्र फल होता है। उसकी जो सन्तति, वह द्रव्य देने वाले की होती है। दो पुत्र कलत्रादि से अशक्त वेदज्ञ ब्राह्मणों को धन देता है, वह मरने के बाद स्वर्ग को जाता है। ५-६।

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये ।
 अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति ॥ ७ ॥
 अतः स्वल्पीयसि द्रव्ये यः सोमं पिबति द्विजः ।
 स पीतसोमपूर्वोऽपि न तस्याप्नोति तत्फलम् ॥ ८ ॥

जिसके पास अपने भृत्यों के लिए तीन वर्ष या अधिक दिनों के भरण पोषण के लिए धन हो वह सोम यज्ञ कर सकता है। इसके अल्प द्रव्य में जो दिव्य सोमयज्ञ को करता है, वह पहले किए हुए सोम के फल को नहीं पाता है। ७-८।

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीवनि ।
 मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥ ९ ॥
 भृत्यानामुपरोधेन यत्करोत्यौर्ध्वदेहिकम् ।
 तद्भवत्यसुखोदकं जीवतश्च मृतस्य च ॥ १० ॥
 (वृद्धौ च मातापितरो साधवी भार्या शिशुः सुतः ।
 अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत ॥)

जो दाता (दान देने वाला) अपने आत्मीयों को दुःखी देखता हुआ दूसरों को दान देने में समर्थ होता है उसका दान धर्म का वह वास्तविक रूप नहीं होता है। मधु के सदृश दीखने पर भी परिणाम में विष के सदृश होता है। जो भरण-पोषण पाने योग्य स्वजन/लोगों को/कष्ट देकर अपने परलोकार्थ दानादि करता है, उसका यह कर्म इहलोक और परलोक दोनों में कहीं भी सुख का हेतु नहीं होता है। ९-१०।

यज्ञश्चेत्प्रतिरुद्धः स्यादेकेनांगेन यज्वनः।

ब्राह्मणस्य विशेषेण धार्मिके सति राजनि॥ ११॥

यो वैश्यः स्यादबहुपशुर्हीनक्रतुरसोमपः।

कुटुम्बात्तस्य तद्द्रव्यमाहरेद्यज्ञ सिद्धये॥ १२॥

धार्मिक राजा के रहते यज्ञ करने वालों का विशेष कर ब्राह्मणों का यज्ञ यदि एक अंग से सम्पूर्ण रह जाय तो जिस वैश्य के यहाँ बहुत पशु हों और जो यश से हीन हो और सोग न किया हो तो उस वैश्य के कुटुम्ब से उसका धन यज्ञसिद्धि के लिए ले लेवे। ११-१२।

आहरेत्त्रीणि वा द्वे वा कामं शूद्रस्य वेश्मनः।

न हि शूद्रस्य यज्ञेषु कश्चिदस्ति परिग्रहः॥ १३॥

योऽनाहिताग्निः सतगुरयज्वा च सहस्रगुः।

त्योरपि कुटुम्बाभ्यामाहरेदविचारयन्॥ १४॥

यदि यज्ञ के दो या तीन अंग शेष रह जाएँ तो उसकी पूर्ति के लिए शूद्र के घर से बलपूर्वक धन ले आवे, क्योंकि शूद्र का यज्ञ से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं है। जो एक सौ गाय रखकर अग्निहोत्र न करता हो और जो एक हजार गौ रखकर यज्ञ करता हो, उसके घर से भी बिना विचार के ही धन यज्ञ पूर्ति के लिए ले लेवे। १३-१४।

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः।

तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्धते॥ १५॥

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता।

अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः॥ १६॥

यज्ञ के लिए धन माँगने पर भी जो न देवे उसका धन हरण कर लेना चाहिए। इसके हरण करने वाले का यश धर्म दोनों की वृद्धि होती है। जो छः शाम उपवास कर चुका हो उसे सातवें उपवास को (यानि चौथे दिन भोजन करने के लिए भोज्य पदार्थ) यदि हीन कर्म करने वाले मनुष्य के घर से चुग लावे तो उसे इसका दोष नहीं होता है। १५-१६।

खलात्क्षेत्रादगाराद्वा यता बाप्युपलभ्यते।

आख्यातव्यं तु तत्तस्मै पृच्छते यदि पृच्छति॥ १७॥

ब्राह्मणस्वं न हर्तव्यं क्षत्रियेण कदाचन।

दस्युनिष्क्रिययोस्तु स्वमजीवन्हर्तुमर्हति ॥ १८ ॥

खलिहान (जहाँ अन्न बैलों से दाँकर निकाला जाता है) से, खेत से घर से या अन्य किसी स्थान से अन्न चुराकर ले आवे तो यदि उस अन्न का स्वामी पूछे तो उसे अन्न चुराने का कारण ठीक-ठीक बतला देना चाहिए। क्षत्रिय कभी भी ब्राह्मण के धन का हरण न करे। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय अपने धर्मादि क्रियाओं से च्युत हो गए हों और निषिद्ध कर्म करते हों तो उनके धन को ले सकते हैं। १७-१८।

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति।

स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ ॥ १९ ॥

यद्धनं यज्ञशीलानां देवस्यं तद्विदुर्बुधाः।

अयज्वनां तु यद्वित्तमासुरस्वं तदुच्यते ॥ २० ॥

जो मनुष्य दुष्टों से धन लेकर सज्जनों को देता है वह अपने को नौका बनाकर उन दोनों को तार (दुःख से पार कर) देता है। यज्ञ करने वालों का जो धन है उसको पण्डित लोग देव धन और यज्ञ नहीं करने वालों के धन को आसुर (राक्षस) धन कहते हैं। १९-२०।

न तस्मिन्धारयेद्दण्डं धार्मिकः पृथिवीपतिः।

क्षत्रियस्य हि बालिश्याद्ब्राह्मणः सीदति क्षुधा ॥ २१ ॥

तस्य भृत्यजनं ज्ञात्वा स्वकुटुम्बान्महीपतिः।

श्रुतशीले च विज्ञाय वृत्तिं धर्म्यां प्रकल्पयेत् ॥ २२ ॥

इसलिए इसमें (अर्थात् इस धन के चोरी आदि जाने से चोरों को) धार्मिक राजा दण्ड न दे क्योंकि राजा की ही मूर्खता से ब्राह्मण भूख से कष्ट पाते हैं। उस ब्राह्मण के परिवार, उसकी विद्या और शील स्वभाव को जान कर राजा अपने कुटुम्ब से उसकी धार्मिक वृत्ति कर दें। २१-२२।

कल्पयित्वास्य वृत्तिं च रक्षेदेनं समन्ततः।

राजा हि धर्मषड्भागं तस्मात्प्राप्नोति रक्षितात् ॥ २३ ॥

न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत कर्हिचित्।

यजमानो हि भिक्षित्वा चाण्डालः प्रेत्य जायते ॥ २४ ॥

इसकी वृत्ति निश्चित करके सब प्रकार से इस ब्राह्मण की रक्षा करे। क्योंकि इनकी रक्षा करने से उसके कर्म का छठा भाग राजा को मिलता है। यज्ञ करने के लिए ब्राह्मण कभी भी शूद्र से भिक्षा न माँगे। क्योंकि शूद्र से भिक्षा माँगने वाला यज्ञ कर्ता ब्राह्मण मरने पर चाण्डाल होता है। २३-२४।

यज्ञार्थमर्थं भिक्षित्वा यो न सर्वं प्रयच्छति।

स याति भासतां विप्रः काकतां वा शतं समाः ॥ २५ ॥

देवस्त्वं ब्राह्मस्त्वं वा लोभेनोपहिनस्ति यः।

स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति ॥ २६ ॥

यज्ञ के लिए दान माँगकर जो ब्राह्मण सभी द्रव्य यज्ञ में नहीं लगा देता है, वह ब्राह्मण सौ वर्ष तक माँसभक्षी या कौवा होता है। जो लोभ से देवता के निमित्त अर्पण किए हुए धन या ब्राह्मण के धन को अपहरण करता है वह पापात्मा मरने के बाद परलोक में गिद्ध के जूठे से जीता है। २५-२६।

इष्टिं वैश्वानरीं नित्यं निर्वपेदब्दपर्यये।

क्लृप्तानां पशुसोमानां निष्कृत्यर्थमसंभवे ॥ २७ ॥

आपत्कल्पेन यो धर्मं कुरुतेऽनापदि द्विजः।

स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम् ॥ २८ ॥

एक वर्ष बीत जाने पर यदि दूसरे वर्ष के अन्दर पशु सोमयज्ञ न कर सके तो उस दोष के शान्त्यर्थ शूद्रादिकों से धन लेकर वैश्वानर यज्ञ अवश्य करे। जो द्विज निरपद स्थिति में आपत्कालीन धर्म का अनुष्ठान करता है, वह परलोक में उसका फल नहीं पाता है यह ऋषियों ने विचार कर कहा है। २७-२८।

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः।

आपत्सु मरणादभीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः ॥ २९ ॥

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते।

त सांपरार्थिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम् ॥ ३० ॥

विश्वेदेव साध्यगण और मृत्यु से डरे हुए ब्राह्मणों और महर्षियों ने आपत्काल में इस वैश्वानर यज्ञ को सोमयज्ञ का प्रतिनिधि कहा है। जो प्रथम कल्प (दान कर्मादि) के करने में समर्थ होता हुआ भी आपत्कालीन विधि से कर्मादि करता है उस दुर्बुद्धि को उस कर्म का पाप नाश करने वाला

पारलौकिक फल नहीं मिलता है। २९-३०।

न ब्राह्मणोऽवेदयेत् किञ्चिद्वाजानि धर्मवित्।

स्वावीर्येणैव ताञ्छिष्यान्मानवानपकारिणः ॥ ३१ ॥

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्।

तस्मात्स्वेनैव वीर्येण निगृहीयादरीन्द्रिजः ॥ ३२ ॥

धर्मात्मा ब्राह्मण राजा से किसी के विषय में कुछ न कहे उन अपकारियों को अपने सामर्थ्य से ही दण्ड दे। अपनी ताकत और राजा की ताकत दोनों में अपनी ही सामर्थ्य बली होती है इसलिए ब्राह्मण अपनी ही शक्ति से शत्रुता का नाश करे। ३१-३२।

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन्।

वाकशस्त्रं व ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन्द्रिजः ॥ ३३ ॥

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः।

तद्धि कुर्वन् यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्।

धनेन वैश्यशूद्रौ तु जपहोमैर्दिजोत्तमः ॥ ३४ ॥

अथर्ववेद में अंगिर से कही हुई (दुष्ट के नाशार्थ) श्रुति को बिना विचारे करे। ब्राह्मण की वाणी ही शस्त्र है, उसी से शत्रुता का नाश करे। अपनी विपत्ति को क्षत्रिय अपने बाहुबल द्वारा पार करे। वैश्य और शूद्र धन से और ब्राह्मण जप और होम से अपनी विपत्ति को हटावे। ३३-३४।

विधाता शासिता वक्ता मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।

तस्मै नाकुशलं ब्रूयान्न शुष्कां गिरमीरयेत् ॥ ३५ ॥

न वै कन्या न युवतिर्नाल्पविद्यो न बालिशः।

होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्तो नासंस्कृतस्था ॥ ३६ ॥

विधाता (शास्त्रोक्त कर्मों को करने वाला), शासिता (शिष्यादिका शासन करने वाला), वक्ता (प्रायश्चित्तादि का आदेश देने वाला), मैत्र (सबसे मित्रता करने वाला) ब्राह्मण कहा जाता है। उस ब्राह्मण को किसी को भी अनिष्ट वचन या खूबा वचन नहीं कहना चाहिए। कन्या, युवा, स्त्री, थोड़े पढ़े-लिखे, मूर्ख, पीड़ित और जिनका यज्ञोपवीतादि नहीं हुआ है वे अग्निहोत्र के (होता) हवनीय कार्य को न करें। ३५-३६।

नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत्।

तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः ॥ ३७ ॥

प्राजापत्यमदत्त्वाश्वमग्नयाधेयस्य दक्षिणाम्।

अनाहिताग्निर्भवति ब्राह्मणो विभवे सति ॥ ३८ ॥

यदि ये लोग हवन करें तो नरक में जाते हैं और जिसके द्वारा करते हैं वह भी नरक में जाता है। इसलिए जो वैदिक कृत्यों में कुशल और वेद का पारंगत हो उसी का होता होना चाहिए। धनिक होता हुआ भी ब्राह्मण अग्निहोत्र को, दक्षिणा में प्रजापति को अश्व न देकर यदि अग्न्याधान करे तो अग्न्याधान न होने के बराबर है। ३७-३८।

पुण्यान्यन्यानि कुर्वीत श्रद्धानो जितेन्द्रियः।

न त्वल्पदक्षिणैर्यजेतेह कथंचन ॥ ३९ ॥

इन्द्रियाणि यशः स्वर्गमायुः कीर्तिं प्रजाः पशून्।

हन्त्यल्पदक्षिणो यज्ञस्तस्मान्नाल्पधनो यजेत् ॥ ४० ॥

श्रद्धा से जितेन्द्रिय होकर अन्य पुण्य कार्यों को करे किन्तु कभी भी अल्प दक्षिणा देकर यज्ञ न करना चाहिए। यज्ञ में थोड़ी दक्षिणा देने से इन्द्रिय, यश, स्वर्ग, आयु, कीर्ति, प्रजा और पशुओं का नाश होता है इसलिए अल्प दक्षिणा देकर यज्ञ न करे। ३९-४०।

(अन्नहीनो दहेद्राष्ट्रं मन्त्रहीनस्तु ऋत्विजः।

दीक्षितं दक्षिणाहीनो नास्ति यज्ञसमो रिपुः)।

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः।

चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ ४१ ॥

ये शूद्रादधिगम्यार्थमग्निहोत्रमुपासते ।

ऋत्विजस्ते हि शूद्राणां ब्रह्मवादिषु गर्हिताः ॥ ४२ ॥

अन्न हीन (अर्थात् जिस यज्ञ में अन्न न दिया जाए) यज्ञ राष्ट्र का मन्त्रहीन यज्ञ ऋत्विज (ब्राह्मणों का) और दक्षिणा से हीन यज्ञ यजमान का नाश करता है, यज्ञ के बराबर कोई शत्रु नहीं है। ब्राह्मण अपनी इच्छा से यदि प्रातः और सायंकालिक अग्निहोत्र के हवन को न करे तो एक मास तक चान्द्रायण व्रत करे, क्योंकि अग्निहोत्र का हवन न करना पुत्र हत्या के समान है। जो शूद्रों से

धन लेकर अग्निहोत्र करते हैं वे शूद्रों के ही ऋत्विज (ब्राह्मण) होते हैं और वैदिकों में वे निन्दित होते हैं। ४१-४२।

तेषां सततमज्ञानां वृषलाग्न्युपसेविनाम्।

पदा मस्तकमाक्रम्य दाता दुर्गाणि संतरेत् ॥ ४३ ॥

अकूर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।

प्रसक्तश्चैन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ ४४ ॥

निरन्तर उन मूर्ख (जो कि शूद्रों के धन से अग्निहोत्र करते हैं), ब्राह्मणों के शिर पर पैर रखकर वह शूद्रदाता संसार के सभी दुःखों को पार करता है। शास्त्र विहित कर्म को न करने वाला और निन्दित कार्यों को करने वाला तथा इन्द्रियों को विषयों में आसक्त करने वाला मनुष्य प्रायश्चित्तीय होता है। ४३-४४।

अकामतः कृते पापे प्रायश्चित्तं विदुर्बुधाः।

कामकारकृतेऽप्याहुरेके श्रुतिनिदर्शनात् ॥ ४५ ॥

अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुद्ध्यति।

कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥ ४६ ॥

अनिच्छा से किए हुए पाप का प्रायश्चित्त होता है। ऐसा पण्डितों ने कहा है। और इच्छा से किए हुए पाप का प्रायश्चित्त श्रुति के अनुसार होता है। ऐसा किसी का मत है। अनिच्छा से किया हुआ पाप वेदाभ्यास से छूट जाता है और इच्छा से जानकर जो पाप किया जाता है उसका प्रायश्चित्त अनेक प्रकार से अलग-अलग होता है। ४५-४६।

प्रायश्चित्तीयतां प्राप्य दैवात्पूर्वकृतेन वा।

न संसर्गं व्रजेत्सदिभः प्रायश्चित्तेऽकृते द्विजः ॥ ४७ ॥

(प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।

तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्।)

इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैःस्था।

प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम् ॥ ४८ ॥

प्रायश्चित्तीय होने की अवस्था में चाहे वह इस जन्म के पाप से अथवा पूर्व-मार्जित दुर्दैव से ही प्रायश्चित्त न करने वाला द्विज सज्जनों से संसर्ग न करे।

(प्रायः नाम तप का है और चित्त निश्चय को कहते हैं) तप और निश्चय से युक्त होकर प्रायश्चित्त होता है। कोई दुष्टत्वा इस जन्म के दुश्चरित्रों से किए हुए पापों से विकृत रूप को पाते हैं। ४७-४८।

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम्।

ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥ ४९ ॥

पिशुनः पीतिनासिक्यं सूचकः पूतिवक्त्रताम्।

धान्यचौरोऽङ्गहीनत्वमातिरेक्यं तु मिश्रकः ॥ ५० ॥

सोना चुराने वाले के नह (नाखून) खराब होते हैं। शराब (मदिरा) पीने वाले का दाँत काला हो जाता है। ब्रह्मघात करने वाले को क्षयरोग होता है। गुरुपत्नी से व्यभिचार करने वाले की जननेन्द्रिय के ऊपर का चमड़ा खराब हो जाता है। चुगली करने वाले की नाक की और झूठी निन्दा करने वाले के मुख से दुर्गन्ध आती है। धान्य चुराने वाला अंगहीन होता है। मिलावट करने वाले का कोई अंग अधिक हो जाता है। ४९-५०।

अन्नहर्ताऽमयावित्त्वं मौक्यं वागपहारकः।

वस्त्रापहारकः श्वैत्र्यं पंगुतामश्वहारकः ॥ ५१ ॥

(दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत्।

हिंसया व्याधिभूयस्त्वमरोगित्वमहिंसयाः।)

एवं कर्मविशेषेण जायन्ते सद्विगर्हिताः।

जडमूकान्धबधिरा विकृताकृतयस्तथा ॥ ५२ ॥

अन्न (भोजन का) हरण करने वाले को मन्दाग्नि होती है। विद्या चुराने वाला मूक (गूँगा) होता है। वस्त्र चुराने वाले को सपेद कोढ़ और घोड़ा चुराने वाला पंगुल होता है। दीपक चुराने वाला अन्ध और दीपक बुझाने वाला बहुरा, हिंसा करने वाला रोगी और हिंसा न करने वाला निरोगी होता है। इस प्रकार कर्म विशेष के कारण मनुष्य जड़, मूक, अन्ध, बहिर और विकृत रूप वाले तथा सज्जनों में निन्दित होते हैं। ५१-५२।

चरितव्यमतो नित्यं प्रायश्चित्तं विशुद्ध्ये।

निन्दैर्हि लवणैर्युक्ता जायन्तेऽनिष्कतैनसः ॥ ५३ ॥

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः ।

महान्ति पातकान्याहु संसर्गश्चापि तैः सह ॥ ५४ ॥

इसलिए शरीर शुद्ध्यर्थ हमेशा प्रायश्चित्त करना चाहिए । जो लोग प्रायश्चित्त के द्वारा पापों को नाश नहीं करते वे कुलक्षण उत्पन्न होते हैं, ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी करना, गुरुपत्नी गमन, ये महापातक हैं, इनके साथ संसर्ग भी महापातक हैं । ५३-५४ ।

आनृतं च समुत्कर्षे राजगामि च पैशुनम् ।

गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्याया ॥ ५५ ॥

ब्रह्मोद्भूता वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं युद्धद्वयः ।

गर्हितानाद्ययोज्ज्वलः सुरापानसमानि षट् ॥ ५६ ॥

अपनी उन्नति के लिए झूठ बोलना, राजा के पास चुगली करना और गुरु की निन्दा करने ये सभी कर्म ब्रह्महत्या के बराबर हैं । पढ़े हुए वेद को अभ्यास न करके भुला देना, वेद की निन्दा, झूठी गवाही देना, मित्र का वध करना, गर्हित और अखाद्य वस्तुओं का खाना ये छः कर्म मदिरापान के समान हैं । ५५-५६ ।

निक्षेपस्योपहरणं नराश्वरजतस्य च ।

भूमिवज्रमणीनां च रुक्मस्तेयसमं स्मृतम् ॥ ५७ ॥

रेतः सेकः स्वयोनीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ।

सख्युः पुत्रस्य च स्त्रीषु गुरुतल्पसमं विदुः ॥ ५८ ॥

किसी की धरोहर का अपहरण करना और मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा और मणि इसका अपहरण करना सोने की चोरी के बराबर है । सगी बहिन, कुमारी, चाण्डाल की स्त्री और पुत्र की स्त्री इनके साथ व्यभिचार करना ये गुरुपत्नी गमन के समान हैं । ५७-५८ ।

गोवधोऽयाज्यसंयाज्यपारदार्यात्मविक्रथा ।

गुरुमातृपितृत्यागः स्वाध्यायाग्न्योः सुतस्य च ॥ ५९ ॥

परिवित्तितानुजेऽनूढे परिवेदनमेव च ।

तयोदानं च कन्यायास्तयोरेव च याजनम् ॥ ६० ॥

कन्याया दूषणं चैव वार्धुषं व्रतलोपनम् ।

तडागारामदाराणामपत्यस्य च विक्रयः ॥ ६१ ॥

ब्रात्यता बान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च ।
 भृत्या चाध्ययनादानपण्यानां च विक्रयः ॥ ६२ ॥
 सर्वाकरेष्वधीकारो महायन्त्रप्रवर्तनम् ।
 हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूलकर्म च ॥ ६३ ॥
 इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ।
 आत्मार्यं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा ॥ ६४ ॥
 अनाहिताग्निता स्येयमृणानामनप्रक्रिया ।
 असच्छास्त्राधिगमनं कौशीलव्यस्य च क्रिया ॥ ६५ ॥
 धान्यकुप्यपशुस्तेयं मद्यपरस्त्रीनिषेवणम् ।
 स्त्रीशूद्रबिदक्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकम् ॥ ६६ ॥

गौ का वर्ध करना, जाति और कर्म से दूषित मनुष्यों का यज्ञ करना, परस्त्री गमन, अपने को बेचना, गुरु माता पिता की सेवा न करना, वेदाध्ययन न करना, स्मार्त अग्नि का परित्याग, सन्तान का भरण पोषण न करना, परिवित्ति, (विवाहित छोटे भाई का अविवाहित बड़ा भाई) और परिवित्ता विवाहित छोटा भाई इन दोनों को कन्या देना, इन दोनों का यज्ञ कराना, कन्या को दूषित करना, सूद पर रुपया लगाना, ब्रह्मचर्य व्रत का लोप, तालाब, बाग, स्त्री और सन्तान का बेचना, ब्रात्यता, बन्धु त्याग, वेतन लेकर शास्त्र पढ़ाना, नियत वृत्ति-प्रदानपूर्वक पढ़ाना, जो वस्तु बेचने योग्य न हो उसका बेचना, सब प्रकार की खानों में अधिकारी होना, बड़ी-बड़ी यन्त्रों कल बनाना, औषधियों की जड़ खोदना, स्त्री के व्यभिचार से जीविका चलाना, मन्त्र-यन्त्र के द्वारा मारण उच्चाटन आदि, ईंधन के लिए हरे पेड़ों को काटना, अपने लिए रसोई बनाना, निन्दित अन्न खाना, अग्नि होत्र न कराना, किसी की चीज चुराना, ऋण न चुकाना, वेदोक्त शास्त्रों को न पढ़ना, अभिनय करना, धान्य, तांबा और पशु चुराना, मद्य पीने वाली स्त्री का सेवन करना, स्त्री, शूद्र, वैश्य और क्षत्रिय का वध तथा नास्तिकता, ये सब उपपातक हैं। ५९-६६।

ब्राह्मणस्य रुजःकृत्वा ग्रातिर्ध्येयमद्ययोः ।

जैह्य यं च मैथुनं पुंसि जातिभंशकरं स्मृतम् ॥ ६७ ॥

खरश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।

संकरीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥ ६८ ॥

ब्राह्मण को लाठी या हाथ से पीड़ा पहुँचाना, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त (लहसुन, विष्ठा आदि) और मदिरा का सूँघना, दुष्टता और पुरुष के साथ मैथुन करना ये सभी जातिभ्रंशक पाप हैं। गदहा (गधा), घोड़ा, ऊँट, मृग, हाथी, बकरा, भेड़, मछली, साँप और भैंस इनका वध करना संकरीकरण पाप है। ६७-६८।

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम् ।

अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम् ॥ ६९ ॥

कृमिकीटवयोहत्या मद्यानुगतभोजनम् ।

फलैधः कुसुमस्तेयमधैर्यं च मलावहम् ॥ ७० ॥

निन्दितों से धन लेना, रोजगार करना, शूद्रों की सेवा करना और झूठ बोलना ये पात्रीकरण पाप हैं। कीड़ा, कीट (चिंउटी इत्यादि) और पक्षियों की हत्या करना, मदिरा के साथ लाई हुई वस्तुओं का भोजन करना, फल, लकड़ी, फूल की चोरी और अधैर्य (अधीस्ता) मलावह (मलिनीकरण) पाप हैं। ६९-७०।

एतान्येनांसि सर्वाणि यथोक्तानि पृथक्पृथक् ।

येर्यैब्रतैरपोह्यन्ते तानि सम्यङ्निबोधत ॥ ७१ ॥

ब्रह्महा द्वादश समाः कुटीं कृत्वा वने वसेत् ।

भैक्षाश्यात्मविशुद्ध्यर्थं कृत्वा शिवशिरोध्वजम् ॥ ७२ ॥

ये पूर्वोक्त पाप जो अलग-अलग कहे गये हैं। वे जिन-जिन व्रतों से नष्ट होते हैं—उन्हें अच्छी प्रकार सुनो। ब्रह्महत्या वाला बारह वर्ष तक जंगल में कुटी बनाकर बसे और उक्त पाप से छुटकारा पाने के लिए हाथ में मुर्दे का मुण्ड लेकर भिक्षा माँगे और उसी भिक्षा से जीवन निर्वाह करे। ७१-७२।

लक्ष्य शस्त्रभृतां वा स्थाद्विदुषामिच्छयात्मनः ।

प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ७३ ॥

यजेत वाश्वमेधेन स्वर्जिता गोसवेन वा।

अभिजिद्विश्वजिदभ्यां वा त्रिवृताग्निष्टुतापि वा ॥ ७४ ॥

अपनी इच्छा से शस्त्रधारी विद्वानों का अपने को लक्ष्य (निशाना) बनावे अथवा जलती हुई अग्नि में सिर नीचा करके उसमें अपने को तीन बार झोंके। अश्वमेध, स्वर्जित, गोसब, अभिजित्-विश्वजित् अथवा तीन बार अग्निष्टोम यज्ञ करे। ६३-६४।

जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत्।

ब्रह्महत्यापनोदाय मितभुङ्गनियतेन्द्रियः ॥ ७५ ॥

सर्वस्वं वेदविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत्।

धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ ७६ ॥

अल्पाहारी और जितेन्द्रिय होकर वेदों में से किसी वेद का जप करता हुआ ब्रह्महत्या जनित पाप को दूर करने के लिए एक सौ योजन तक जाय। अथवा वेद के विद्वान ब्राह्मण को अपना सर्वस्व दान कर दे अथवा इनके जीवनोपयोगी आवश्यक धन, गृह परिच्छद के साथ दे। ७५-७६।

हविष्यभुग्वाऽनुसरेत्प्रतिस्त्रोतः सरस्वतीम्।

जपेद्वा नियताहारस्त्रिवै वेदस्य संहिताम् ॥ ७७ ॥

कृतवापनो निवसेद्ग्रामान्तो गोव्रजेपि वा।

आश्रमे वृक्षमूले वा गोब्राह्मणहिते रतः ॥ ७८ ॥

अथवा हविष्य भोजन करता हुआ सरस्वती नदी का स्रोत जहाँ तक गया हो वहाँ तक जाय। अथवा नियत आहार करता हुआ तीन बार वेद संहिता का पारायण पाठ करे। अथवा शिर के बाल बनाकर गौ ब्राह्मण का उपकार करता हुआ ग्राम के बाहर गौशाला में कुटी बनाकर अथवा पेड़ के नीचे वास करे। ७७-७८।

ब्राह्मणार्थं गवार्थं वा सद्यः प्राणान्यरित्यजेत्।

मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता योब्राह्मणस्य च ॥ ७९ ॥

त्रिवारं प्रतिरोद्धा वा सर्वस्वमवजित्य वा।

विप्रस्य तन्निभित्ते वा प्राणालाभे विमुच्यते ॥ ८० ॥

अथवा ब्राह्मण की रक्षा में या गौ की रक्षा में शीघ्र ही प्राण का त्याग कर दे। क्योंकि गौ ब्राह्मण की रक्षा करने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है। अथवा ब्राह्मण के धन को तीन बार (डाकुओं और चोरों से) रोकने वाला या सर्वस्व को जीतकर ब्राह्मण को अर्पण करने वाला अथवा उसके निमित्त प्राण देने वाला ब्रह्महत्या से छूट जाता है। ७९-८०।

एवं दृढव्रतो नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः।

समाप्ते द्वादशे वर्षे ब्रह्महत्यां व्यपोहति ॥ ८१ ॥

शिष्टवा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे।

स्वमेनोऽवभृथस्नातो हयमेधे विमुच्यते ॥ ८२ ॥

इस प्रकार दृढव्रत, एकाग्रचित्त और ब्रह्मचारी होकर सर्वदा नियमपूर्वक बारह वर्ष तक रहने वाला ब्रह्महत्या पाप से छूट जाता है। अश्वमेध यज्ञ में ब्राह्मण ऋषित्व और यज्ञकर्ता राजा के सामने अपनी ब्रह्महत्या के व्यवहार को कहके अवभृथ स्नान करने से ब्रह्महत्या से छूट जाता है। ८१-८२।

धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमाग्रं राजन्य उच्यते।

तस्मात्समागमे तेषामेनो विख्याप्य शुद्ध्यति ॥ ८३ ॥

ब्राह्मणः संभवेनैव देवानामपि दैवतम्।

प्रमाणं चैव लोकस्य ब्रह्मत्रैव हि कारणम् ॥ ८४ ॥

धर्म का मूल ब्राह्मण है और क्षत्रिय उसका अग्रभाग है। इसलिये उन लोगों के समागम से यज्ञ में उनके सामने अपने पापों को प्रकट करने से वह शुद्ध हो जाता है। जन्म से ही ब्राह्मण देवताओं का भी देवता होता है। और लोक में उसको प्रमाण माना जाता है इसमें वेद ही कारण है। ८३-८४।

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनः सुनिष्कृतिम्।

सा तेषां पावनाय स्यात्पवित्रा विदुषां हि वाक् ॥ ८५ ॥

अतोऽन्यतममास्थाय विधिं विप्रः समाहितः।

ब्रह्महत्याकृतं पापं व्यपोहत्यात्मवत्तया ॥ ८६ ॥

ऐसे ब्राह्मण में से वेद का जानने वाले तीन भी ब्राह्मण छुटकारा पाने के लिए जो उपाय बतावें उससे भी पापियों की शुद्धि हो जाती है क्योंकि पंडितों की वाणी ही पवित्र होती है। इसलिए इसमें से किसी उपाय का

संयतात्मा होकर ब्राह्मण अनुष्ठान करे। आत्मसंयम से ब्राह्मण पाप का नाश कर सकता है। ८५-८६।

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्।

राजन्यवैश्यौ चेजानावात्रेयीमेव च स्त्रियम्॥ ८७॥

उक्त्वा चैवानृतं साक्ष्ये प्रतिरुद्धय गुरुं तथा।

अपहृत्य च निःक्षेपं कृत्वा च स्त्रीसुहृद्धम्॥ ८८॥

अज्ञात गर्भ, यज्ञ करते हुए क्षत्रिय और वैश्य को तथा रजोधर्मयुक्त स्त्री को मारकर ब्रह्महत्या से छुटकारा पाने वाले उपायों (पूर्वोक्त) को ही करें। झूठी गवाही देने पर, गुरु पर झूठा आरोप लगाने पर, किसी की धरोहर का अपहरण करने पर तथा स्त्री और मित्र का वध करने पर भी ब्रह्महत्या में कहे हुए प्रायश्चित्तों को करे। ८७-८८।

इयं विशुद्धिरुदिता प्रमाण्याकामतो द्विजम्।

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते॥ ८९॥

सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्।

तथा स काये निर्दग्धे मुच्यते किल्बिषात्ततः॥ ९०॥

अनिच्छा से किए हुए ब्राह्मण के वध की यह विशुद्धि कही गई है और इच्छा से (जानबूझकर) ब्राह्मण के वध का प्रायश्चित्त नहीं है। ब्राह्मण यदि मोह से मदिरापान कर ले तो इस पाप के नाश के लिए अग्निवर्ण के समान (अर्थात् वैसी ही जलती हुई) मदिरा पीवे। क्योंकि उसमें जब उसका शरीर जलता है, तब वह उस पाप से छूट जाता है। ८९-९०।

गोमूत्रमग्निवर्णं वा पिबेदुदकमेव वा।

पयो घृतं वाऽमरणाद्गोशकृद्रसमेव वा॥ ९१॥

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि।

सुरापानापनुत्तयर्थं वालवासा जटी ध्वजी॥ ९२॥

अथवा गोमूत्र, जल, गाय का दूध, गौ घृत और गाय के गोबर का रस इसमें से किसी एक चीज को आग के समान तप्त करके मरण पर्यन्त पीता रहे (अर्थात् जब तक मर न जाए बराबर पीता रहे।) अथवा एक वर्ष तक मदिरा पान के दोष से शान्त्यर्थ रात में एक ही बार किसी अन्न का कण

अथवा तिल की खली खाय और उनी वस्त्र पहले, जट रखे तथा मदिरापान का ध्वजा (चिन्ह) धारण करे। ९१-९२।

सुरां वै मलमन्त्रानां पाप्मा च मलमुच्यते।

तस्माद्ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥ ९३॥

गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।

यथैवैका तथा सर्वा न पातव्या द्विजोत्तमैः॥ ९४॥

'सुरा' (मदिरा) अन्न के मल को कहते हैं। मल को पाप कहते हैं। इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सुरा को न पीवें। गौड़ी, पैष्टी और माध्वी ये तीन प्रकार की मदिरा होती हैं। इसमें जैसी एक है वैसी ही तीनों हैं इसलिये ब्राह्मण उसका पान न करे। ९३-९४।

यक्षरक्षः पिशाचात्रं मद्यं मांसं सुरासवम्।

तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः॥ ९५॥

अमेध्ये वा पतेन्मत्तो वैदिकं वाप्युदाहरेत्।

अकार्यमन्यत्कुर्याद्धा ब्राह्मणो मदमोहितः॥ ९६॥

मद्य, मांस, मदिरा और आसव ये यक्ष, रक्षस और पिशाचों के खाद्यान्न हैं, इसलिए देवताओं के हविष्य खाने वाले ब्राह्मण इन पदार्थों को ना खाये। मदिरापान से उत्तम ब्राह्मण अपवित्र जगह में गिर पड़े या निषिद्ध जगहों में वेद पाठ करे, या और ही कोई न करने योग्य कार्य को करे इसलिए उसको मदिरापान नहीं करना चाहिए। ९५-९६।

यस्य कायगतं ब्रह्म मद्यनाप्लाव्यते सकृत्।

तस्य व्यपैति ब्राह्मण्यं शूद्रत्वं च स गच्छति॥ ९७॥

एषा विचित्राभिहिता सुरापानस्य निष्कृतिः।

अतः ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि सुवर्णस्तेयनिष्कृतिम्॥ ९८॥

जिस ब्राह्मण के शरीर स्थित ब्रह्म (आत्मा) एक बार भी मदिरा से प्लावित हो जाती है, उसका ब्राह्मणत्व नष्ट हो जाता है और वह शूद्रत्व हो जाता है। यह मदिरापान का विचित्र प्रायश्चित्त कहा, अब इसके बाद सोना चुराने का प्रायश्चित्त कहूँगा। ९७-९८।

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु।
 स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां वाननुशास्विति ॥ ९९ ॥
 गृहीत्वा मूसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।
 वधेन शुद्ध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव तु ॥ १०० ॥

सुवर्ण को चुराने वाला ब्राह्मण राजा के सन्मुख उपस्थित होकर किए हुए कर्म का व्याख्यान करता हुआ कहे कि आप मुझे कर्म का दण्ड दें। राजा स्वयं मूसल लेकर ब्राह्मण पर एक बार प्रहार करें। चोर वध से शुद्ध होता है किन्तु ब्राह्मण तपस्या से शुद्ध होता है। ९९-१००।

तपसापनुनुत्सुस्तु सुवर्णस्तेयजं मलम्।
 चीरवासा द्विजोऽरण्ये चरेद्ब्राह्महणो व्रतम् ॥ १०१ ॥
 एकैर्ब्रतैरपोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः।
 गुरुस्त्रीगमनीयं तू व्रतैरेभिरपानुदेत् ॥ १०२ ॥

सुवर्ण चुराने से उत्पन्न पाप को तपस्या द्वारा नाश करने की इच्छा वाला ब्राह्मण पुराने वस्त्र को पहनकर वन में ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त को करे। इन पूर्वोक्त व्रतों (ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त) द्वारा ब्राह्मण चोरी के पापों का नाश करे। गुरुपत्नी गमन के पाप को आगे कही हुई विधियों से नष्ट करे। १०१-१०२।

गुरुतल्प्यभिभाष्यैनस्तप्ते स्वप्यादयोमये।
 सूर्मी ज्वलन्तीं स्वाशिलष्येन्मृत्युना स विशुद्ध्यति ॥ १०३ ॥
 स्वयं वा शिशनवृषणावुक्त्याधाय चाज्जलौ।
 नैऋतीं दिशमानिष्टेदानिपातादजिह्वागः ॥ १०४ ॥

गुरु पत्नी से गमन करने वाला अपने पाप की प्रसिद्धि करके लोहे की जलती हुई शय्या पर सोवे अथवा लोहे की स्त्री बनाकर उसे आग में तपाकर उसका आलिंगन करे और मर जाय यही उसकी शुद्धि है। अथवा स्वयं ही अपने लिंग और अण्डकोषों को काटकर अपने अंजलि में लेकर जब तक शरीर पात न हो जाय तब तक सीधे नैऋत्य (दक्षिण पश्चिम के) कोण में दौड़ता हुआ जाय। १०३-१०४।

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विंजने वने।

प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ १०५ ॥

चन्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येत्रियतेन्द्रियः।

हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ १०६ ॥

अथवा खट्वांग धारणकर, पुराना कपड़ा पहनकर, दाढ़ी-बाल बढ़ाकर, निर्जन वन में एक वर्ष तक निरालस्य होकर कृच्छ्रप्राजापत्य व्रत को करे। अथवा जितेन्द्रिय होकर तीन मास पर्यन्त हविष्य का यवागू भोजन करे गुरुपत्नी गमन जन्य पाप के नाशार्थ चान्द्रायण व्रत करे। १०५-१०६।

एतैर्व्रतैरपोहेयुर्महापातकिनो मलम्।

उपपातकिनस्त्वैवमेभिर्नानाविधैर्व्रतैः ॥ १०७ ॥

उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो मासं श्रवान्पिवेतः।

कतवापो वसेद्गोष्ठे चर्मणा तेन संवृतः ॥ १०८ ॥

इन पूर्वोक्त व्रतों द्वारा महापातकी अपने पापों का नाश करे और उपपातकी आगे कहे हुए अनेक प्रकार के व्रतों से अपने पाप का नाश करे। गौवध करने वाला उपपातकी एक मास पर्यन्त यवागू को पीवे और शिखा सहित मुंडन कराकर उसी मरी हुई गौ के चमड़े को ओढ़कर गौशाला में वास करे। १०७-१०८।

चतुर्थकालमशनीयादक्षारलवणं मितम्।

गोमूत्रेणाचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥ १०९ ॥

दिवानुगच्छेदगास्तास्तु तिष्ठन्नूर्ध्वं रजः पिवेत्।

शुश्रूषित्वा नमस्कृत्य रात्रौ वीरासनं वसेत् ॥ ११० ॥

जितेन्द्रिय होकर दो मास नित्य गौमूत्र से स्नान करे, तीन शाम उपवास कर चौथे शाम को खावे, नमक का त्याग कर परिमित हविष्य का भोजन करे। दिन में गौओं के पीछे-पीछे उनके पैर से उड़ती हुई धूलि को पीता हुआ घूमे। रात में उनकी सेवा करे और उन्हें प्रणाम करके वीरासन से उनके पास बैठे। १०९-११०।

तिष्ठन्तीष्वनुतिष्ठेत्तु व्रजन्तीष्वप्यनुव्रजेत्।

आसीनासु तथासीनो नियतो वीतमत्सरः ॥ १११ ॥

आतुरामभिशस्तां वा चौरव्याघ्रादिभिर्पयैः ।

पतितां पंकलग्नां व सर्वोपायैर्विमोचयेत् ॥ ११२ ॥

गौ के खड़ी होने पर स्वयं भी खड़ा हो जाय, जब चले तो उनके पीछे-पीछे चले और उनके बैठने पर आप भी बैठ जाय, यह कार्य (तीन मास तक) नियमपूर्वक क्रोध रहित होकर करे। जो गाय रोगग्रस्त हो, चोर व्याघ्र आदि दुष्टों के भय से भयभीत हो, गिर पड़ी हो या कीचड़ में फंसी हो उसका सब उपायों से उद्धार करे। १११-११२।

उष्णे वर्षति शीते वा मारुते वाति वा भृशम् ।

न कुर्वीतात्मनस्त्राणं गोरकृत्वा तु शक्तितः ॥ ११३ ॥

आत्मनो यदि वान्येषां गृहे क्षेत्रेऽथवा खले ।

भक्षयन्तीं न कथयेत्पिबन्तं चैव वत्सकम् ॥ ११४ ॥

गर्मी, वर्षा, जाड़े में और जिस समय बड़ी तेजी से हवा बह रही हो। उस समय अपनी शक्ति भर गौ की रक्षा किये बिना अपनी रक्षा न करे, अपने या अन्य के गृह में अथवा खेत में या खलिहान में खाती हुई गौ को और दूध पीते हुए बछड़े को न रोके और न दूसरे से इस कार्य के लिए कहे। ११३-११४।

अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गामनुगच्छति ।

स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥ ११५ ॥

वृषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतः ।

अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भयो निवेदयेत् ॥ ११६ ॥

इस विधि से जो गौ को मारने वाला गौ की सेवा करता है वह तीन मास में ही गौ के पाप से छूट जाता है। अच्छी प्रकार से व्रत करके वैदिक ब्राह्मण को एक बैल और दस गाय दें। यदि इतने गौ न हों तो जो उसके पास हो वह सब ब्राह्मण को दे देवे। ११५-११६।

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः ।

अवकीर्णिवर्ज्यशुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥ ११७ ॥

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे ।

पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ ११८ ॥

अवकीर्णि (व्रत भ्रष्ट) को छोड़कर उपपातकी द्विज पाप शुद्ध्यर्थ पूर्वोक्त व्रत को करे। अवकीर्णी रात को काने गधे के साथ चौराहे पर पाक यज्ञ की विधि से नैऋति देवता का यज्ञ करे। ११७-११८।

हुत्वाग्नौ विधिवद्बोमानन्ततश्च समेत्युचा।

वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाऽहुतीः ॥ ११९ ॥

कामतो रेतसः सेकं व्रतस्थस्य द्विजन्मनः।

अतिक्रमं व्रतस्याहुर्धर्मज्ञा ब्रह्मवादिनः ॥ १२० ॥

विधिवत् अग्नि में हवा करने के बाद "समासिम्बन्तु मास्त" इस ऋचा से वायु, इन्द्र, बृहस्पति और अग्नि में घी से आहुति दे। जो व्रतस्थ द्विज (ब्रह्मचारी) इच्छा से वीर्यसिंचन करता है उसका व्रत नष्ट हो जाता है। धर्मज्ञ वेदवादियों ने ऐसा कहा है। ११९-१२०।

मारुतं पुरुहूतं च गुरुं पावकमेव च।

चतुरो व्रतिनोऽभ्येति ब्रह्मं तेजोऽवकीर्णिनः ॥ १२१ ॥

एतस्मिन्नेनसि प्राप्ते वसित्वा गर्दभाजिनम्।

सप्तागारांश्चरेद्भैक्षं स्वकर्म परिकीर्तयन् ॥ १२२ ॥

अवकीर्णी व्रतभंग हुए ब्रह्मचारी का ब्रह्मतेज वायु इन्हें, बृहस्पति और अग्नि इन चारों देवताओं के पास चला जाता है। इस पाप के (अवकीर्ण हो जाने पर ब्रह्मचारी गधे के चमड़े को पहनकर और पूर्वोक्त गर्दभ यज्ञ करके) अपने कर्म को कहता हुआ सात घरों से भिक्षा माँगकर लावे। १२१-१२२।

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नेककालिकम्।

उपस्पृशंस्त्रिषवणं त्वब्देन स विशुद्ध्यति ॥ १२३ ॥

जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वान्यतममिच्छया।

चरेत्सांतसनं कृच्छं प्राजापत्यमनिच्छया ॥ १२४ ॥

उस पाई हुई भिक्षा से दिन रात में एक बार आहार करे और तीन बार स्नान करता हुआ एक वर्ष से उस पाप से शुद्ध होता है। अपनी इच्छा से कोई अपकर्म जातिभ्रंशकर पापों में करे तो कृच्छ्रसांतपन व्रत करे और अनिच्छा से किया हो तो आगे कहे हुए प्राजापत्य व्रत को करे। १२३-१२४।

संकारापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम्।

मलिनीकरणीयेषु तप्तः स्याद्यवकैस्त्रयहम् ॥ १२५ ॥

तुरीयो ब्रह्महत्याः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः।

वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः ॥ १२६ ॥

(अपनी इच्छा से संकरीकरण अथवा अपाली करण इन दोनों पापों में से किसी एक को करने वाला किये हुए पाप के शान्त्यर्थ चान्द्रायण व्रत को करे और मलिनीकरण पापों के शान्त्यर्थ तीन दिन पर्यन्त गरम लपसी पीवे। क्षत्रिय का वध करने पर ब्रह्महत्या का चौथा भाग, अपने काम में लगे हुए वैश्य के वध करने से आठवाँ भाग और शूद्र के वध में सोलहवाँ भाग प्रायश्चित्त कहा है। १२५-१२६।

अकामतस्तु राजन्यं विनिपात्य द्विजोत्तमः।

वृषभैकसहस्रा गा दद्यात्सुचरितव्रतः ॥ १२७ ॥

त्र्यब्दं चरेद्वा नियतो जटो ब्रह्महणा व्रतम्।

वसन्दूरतरे ग्रामाद्वृक्षमूलनिकेतनः ॥ १२८ ॥

अनिच्छा (अज्ञान) से क्षत्रिय की रक्षा करे तो ब्राह्मण विधिवत् व्रत का आचरण करके एक बैल और एक सहस्र गौ ब्राह्मणों को दे अथवा जटा बढ़ाकर गाँव के बाहर किसी वृक्ष के नीचे रहकर तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या प्रायश्चित्त करे। १२७-१२८।

एतदेव चरेदव्यं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः।

प्रमाप्य वैश्यं वृत्तस्थं दद्याच्चैकशतं गवाम् ॥ १२९ ॥

एतदेव व्रतं कृत्स्नं षण्मासान् शूद्रहा चरेत्।

वृषभैकादशा वापि दद्याद्विप्राय गाः सिताः ॥ १३० ॥

अपनी वृत्ति में लगे हुए वैश्य का वध करके एक वर्ष तक यही (पूर्वोक्त) प्रायश्चित्त करे और एक सौ गौ दान कर ब्राह्मणों को दे। अज्ञानवश शूद्र का वध करने वाला यही पूर्वोक्त व्रत को छः मास तक करे अथवा एक सफेद बैल और दस गाय ब्राह्मण को दे। १२९-१३०।

मार्जारनकुलौ हत्वा चाषं मण्डूकमेव च।

श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत् ॥ १३१ ॥

वयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाध्वनो व्रजेत् ।

उपस्पृशेत्त्रवन्त्यां वा सूक्तं वान्दैवतं जपेत् ॥ १३२ ॥

बिल्ली, नेवला, नीलकंठ पक्षी, मेढ़ा, कुत्ता, गोह, उल्लू और कौआ इनमें से किसी का वध करने पर शूद्र के वध का प्रायश्चित्त करे। अथवा तीन रात तक दूध ही पीकर रहे, या एक योजन पैदल चले या नदी में स्नान करे अथवा (आपोहिष्ठेयादि) ऋचा का जप करे। १३१-१३२।

अभिं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः ।

पलालभारकं षण्ढे सैसकं चैकमाशकम् ॥ १३३ ॥

घृतकुम्भं वराहे तु तिलद्रोणं तु तित्तिरौ ।

शुके द्विहायनं वत्सं क्रौञ्चं हत्वा त्रिहायनम् ॥ १३४ ॥

साँप को मारकर ब्राह्मण नौकदार लोहे का डंडा और हिजड़े को मारकर एक भार पुआल और एक मासा सीसा ब्राह्मण को देवे। वरह (शूकर) को मारने पर एक घड़ा घी, तीतर के मारने पर द्रोण तिल, सुग्गा के मारने पर दो वर्ष का बछड़ा, क्रौंच पक्षी के मारने पर तीन वर्ष का बछड़ा ब्राह्मण को दे। १३३-१३४।

हत्वा हंसं बलाकां च बकं बर्हिणमेव च ।

वानरं श्येनभासौ च स्पर्शयेत् ब्राह्मणाय गाम् ॥ १३५ ॥

वासो दद्याद्धयं हत्वा पञ्च नीलान्वृषान्गजम् ।

अजमेषावनड्बाहं खरं हत्वैकहायनम् ॥ १३६ ॥

हंस, बलाका, बगुला (बक), मोर, वानर, बाज और भास पक्षी इनमें किसी को मारने पर एक गौ स्पर्श कर ब्राह्मण को देवे। घोड़े को मारने पर वस्त्र, गज (हाथी) का वध करने पर पाँच बैल, बकरा और भेड़ को मारने पर एक बैल और गधे का वध करने से एक वर्ष का बछड़ा दान कर ब्राह्मण को देवे। १३५-१३६।

क्रव्यादांस्तु मृगाहत्वा धेनुं दद्यात्पयस्विनीम् ।

अक्रव्यादान्वत्सतरीमुष्ट्रं हत्वा तु कृष्णालम् ॥ १३७ ॥

जीनकार्मुकबस्तावीनृथग्दद्याद्विशुद्धये ।

चतुर्णामपि वर्णानां नारीहत्वाऽनवस्थिताः ॥ १३८ ॥

कच्चे माँस खाने वाले पशुओं को दुधारु गाय, तृण भोगी पशुओं (हिरण आदि) को मारने पर जवान बछिया और ऊँट को मारने पर रत्ती भर सोना दान करे। चारों वर्णों की अव्यस्थित (दुरचारिणी) स्त्रियों को मारकर शरीर शुद्ध्यर्थ क्रमशः (ब्राह्मणादि क्रम से) चर्मपुट, धनुष बकरा और भेड़ दान करें। १३७-१३८।

दानेन वधनिर्णोक सर्पादीनामशक्नुवन्।

एककशश्चरेत्कृच्छ्रं ये द्विजः पापापनुत् ॥ १३९ ॥

अस्थिमता तु सत्त्वानां सहस्रस्य प्रमापणे।

पूर्णे चानस्यन्स्थानां तु शूद्र हत्याव्रतं चरेत् ॥ १४० ॥

यदि द्विज सर्पादिकों को मारने का प्रायश्चित्त दान करने में असमर्थ हो तो प्रत्येक पाप के शान्त्यर्थ एक-एक कृच्छ्र प्राजापत्य व्रत को करे हड्डी वाले एक सहस्र प्राणियों का वध करने पर, तथा बहुत से बिना हड्डी वाले जानवरों का वध करने पर शूद्रवध का प्रायश्चित्त करना चाहिए। १३९-१४०।

किंचिवेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे।

अनस्थानां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १४१ ॥

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक्शतम्।

गुल्मवल्लीलतानां स पुष्पितानां च वीरुधाम् ॥ १४२ ॥

हड्डी वाले जीवों का वध करने पर ब्राह्मण को कुछ देवे। बिना हड्डी वाले जीवों की हत्या करने पर प्राणायाम से ही शुद्धि हो जाती है। फल देने वाले वृक्ष, गुल्म, बल्ली, लतर और फलने वाले वृक्षों को काटने पर सौ बार गायत्री का जाप करें। १४१-१४२।

अन्नाद्यजानां सत्त्वानां रसजानां च सर्वसः।

फलपुष्पोद्भवानां च मृतपाशो विशोधनम् ॥ १४३ ॥

कृष्टजानामौषधीनां जातानाञ्च स्वयं वने।

वृथालम्भेऽनुगच्छेद्गां दिनमेकं पयोव्रतः ॥ १४४ ॥

अनाजों में उत्पन्न जीवों का तथा रसों (गुड़ आदि में) और फल पुष्पों में उत्पन्न जीवों का वध करने पर घी चाट लेने से शुद्धि हो जाती है। जोते हुए खेत में उत्पन्न औषधियों और जंगल में स्वयं उत्पन्न वृक्षों

को वृथा काटने से एक दिन केवल दूध ही पीकर रहे और गाय के पीछे-पीछे घूमे। १४३-१४४।

एतैर्ब्रतैरपोह्यं स्यादेनो हिंसासमुद्भवम्।

ज्ञानाज्ञानकृतं कृत्स्नं शृणुतानाद्यभक्षणे ॥ १४५ ॥

आज्ञानाद्वरुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुद्ध्यति।

मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः ॥ १४६ ॥

ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक किए हुए हिंसा जनित पापों का प्रायश्चित्त पूर्वोक्त विधि से दूर करे। अब अभोज्य पदार्थ भक्षण के प्रायश्चित्तों को सुनो। अज्ञान से वारुणी पी लेने पर पुनः संस्कार से शुद्ध होता है। किन्तु ज्ञानपूर्वक पीने पर जिस प्रायश्चित्त से प्राणान्त हो जाय ऐसा ही प्रायश्चित्त उसके लिए हो सकता है। यही शास्त्र का निर्णय है। १४५-१४६।

अपः सुराभाजनस्था मद्याभाण्डस्थितास्तथा।

पञ्चरात्रं पिवेत्पीत्वा शंखपुष्पीश्रितं पयः ॥ १४७ ॥

स्पृष्टा दत्त्वा च मदिरां विधिवत्प्रतिगृह्य च।

शूद्रोच्छिष्टाश्च पीत्वापः कुशवारि पिवेत्त्यहम् ॥ १४८ ॥

सुरापात्र (पैष्टीपात्र) में अथवा मद्य के पात्र में रखा हुआ जल पी लेने से शंखपुष्पी के साथ औटायी दूध पाँच रात्रि पीवे। मदिरा को स्पर्श कर, विधिवत् उसे ग्रहण करने पर, शूद्र का जूठा जल पीने पर तीन दिन कुशा मिलाकर औटायी जल पीवे। १४७-१४८।

ब्राह्मणस्तु सुरापानस्य गन्धमाघ्राय सोमपः।

प्राणानप्सु त्रिरायम्य घृतं प्राश्य विशुद्ध्यति ॥ १४९ ॥

अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंस्पृष्टमेव च।

पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ १५० ॥

सेम पीने वाला ब्राह्मण यदि सुरा पीने वाले के मुख की गन्ध को सूँघ ले तो वह जल के भीतर तीन बार प्राणायाम करके घी चाटकर शुद्ध होता है। तीनों द्विजाति वर्ण यदि अज्ञान से विष्टा, मूत्र या मदिरा से मिला हुआ कोई रस आस्वादन कर लें तो फिर से संस्कार कराने योग्य होते हैं। १४९-१५०।

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानिच ।

निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनःसंस्कारकर्मणि ॥ १५१ ॥

अभोज्यानां तु भुक्त्वान्नं स्त्रीशूद्रोच्छिष्टमेवच ।

जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान्पिवेत् ॥ १५२ ॥

द्विजातियों के पुनः संस्कार कर्म में मुण्डन, दण्ड, भिक्षा और ब्रह्मचर्य व्रत ये सब नहीं होते हैं। जिनका अन्न नहीं खाना चाहिए उसका अन्न खाने पर तथा स्त्री, शूद्र का जूठा खाने पर और अभक्ष्य मांस खाने लेने पर सात रात्रि तक यवागू या जल और जौ का सत्तू पीवे। १५१-१५२।

शुक्तानि च कषायांश्च पीत्वामेध्यान्यापि द्विजः ।

तावद्भवत्यप्रयतो यावत्तत्र ब्रजत्यधः ॥ १५३ ॥

विड्वराहखरोष्ट्राणां गोमायोः कपिकाकयोः ।

प्राश्य मूत्रपुरीषाणि द्विजश्चन्द्रायणं चरेत् ॥ १५४ ॥

सिरका और अर्क शुद्ध होते हुए भी उसको पीने वाला द्विज तब तक अपवित्र रहता है जब तक कि वह शरीर से निकल नहीं जाता है। ग्राम में रहने वाले शूकर, गदहा, ऊँट, शृगाल, वानर और कौआ इनके मलमूत्र को खा लेने पर द्विज चान्द्रायण व्रत को करे। १५३-१५४।

शुष्काणि भुक्त्वा मांसानि कवकानि च ।

अज्ञातं चैव सूनास्थमेतदेव व्रतं चरेत् ॥ १५५ ॥

क्रव्यादसूकरोष्ट्राणां कुक्कुटानां च भक्षणे ।

नरकाकखराणां च तप्तकृच्छं विशोधनम् ॥ १५६ ॥

सूखे हुए मांस या जो न जाना हो, तथा जो मांस कसाई के यहाँ का हो तथा गोबर छत्ता के खाने लेने से भी चान्द्रायण व्रत करे। कच्चा मांस खाने वाले पशु, सूअर, ऊँट, मुर्गा, कौआ और गदहा इनमें से किसी का मांस ज्ञानपूर्वक खा लेवे तो पाप शुद्ध्यर्थ दस कृच्छ्रव्रत करे। १५५-१५६।

मासिकात्रं तु योऽश्नीयादसमावर्तको द्विजः ।

स त्रीण्यहान्युपवसेदेकाहं चोदके वसेत् ॥ १५७ ॥

ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मधु मांसं कथंचन ।

स कृत्वा प्राकृतं कृच्छं व्रतशेषं समापयेत् ॥ १५८ ॥

जिसका समावर्तन संस्कार नहीं हुआ है ऐसा द्विज (ब्रह्मचारी) यदि मासिक श्राद्ध सम्बन्धी अन्न खाये तो तीन दिन तक उपवास करे और एक दिन जल पीकर रहे। जो ब्रह्मचारी किसी प्रकार से मधु, माँस खा ले तो वह प्राजापत्य व्रत को करके ब्रह्मचर्य व्रत को समाप्त करे। १५७-१५८।

विडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा श्वानकुलस्य च।

केशकीटावपत्रं च पिवेद्ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥ १५९ ॥

अभोज्यमन्नं नात्तव्यमात्मनः शुद्धिमिच्छता।

आजानुभुक्तं तूत्तार्य शोध्यं वाप्याशु शोधनैः ॥ १६० ॥

बिल्ली, कौआ, मूसा, कुत्ता और नेवले का जूठा और केश कीट से व्यास जो अन्न को उसको खा लेने पर ब्रह्मसुवर्चला (क्वाथ) को पीवे। अपनी शुद्धि चाहने वाला अभोज्य (अभक्ष्य) अन्न को न खावे यदि अज्ञान में खा ले तो वमन कर उसे निकाल दे अथवा शीघ्र ही प्रायश्चित्त द्वारा अपने को शुद्ध कर ले। १५९-१६०।

एषोऽनाद्यादनस्योक्तो ब्रतानां विविधो विधिः।

स्तेयदोषापहर्तृणां ब्रतानां श्रूयतः ॥ १६१ ॥

धान्यान्नधनचौर्याणि कृत्वा कामदजोद्वित्तमः।

स्वजातीयगृहादेव कृच्छ्रब्देन विशुद्ध्यति ॥ १६२ ॥

यह अभक्ष्य पदार्थ के भक्षण के अनेक प्रायश्चित्त कहे अब चोरी के दोषों को हरने वाले प्रायश्चित्त की विधि सुनो। ब्राह्मण इच्छा से (ज्ञानपूर्वक) अपने स्वजातीय के गृह से धान्य अन्न (भात रोटी आदि) और धन चुरा ले तो एक वर्ष तक प्राजापत्य व्रत को करने से शुद्ध होता है। १६१-१६२।

मनुष्याणां तु हरणे स्त्रीणां क्षेत्रगृहस्य च।

कूपवापीजलानां च शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥ १६३ ॥

द्रव्याणामल्पसाराणां स्तेयं कृत्वान्यवेशमतः।

चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं तन्निर्यात्यात्मशुद्ध्ये ॥ १६४ ॥

मनुष्य, स्त्री, खेत, गृह, कुआं और बावड़ी का जल चुराने वाला चान्द्रायण व्रत करने से शुद्ध होता है। दूसरे के घर से अल्प मूल्य की वस्तु उसके मालिक को देवे और कृच्छ्र सान्तापन व्रत करे। १६३-१६४।

भक्ष्यभोज्यापहरणे यानशय्यासनस्य च ।

पुष्पमूलफलानां च पञ्चगव्यं विशोधनम् ॥ १६५ ॥

तृणकाष्ठद्रुमाणां च शुष्कान्नस्य गुडस्य च ।

चेलचर्माभिषाणां त्रिरात्रं स्यादभोजनम् ॥ १६६ ॥

भक्ष्य (मोदकादि), भोज्य (दूध आदि), सवारी, शय्या आसन, फूल मूल और फल इनके चुराने पर पंचगव्य प्राशन से शुद्धि होती है। तृण, काष्ठ, पेड़, सूखा अन्न, गुड़, वस्त्र, चमड़ा और माँस इन पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को चुराने पर तीन रात तक का उपवास करे। १६५-१६६।

मणिमुक्ताप्रवालानां ताम्रस्य रजतस्य च ।

अयः कांस्योपलानां च द्वादशाहं कणात्रता ॥ १६७ ॥

कार्पासकीटजीर्णानां द्विशफैकशफस्य च ।

पक्षिगन्धौषधीनां च रज्जवाश्चैव त्र्यहं पयः ॥ १६८ ॥

मणि, मोती, मूँगा, ताँबा, चाँदी, लोहा, काँसा और पत्थर इनमें किसी एक को चुराने वाला बारह दिन तक अन्न का कण खाने से शुद्ध होता है। सूती, रेशमी, ऊनी कपड़े, घोड़ा, बैल और पक्षी, कपूर, चन्दन और औषधि तथा रस्सी में से किसी एक के चोरी करने पर तीन दिन तक दूध पीकर रहे। १६७-१६८।

एतैर्ब्रतैरवोहेत पापं स्तेयकृतं द्विजः ।

जगम्यागमनीयं तु ब्रतैरैमिरपानुदेत् ॥ १६९ ॥

गुरुतल्पव्रतं कुर्याद्व्रतः सिकत्वा स्वयोनिषु ।

सख्युः पुत्रस्य स्त्रीषु कुमारीष्वन्त्यजासु च ॥ १७० ॥

इन पूर्वोक्त उपायों से द्विज चोरी के पापों से शुद्ध होवे और अगम्या गमन के पापों को आगे कहे हुए व्रतों से नष्ट करे। सगी बहन, मित्र की स्त्री, पुत्र की स्त्री, कुमारी और चाण्डालिन के साथ स्त्री प्रसंग करने वाला गुरुपत्नी गमन का प्रायश्चित्त करे। १६९-१७०।

पैतृष्वसेर्थी भगिनीं स्वस्त्रीयां मातुरेव च ।

मातुश्च भ्रातुस्तनयां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ १७१ ॥

एतास्तिस्त्रस्तु भार्यार्थे जोपयच्छेत्तु बुद्धिमान्।

ज्ञातित्वेनानुपेयास्ताः पतति ह्युपयन्नधः ॥ १७२ ॥

फुफेरी, मौसेरी, ममेरी बहनों के साथ प्रसंग करके चान्द्रायण व्रत करे। बुद्धिमान् इन तीनों (फुफेरी, मौसेरी, ममेरी बहनों को) स्त्री बनाने के लिए विवाह के लिए उपयोग न करे। क्योंकि ये बहिन होने के कारण ब्याहने योग्य नहीं हैं, यदि कोई कर लेता है तो वह नरकगामी होता है। १७१-१७२।

समानुषीषु पुरुष उदक्यायामयोनिषु।

रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छं सातवनं चरेत् ॥ १७३ ॥

मैथुनं तु समासेव्यं पुंसि योषिति वा द्विजः।

गोयानेऽप्सु दिवा चैव सवासाः स्नानमाचरेत् ॥ १७४ ॥

जो मनुष्य अमानुषी (मनुष्य से भिन्न योनि चौपाये) में, रजस्वला स्त्री में, योनि से भिन्न स्थान में तथा जल में वीर्यपात करता है उसकी कृच्छ्रस्नान्तपन करने से शुद्धि होती है। जो द्विज पुरुष या स्त्री के साथ बैलगाड़ी (या रथ जिसमें बैल जुते हों), जल में या दिन में मैथुन करे तो उसको सचैल स्नान (जो कपड़ा पहिने हो उसके साथ) करना चाहिए। १७३-१७४।

चांडालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च।

पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ १७५ ॥

विप्रदुष्टां स्त्रियं भर्ता निरुन्ध्यादेकवेशमनि।

यत्पुंसः परदारेषु तच्चैनां चारयेद्व्रतम् ॥ १७६ ॥

यदि ब्राह्मण अज्ञान से चाँडाल या म्लेक्ष की स्त्री के साथ सम्भोग करे, उनका अन्न खाय अथवा उनका दान ले तो पतित हो जाता है, यदि जान-बूझकर ऐसा करे तो उसके बराबर हो जाता है। स्वेच्छा से व्यभिचार में प्रवृत्त स्त्री को उसका पति उसे एक घर में बन्द कर दे और पुरुषों को परस्त्रीगमन विषय में जो प्रायश्चित्त कहा है वही उससे करावे। १७५-१७६।

सा चेत्युनः प्रदुष्येत्तु सदृशेनोपयन्त्रिया।

कृच्छं चन्द्रायण चैव तदस्याः पावनं स्मृतम् ॥ १७७ ॥

यत्करोत्येकरात्रेण
तदैक्षभुग्जपत्रित्यं

वृषलीसेवनाद्विजः ।
त्रिभिर्वर्षैर्व्यपोहति ॥ १७८ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से नियंत्रित होते हुए भी यदि वह स्त्री अपने स्वजातीय के साथ फिर व्याभिचार करे तो उसके लिए कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत करावे । द्विज एक रात में चाण्डालिन के सेवन से जो पाप संचित करता है । उस पाप को तीन वर्ष पर्यन्त भिक्षा का अन्न खाकर गायत्री का जप करता हुआ नष्ट करता है । १७७-१७८ ।

एषा पापकृतामुक्ता चातुर्णामपि निष्कृतिः ।
पतितैः संप्रयुक्तानामिमाः श्रृणुत निष्कृतीः ॥ १७९ ॥
संवत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनात्र तु यानासनाशनात् ॥ १८० ॥

यह चार प्रकार (हिंसा, अभक्ष्य भोजन, चोरी, अगम्यागमन) के पापों को करने वालों का प्रायश्चित्त कहा है । अब पतितों के संसर्गियों का प्रायश्चित्त सुनो । पतित के साथ सवारी में यात्रा करने से, एक आसन पर बैठने से, उनके साथ भोजन करने से एक वर्ष में पतित हो जाता है । किन्तु उसका यज्ञ कराने, पढ़ाने या उसके साथ सम्बन्ध (विवाहादि) करने से एक वर्ष में पतित नहीं होता किन्तु तत्काल ही पतित हो जाता है । १७९-१८० ।

यो येन पतितेनैषां संसर्गं याति मानवः ।
स तस्यैव ब्रतं कुर्यात्तत्संसर्गविशुद्धये ॥ १८१ ॥
पतितस्योदक्रं कार्यं सपिण्डैर्बान्धवैर्बहिः ।
निन्दितेऽहनि सायाह्ने ज्ञात्यृत्विग्गुरुसंनिधौ ॥ १८२ ॥

जो मनुष्य जिस प्रकार के पतित के साथ संसर्ग करने से पतित हुआ है, वह उसी पतित के ही शुद्ध होने वाले प्रायश्चित्त को करे । पतित के सपिण्ड बाँधवगण ग्राम के बाहर जाति, ऋत्विग (पुरोहित) और गुरु के सामने निन्दित दिन में सन्ध्या समय पतित हो जीते जी जलांजलि देवे । १८१-१८२ ।

दासी घटमपां पूर्णा पर्यस्येत्प्रेतवत्पदा ।
अहोरात्रमुपासीरन्नशौचं बान्धवैः सह ॥ १८३ ॥

निवर्तेरंश्च तस्मात्तु संभाषणसहासने ।

दायादस्य प्रदानं च यात्रा चैव हि लौकिकी ॥ १८४ ॥

दासी दक्षिणाभिमुख होकर जल भरे हुए घड़े को पैर से जैसे प्रेत के लिए लुढ़का दिया जाता है वैसे ही लुढ़का दे, इसके बाद सपिंड (दायाद) लोग एक अहोरात्र का अशौच का व्यवहार करें। उस पातकी से बोलना, एक ही आसन पर बैठना, लेन-देन का व्यवहार और उसके साथ भोजनादि का व्यवहार सब छोड़ दें। १८३-१८४।

ज्येष्ठता च निवर्तेत ज्येष्ठावाप्यं च यद्धनम् ।

ज्येष्ठांशं प्राप्नुयाच्चास्य यवीयान्गुणतोऽधिकः ॥ १८५ ॥

प्रायश्चित्ते तु चरिते पूर्णकुम्भमपां नवम् ।

तेनैव सार्धं प्रास्येयुः स्नात्वा पुण्ये जलाशये ॥ १८६ ॥

पतित हो जाने पर जेठे भाई की जेष्ठता नहीं रहती है और जेठे भाई द्वारा प्राप्त धन और जो उसका ज्येष्ठांश हो वह सब छोटा भाई पाता है जो सब भाईयों में श्रेष्ठ गुणी होगा। पतित के प्रायश्चित्त कर लेने पर उसके सपिंड बौध्वगण उसके साथ पवित्र जलाशय में स्नान कर जल से पूर्ण नया घड़ा पानी में फेंक दें। १८५-१८६।

स त्वप्सु तं घटं प्राप्य प्रविश्य भवनं स्वकम् ।

सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत् ॥ १८७ ॥

एतदेव विधिं कुर्याद्योषित्सु पतितास्वपि ।

वस्त्रात्रपानं देयं तु वसेयुश्च गृहान्तिके ॥ १८८ ॥

वह उस घड़े को जल में फेंककर अपने घर में प्रवेश कर सभी भाई बन्धुओं के साथ जैसा पहले व्यवहार था वैसा करे। यही विधि पतित स्त्रियों के साथ भी करनी चाहिए। किन्तु उन्हें अत्र, जल और वस्त्र देना चाहिए और वह गृह के समीप झोंपड़ी में रहे। १८७-१८८।

एनस्विभिरनिर्णिक्तैर्नार्थं किञ्चित्सहाचरेत् ।

कृतनिर्णोजडानांश्चैव न जुगुप्सेत कर्हिचित् ॥ १८९ ॥

वालाघ्नांश्च कृतघ्नांश्च विशुद्धानपि धर्मतः ।

शरणागतहन्तृंश्च स्त्रीहन्तृंश्च न संवसेत् ॥ १९० ॥

जिन पापात्माओं ने प्रायश्चित्त नहीं किया है उनके साथ किसी प्रकार का व्यवहार नहीं करना चाहिए। किन्तु जिन लोगों ने प्रायश्चित्त किया हो उनकी निन्दा कभी न करनी चाहिए। बालकों का वध करने वाले, कृतघ्न, शरणागत की हत्या करने वाले और स्त्री की हत्या करने वाले यदि प्रायश्चित्त करके शुद्ध हो जाएं तो भी उनका संसर्ग न करे। १८९-१९०।

येषां द्विजानां सावित्री नानूच्येत यथाविधि।

तांश्चारयित्वा त्रीन्कृच्छ्रान्यथाविध्युपनापयेत्॥ १९१॥

प्रायश्चित्तं चिकीर्षन्ति विकर्मस्थास्तु ये द्विजाः।

ब्रह्मणा च परित्यक्तास्तेषामप्येतदादिशेत्॥ १९२॥

जिन द्विजों का शास्त्रानुसार यज्ञोपवीत संस्कार न हुआ हो उनसे तीन प्राजापत्य व्रत करके विधिवत् उनका यज्ञोपवीत संस्कार कर दे। जो द्विज निषिद्ध कर्म करने वाले हों और वेदाध्ययन से रहित हों यदि वे प्रायश्चित्त करना चाहें तो उन्हें भी यही विधि करनी चाहिए। १९१-१९२।

यद्गर्हितेनार्चयन्ति कर्मणा ब्राह्मणा धनम्।

तस्योत्सर्गेण शुद्ध्यन्ति जप्येन तपसैव च॥ १९३॥

जपित्वा त्रीणि सावित्र्याः सहस्राणि समाहितः।

मासं गोष्ठे पयः पीत्वा मुच्यतेऽसत्प्रतिग्रहात्॥ १९४॥

जो ब्राह्मण गर्हित (निन्दित) कर्म से धन इकट्ठा करते हों वे उसका दान करने से और जप तप करने से शुद्ध होते हैं। ब्राह्मण समाहित चित्त होकर तीन सहस्र गायत्री का जप करे अथवा एक मास तक दूध पीकर गौशाला में रहे तो दूषित दान लेने का दोष नहीं होता है। १९३-१९४।

उपवासकृशं तं तु ग्रोव्रजात्युनरागतम्।

प्रणतं प्रति पृच्छेयुः साम्यं सौम्येच्छसीति किम्॥ १९५॥

सत्यमुक्त्वा तु विप्रेषु विकिरेद्यवसं गवाम्।

गोभिः प्रवर्तिते तीर्थे कुर्युस्तस्य परिग्रहम्॥ १९६॥

उपवास से दुर्बल और गौशाला से आए हुए उस कृषित ब्राह्मण से लोग पूछें कि क्या तुम हम लोगों के साथ मिलना चाहते हो। वह ब्राह्मणों से सत्य कहकर (मैं अब दूषित दान न लूँगा) गौ के आगे घास रख दे। यदि

गौ उसके हाथ का घास खा ले तो अन्य ब्राह्मण उसको अपने समाज में ले लेवें। १९५-१९६।

ब्राह्मणानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च।

अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ॥ १९७ ॥

शरणागतं परित्यज्य वेदं विप्लाव्य च द्विजः।

संवत्सरं यवाहारस्तत्पापमपसेधति ॥ १९८ ॥

ब्राह्मणों का यज्ञ, अपने कुटुम्ब से भिन्न लोगों की दाहादि क्रिया, अभिचार और अहीन यज्ञ करकर या करके तीन प्राजापत्य करके ब्राह्मण शुद्ध होता है। शरणागत का त्याग करने से (अर्थात् रक्षा न करने वाला) और अनधिकारी को वेद पढ़ाने से एक वर्ष तक केवल जौ का आहार करने से उस पाप से छुटकारा मिलता है। १९७-१९८।

श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्यादिभरेव च।

नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ १९९ ॥

षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव वा।

होमाश्च सकला नित्यमपाङ्कत्यानां विशोधनम् ॥ २०० ॥

कुता, सियार, गदहा, कच्चे माँस खाने वाले ग्राम्य जानवर, मनुष्य, घोड़ा, ऊँट और सूअर जिसको काटे हों वह प्राणायाम कर लेने से ही शुद्ध हो जाते हैं। जो अपाङ्क्तेय पतित हैं उनकी शुद्धि के लिए यह विधान है कि एक मास तक छठे शाम को भोजन करे, वेद के संहिता का जप करें, अथवा वेदोक्त मन्त्रों से नित्य होम करें तब शुद्धि होती है। १९९-२००।

उष्ट्रयानं समारुह्य तु कामतः।

स्नात्वा तु विप्रो दिग्वासाः प्राणायामेन शुद्ध्यति ॥ २०१ ॥

विनादिभरप्सु वाप्यार्तः शरीरं संनिवेश्य च।

सचैलो बहिराप्लुत्य गामालभ्य विशुद्ध्यति ॥ २०२ ॥

जो ब्राह्मण अपनी इच्छा से ऊँट या गधे की सवारी पर चढ़े और नंगा होकर स्नान करे वह प्राणायाम मात्र से शुद्ध होता है, अत्यन्त वेग से पीड़ित होकर पानी के बिना या पानी में मलमूत्र का त्याग करे तो गाँव के बाहर नदी वगैरह में सचैल्य (वस्त्रादि पहने हुए ही) स्नान

करके गौ का स्पर्श करके शुद्ध होता है। २०१-२०२।

वेदोदितानां नित्यानां कर्मणा समतिक्रमे।

स्नातकव्रतलोपे च प्रायश्चित्तमभोजनम् ॥ २०३ ॥

हुकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसीः।

स्नात्वाऽनश्नन्नहःशेषमभिवाद्य प्रसादयेत् ॥ २०४ ॥

वेद में कहे हुए नित्य कर्मों का अतिक्रमण हो जाने पर और स्नातक व्रत के लोप हो जाने पर एक दिन भोजन न करे यही इस दोष का प्रायश्चित्त है। ब्राह्मण को हुंकार (अर्थात् चुप बैठो ऐसा कहे) और अपने से बड़े को तू कह दे तो उस समय से सायंकाल तक स्नान कर उसकी सेवा कर प्रसन्न करे। २०३-२०४।

ताडयित्वा तृणेनापि कण्ठे वाऽऽबध्य वाससाः।

विवादे वा विनिर्जित्य प्रणिपत्य प्रसादयेत् ॥ २०५ ॥

अवगूर्य त्वद्दशतं सहस्रमभिहत्य च।

जिघांसया ब्राह्मणस्य नरकं प्रतिपद्यते ॥ २०६ ॥

ब्राह्मण को तृण से भी मारने पर अथवा उसके कण्ठ में कपड़ा डालने या विवाद में जीतने पर उसको प्रणाम कर प्रसन्न करना चाहिए। ब्राह्मण को मारने की धमकी देने से सौ वर्ष और दण्ड प्रहार करने से हजार वर्ष तक नरक भोगना पड़ता है। २०५-२०६।

शोणितं यावतः पांसून्संगृह्णाति महीतले।

तावन्त्यब्दसहस्राणि तत्कार्ता नरके वसेत् ॥ २०७ ॥

अवगूर्य च रेत्कुच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने।

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ कुर्बीत विप्रस्योत्पाद्य शोणितम् ॥ २०८ ॥

ब्राह्मण का रुधिर पृथ्वी पर गिर कर धूल के जितने कण को भिगोता है उतने ही हजार वर्ष रुधिर बहाने वाला नरक में वास करता है। ब्राह्मण को मारने के लिए लाठी उठाने पर कृच्छ्र व्रत और अकृच्छ्र व्रत करे। २०७-२०८।

अनुक्तनिष्कृतीनां तु पापानामपनुत्तये।

शक्तिं चावेक्ष्य पापं च प्रायश्चित्तं प्रकल्पयेत् ॥ २०९ ॥

ययैरभ्युपायैरेनांसि मानवो व्यपकर्षति ।

तान्वोऽभ्युपायान्वक्ष्यामि देवर्षिपितृसेवितान् ॥ २१० ॥

जिन पापों के प्रायश्चित्त नहीं कहे गये हैं उनके प्रायश्चित्त के लिए पापकर्ता की शक्ति को देखकर प्रायश्चित्त की व्यवस्था करे । जिन उपायों से मनुष्य अपने पापों का प्रायश्चित्त करता है । देवता, पितरों और ऋषियों से अनुष्ठित उन उपायों को कहता हूँ । २०९-२१० ।

अहं प्रातस्त्र्यहं सायं त्र्यहमद्यद्याचितम् ।

अहं परं च नाशनीयात्प्राजापत्यं चरन्द्भिजः ॥ २११ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम् ।

एकरात्रोपवाश्च कृच्छ्रं सांतपनं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

प्राजापत्य व्रत का आचरण करता हुआ द्विज तीन दिन सवेर, तीन दिन सायंकाल और तीन दिन बिना किसी से कुछ मांगे ही जो कुछ मिल जाये उसे ही खावे । इसी को प्राजापत्य व्रत कहते हैं । गोमूत्र, गोबर, गाय का दूध, गौ की दही, गौ का घी, कुश का बल इन सबको मिलाकर भोजन करे, दूसरे दिन उपवास करे इस को कृच्छ्रसान्तपन व्रत कहते हैं । २११-२१२ ।

एकैकं ग्रासनशनीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत् ।

अहं चोपवसेदन्त्यपतिकृच्छ्रं चरन्द्भिजः ॥ २१३ ॥

तप्त कृच्छ्रं चरन्विप्रो जलक्षीरघृतानिलान् ।

प्रतित्र्यहं पिलेदुष्णान्सकृत्स्नायी समाहितः ॥ २१४ ॥

तीन दिन सवेर एक ग्रास और तीन दिन शाम को और तीन दिन बिन माँग अन्न भी एक-एक ग्रास खाये इसी को अतिकृच्छ्र व्रत कहते हैं । ब्राह्मण नित्य एक बार स्नान कर एकाग्रचित्त होकर प्रत्येक तीन-तीन दिन क्रम से गरम जल, गरम दूध, गरम घी और वायु सेवन करे (अर्थात् तीन दिन जल, तीन दिन दूध इत्यादि) इसी को तप्तकृच्छ्र व्रत कहते हैं । २१३-२१४ ।

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम् ।

पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ २१५ ॥

एकैकं ह्यासयेत्पिण्डं कृष्णो शुक्ले च वर्धयेत् ।

उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१६ ॥

संयत चित्त होकर मन और इन्द्रियों को रोककर बारह दिन उपवास करने को पराक व्रत कहते हैं। जो कि सभी पापों का नाश करने वाला है। कृष्णपक्ष में तिथि के अनुसार एक-एक ग्रास कम करके और शुक्लपक्ष में तिथि के अनुसार एक-एक ग्रास बढ़ाकर भोजन करे इसको चान्द्रायण व्रत कहते हैं। २१५-२१६।

एतमेव विधिं कृतस्नमाचरेद्यवमध्यमे।

शुक्लपक्षादिनियतश्चरंश्चान्द्रायणं व्रतम् ॥ २१७ ॥

अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते।

नियतात्मा हविष्याशी यतिचान्द्रायणं चरन् ॥ २१८ ॥

शुक्लपक्षादि से पूर्वोक्त प्रकार से (अर्थात् विधि के अनुसार) व्रत को करे तो इसको यवमध्यम चान्द्रायण व्रत कहते हैं। शुक्लपक्षादि व कृष्णपक्षादि से आरम्भ कर एक मास तक जितेन्द्रिय होकर प्रत्येक दिन दोपहर को आठ ग्रास हविष्य अन्न का भोजन यति चान्द्रायण करने वाला मनुष्य करे। २१७-२१८।

चतुरः प्रातरश्नीयात्पिण्डाम्बिप्रः समाहितः।

चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं स्मृतम् ॥ २१९ ॥

यथाकथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः।

मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥ २२० ॥

एक मास तक चार ग्रास सवेरे और चार ग्रास शाम को नियम से भोजन करे, इसको शिशु चान्द्रायण व्रत मुनियों ने कहा है। जो नियतचित्त होकर एक मास में किसी भी प्रकार से २४० ग्रास हविष्य खाकर निर्वाह करता है-वह चन्द्रलोक को जाता है। २१९-२२०।

एतद्रुद्रास्तथादित्या वसवश्चाचरन्व्रतम्।

सर्वाकुशलमोक्षाय मरुतश्च महर्षिभिः ॥ २२१ ॥

महाव्याहृतिभिर्होमः कर्तव्यः स्वयमन्हम्।

अहिंसासत्यमकक्रोधमार्जवं च समाचरेत् ॥ २२२ ॥

इस व्रत को रुद्र, सूर्य, वसु, मरुत् देवता और महर्षियों ने भी सभी पापों से मुक्त होने के लिए किया था। स्वयम् प्रतिदिन महाव्याहृति होम घी से

करे। हिंसा, क्रोध और कुटिलता और झूठ न बोले। २२१-२२२।

त्रिरहस्त्रिर्निशायां च सवासा जलमाविशेत्।

स्त्रीशूद्रपतितांश्चैव नाभिभाषेत कर्हिचित्॥ २२३॥

स्थानासनाभ्या विहरेदशक्तोऽधः शयीत वा।

ब्रह्मचारी व्रती च स्याद्गुरुदेवद्विजार्चकः॥ २२४॥

तीन बार दिन में और तीन बार रात में कपड़े के सहित जल में प्रवेश करे। स्त्री, शूद्र और पतित के साथ कभी सम्भाषण न करे। अपने स्थान पर घूमे या अपने आसन पर बैठे अथवा अस्वस्थ होने पर भूमि पर सोवे ब्रह्मचारियों के नियम से (अर्थात् मौंजी, मेखला दण्डधारण करे) रहे और गुरु, देवता और ब्राह्मण की पूजा करे। २२३-२२४।

सावित्रीं च जपेन्नित्यं पवित्राणि च शक्तितः।

सर्वेष्वेव व्रतेष्वेवं प्रायश्चित्तार्थमादृतः॥ २२५॥

एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैर्नसः।

अनाविष्कृतपापांस्तु मन्त्रैर्होमैश्च शोधयेत्॥ २२६॥

नित्य सावित्री का जप करे और अपने सामर्थ्य के अनुसार पवित्र सूक्तों का जप करे सभी व्रतों में प्रायश्चित्त के लिए ऐसा करना उत्तम है। आविष्कृत (प्रकृष्ट) पापों के शमन के लिए द्विजों को पूर्वोक्त चान्द्रायण आदि व्रतों को करना चाहिए तथा अनाविष्कृत अर्थात् गुप्त पापों के शान्त्यर्थ मन्त्रों का जप हवन करना चाहिए। २२५-२२६।

ख्यापनेनानुतापेन तपसाऽध्ययनेन च।

पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेन चापदि॥ २२७॥

यथा तथा नरोऽधर्मं स्वयं स्वयं कृत्वानुभाषते।

तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते॥ २२८॥

अपने पापों को लोगों में प्रकट करके पछताने से और तप तथा अध्ययन करने से पाप के दोष से मुक्त हो जाता है और यदि तप आदि करने में असमर्थ हो तो दान करके भी पाप से मुक्त हो सकता है। जैसे-जैसे मनुष्य अपने किये हुए पापों को लोगों में ठीक-ठीक बताता है वैसे-वैसे वह उस अधर्म से केंचुल से साँप की तरह मुक्त होता है। २२७-२२८।

यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्म गृहति।

तथा तथा शरीरं तत्तेनाधर्मेण मुच्यते॥ २२९॥

कृत्वा पापं ही संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते।

नैवंकुर्यात्पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः॥ २३०॥

जैसे-जैसे पापी का मन पापकर्म की निन्दा करता है वैसे-वैसे उसका शरीर उस पाप से छुटकारा पाता है। पाप करके अपने किये हुए पर पश्चात्ताप करे तो वह उस पाप से छूट जाता है। फिर ऐसा नहीं करूँगा, मनमें ऐसा संकल्प करके निवृत्त हो जाय तो वह पवित्र हो जाता है। २२९-२३०।

एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्य कर्मफलोदयम्।

मनोवाङ् मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत्॥ २३१॥

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम्।

तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन्दितीयं न समाचरेत्॥ २३२॥

इस प्रकार मन से अच्छे और बुरे कर्मों का परलोक में अच्छा और बुरा मिलेगा विचारते हुए मन, वाणी और शरीर से शुभ कर्म को करे। अज्ञात (भूल से) अथवा ज्ञान (जानबूझ कर) निन्दित कर्म को करके यदि उसके पाप से छूटना चाहे तो फिर दूसरा निन्दित कर्म न करे। २३१-२३२।

यस्मिन्कर्मण्यस्य कृते मनसः स्यादलाघवम्।

तस्मिन्स्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत्॥ २३३॥

तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम्।

तपोमध्यं बुधैः प्रोक्तं तपोऽन्तं वेददर्शिभिः॥ २३४॥

जिस कार्य के करने से (प्रायश्चित्तादि) पापात्मा के चित्त को जब तक शान्ति न मिले तब तक उस कर्म को करता रहे। देवता और मनुष्य के सभी सुख तपोमूलक हैं तप ही मध्य और तप ही अन्त है ऐसा वेदविज्ञों ने कहा है। २३३-२३४।

ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।

वैश्यस्य तु तपो वार्ता तपः शूद्रस्य सेवनम्॥ २३५॥

ऋषयः संयतात्मानः फलमूलानिलाशनाः।

तपसैव प्रपश्यन्ति त्रैलोक्यं सचराचरम्॥ २३६॥

ब्राह्मण का ज्ञान ही तप है, क्षत्रिय का रक्षण ही तप है। वैश्य का वार्ता (पशुपालना आदि) और शूद्र का सेवा ही तप है। फल, मूल और वायु का सेवन करने वाले संयतात्मा, महर्षिगण तपस्या से ही चराचर तीनों लोकों को देखते हैं। २३५-२३६।

औषधान्यगदौ विद्या दैवी च विविधा स्थितिः।

तपसैव प्रसिद्ध्यन्ति तपोस्तेषां हि साधनम् ॥ २३७ ॥

यददुस्तरं यददुरापं यददुर्गं यच्च दुष्करम्।

सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ २३८ ॥

औषध, आरोग्य, विद्या और अनेक प्रकार की दैवी (स्वर्गादि लोकों की स्थिति) तप से ही प्राप्त होती हैं और तपस्या ही उनका साधन है। जो दुस्तर (पार करना कठिन) है, जो दुराय (पाना कठिन) है, जो दुर्ग जहाँ तक पहुँचना कठिन है और जो दुष्कर (जिसे करना कठिन) है वह सब तपस्या से साध्य होता है क्योंकि तपस्या दुर्लभ्य है ॥ २३७-२३८।

महापातकिनश्चैव शेषाश्चाकार्याकारिणः।

तपसैव सुतप्तेन मुच्यन्ते किल्बिषात्ततः ॥ २३९ ॥

कीटाश्चाहिपतङ्गाश्च पशवश्च वयांसि च।

स्थावराणि च भूतानि दिवं यान्ति तपोबलात् ॥ २४० ॥

महापातकी तथा शेष अकार्यकर्म करने वाले सुन्दर तपाये हुए तपस्या से तप्त होकर पापमुक्त हो जाते हैं। कीट (कीड़े), साँप, पतंग, पशु, पक्षी और स्थावर जीव (वृक्षादि) भी तपोबल से स्वर्ग को जाते हैं। २३९-२४०।

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाङ्मतिभिर्जनाः।

तत्सर्वं निर्दहन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥ २४१ ॥

तपसैव विशुद्धस्य ब्राह्मणस्य दिवौकसः।

इज्याश्च प्रतिगृह्णन्ति कामान्संवधयन्ति च ॥ २४२ ॥

मनुष्य मन या वाणी और शरीर से जो पाप करते हैं। उन सब पापों को तपोधन (तपस्वी) शीघ्र ही अपनी तपस्या से नाश कर देते हैं। देवता तप से विशुद्ध ब्राह्मण का यज्ञ में दिया हुआ हविष्य ग्रहण करते हैं और उसके अभीष्टों की सिद्धि देते हैं। २४१-२४२।

प्रजापतिरिदं शास्त्रं तपसैवासुजत्प्रभुः ।

तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥ २४३ ॥

इत्येतत्तपसो देवा महाभाग्यं प्रचक्षते ।

सर्वस्याय प्रपश्यन्तस्तपसः पुण्यमुक्तमम् ॥ २४४ ॥

समर्थ ब्रह्मा ने तपस्या से ही इस शास्त्र को बनाया, उसी प्रकार ऋषियों ने भी तपस्या से वेदों को प्राप्त किया। तपस्या से इस उत्तम पुण्य को देखकर देवता संसार के सम्पूर्ण सौभाग्य को तपस्या से ही सिद्ध बताते हैं। २४३-२४४।

वेदाभ्यासोऽन्वहं शक्तया महायज्ञक्रिया क्षमा ।

नाशयन्त्याशु पापानि महापातकजान्द्यपि ॥ २४५ ॥

यथैधस्तेजसा वह्निः प्राप्तं निर्दहति क्षणात् ।

तथा ज्ञानाग्निना पापं सर्वं दहति वेदवित् ॥ २४६ ॥

प्रतिदिन वेदाभ्यास शक्ति के अनुसार करना पंचमहायज्ञ और क्षमा (शांति धारण करना) ये कार्य महापातकियों के पापों को शीघ्र ही नाश कर देते हैं। जिस प्रकार से अग्नि अपने तेज से क्षण भर में ही लकड़ी को भस्म कर देती है। उसी प्रकार वेदज्ञ ब्राह्मण ज्ञानरूपी अग्नि से सभी पापों का नाश कर देता है। २४५-२४६।

इत्येतदेनसामुक्तं प्रायश्चित्तं यथाविधि ।

अतः ऊर्ध्वं रहस्यानां प्रायश्चित्तं निबोधत ॥ २४७ ॥

सव्याहृतिप्रणवकाः प्राणायामास्तु षोडश ।

अपि भ्रूणहणं मासात्पुनन्त्यहरहः कृता ॥ २४८ ॥

यह सब यथाविधि प्रकट पापों के प्रायश्चित्तों को कहा अब अप्रकट पापों के प्रायश्चित्तों को कहता हूँ। व्याहृति और प्रणव के साथ गायत्री का विधिपूर्वक प्रतिदिन सोलह प्राणायाम करने से एक मास में भ्रूणहत्या करने वाला भी पापों से छूट जाता है। (किन्तु सावित्री का अधिकारी ही इसे कर सकता है।) २४७-२४८।

कौत्सं जप्त्वाप इत्येतद्वासिष्ठं च प्रतीत्यृचम् ।

माहित्रं शुद्धवत्यश्व सुरापोऽपि विशुद्ध्यति ॥ २४९ ॥

सकृज्जप्त्वास्यवामीयं शिवसंकल्पमेव च।

अपहृत्यं सुवर्णं तु क्षणाद्भवति निर्मलः॥ २५०॥

कौत्सका "अप न शोशुचदधम्" और वशिष्ठका "प्रतिस्तो मेभिरुषस" तथा "माहित्रीणामवोस्तु" तथा "एतोन्विदं स्तवाम्" इन ऋचाओं के जप करके सुरापान करने वाला भी एक मास में शुद्ध हो जाता है। सुवर्ण की चोरी कर ब्राह्मण एक मास तक प्रतिदिन एक बार "अस्य वामस्य पलितस्य" और शिव संकल्प "यज्जाग्रतोदूरम्" इन मन्त्रों का जप करने से शीघ्र ही उस पाप से छूट जाता है। २४९-२५०।

हविष्यान्तीश्चमभ्यस्य नतमंह इतीति च।

जपित्वा पौरुषं सूक्तं मुच्यतै गुरुतल्यगः॥ २५१॥

एनसां स्थूलसूक्ष्माणां चिकिर्षन्नपनोदनम्।

अवेत्यृचं जपेदब्दं यत्किंचेहमितीति वा॥ २५२॥

(हविष्यान्तमजरं स्वविदि) इन ऋचाओं को अथवा "नतमंहो न दुस्तिम्" इन ऋचाओं को अथवा "इति वा इति में मन" अथवा "सहस्रशीर्षा" इत्यादि पुरुष सूक्त का एक मास तक प्रतिदिन पाठ करने वाला गुरुपत्नीगमनरूपी दोष से मुक्त हो जाता है। स्थूल और सूक्ष्म पापों से मुक्त हो इच्छा वाला पुरुष "अब ते हेलो वरुण नमोभि" अथवा "यत्किंचेद वरुण दैव्ये जन" अथवा वा "इति वा इतिमे मन" इन ऋचाओं सूक्तों का पाठ प्रतिदिन एक वर्ष तक करें। २५१-२५२।

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चात्रं विगर्हितम्।

जपंस्तरत्समन्दीयं पूयते मानवस्त्रयहात्॥ २५३॥

सोमरौद्रं तु वद्धेना मासमभ्यस्य शुध्यति।

स्ववन्तयामाचरन्स्नानमर्यम्णामिति च तृचम्॥ २५४॥

न लेने योग्य दान को लेकर और निषिद्ध अन्न को खोकर "तरत्समन्दी धावति" इत्यादि ऋचाओं का तीन दिन तक पाठ करने से शुद्ध हो जाता है। बहुत पाप करने वाला भी "सोमरुद्रा धारयेथामसूर्यम्" और "अर्थमण वरुणं मित्र" इत्यादि ऋचाओं का नदी में स्नान करके एक मास तक जप करने से बहुत पाप करने वाला सुद्ध हो जाता है। २५३-२५४।

अब्दार्धमिन्द्रमित्येतदेनस्वी सप्तकं जपेत् ।

अप्रशस्तं तु कृत्वाप्सु मासमासीत भक्षभुक् ॥ २५५ ॥

मन्त्रैः शाकलहोमीचैरब्दं हुत्वा घृतं द्विजः ।

सुगुर्वप्यपहन्येनो जप्त्वा वा नम इत्यृचम् ॥ २५६ ॥

पापी मनुष्य पाप से मुक्त होने के लिए “इन्द्र मित्रं वरुणमग्निम्” इन सात ऋचाओं का छः मास तक जप करे और जल में मलमूत्रादि करने वाला एक मास पर्यन्त भिक्षा का अन्न खाकर शुद्ध हो जाता है। शाक्य होमीय मन्त्रों से एक वर्ष तक घी से हवन करने से अथवा ऋचा को अथवा “इति वा इति मे मनः” इस मन्त्र का जप करने से द्विज के बहुत बड़े-बड़े पापों का भी नाश करता है। २५५-२५६ ।

महापातकसंयुक्तोऽनुगच्छेद्गाः समाहितः ।

अभ्यस्याब्दं पावमानोभक्षाहारो विशुद्ध्यति ॥ २५७ ॥

अरण्ये वा त्रिरभ्यस्य प्रयतो वेदसंहिताम् ।

मुच्यते पातकैः सर्वै पराकैः शोधितस्त्रिभिः ॥ २५८ ॥

महापातकी पुरुष समाहित चित्त होकर एक वर्ष तक भिक्षा के अन्न का भोजन करे और गौओं को चरने तथा “पावमानी स्थ्येति” इत्यादि ऋचाओं का जप करे तो पाप से शुद्ध होता है। तीन बार परगक व्रत से शुद्ध पुरुष संयत चित्त होकर तीन बार जंगल में वेद संहिता का पाठ करने से सभी पातकों से शुद्ध हो जाता है। २५७-२५८ ।

ब्रह्मं तूपवसेद्युक्तस्त्रिरहोऽभ्युपयन्नपः ।

मुच्यतै पातकैः सर्वैस्त्रिर्जपित्वाऽघमर्षणम् ॥ २५९ ॥

यथाश्वमेधः ऋतुराद् सर्वपापापनोदनः ।

तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापापनोदनम् ॥ २६० ॥

तीन दिन उपवास कर संयत चित्त होकर प्रतिदिन तीन बार (प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल) स्नान करते समय पानी में “ऋतु च सत्यं च” इस अघमर्षण सूक्त का तीन बार जप करे तो सभी पापों का नाश हो जाता है। जिस प्रकार सभी प्रकार के पापों के नाशार्थ यज्ञों का राजा अश्वमेध यज्ञ है उसी प्रकार सभी पापों को नाश करने वाला यह अघमर्षण सूक्त है। २५९-२६० ।

हत्वा लोकानपीमांस्त्रीनश्नन्नपि यतस्ततः ।

ऋग्वेदं धारयन्विप्रो नैगः प्राप्नोति किञ्चनः ॥ २६१ ॥

ऋक्संहिता त्रिरभ्यस्य यजुषां वा समाहितः ।

साम्नां वा सरहनस्यानां सर्वपापैः ॥ २६२ ॥

तीनों लोकों की हत्या करके और इधर-उधर भोजन करके भी ऋग्वेद को धारण करने वाला विप्र कुछ भी पाप को नहीं पाता अर्थात् ऋग्वेद के अभ्यासी को कुछ पाप नहीं होता है। जो समाहित चित्त होकर ऋग्वेद के संहिता को अथवा यजु संहिता को अथवा रहस्य के साथ सामवेद को तीन बार अभ्यास करता है, वह सभी पापों से छूट जाता है ॥ २६१-२६२ ॥

यथा महाहदं प्राप्य क्षिप्तं लोष्टं विनश्यति ।

तथा दुश्चरितं सर्वं वेदे त्रिवृति मज्जति ॥ २६३ ॥

ऋचो यजूंषि चान्यानि सामानि विविधानि च ।

एष ज्ञेयस्त्रिवृद्वेदो यो वेदैर्न स वेदवित् ॥ २६४ ॥

जिस प्रकार बड़े तालाब में फेंका हुआ मिट्टी का ढेला नाश हो जाता है उसी प्रकार तीन बार आवृत होने वाले वेद के करने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्र तथा सामवेद के अनेक मन्त्र इन तीनों वेदों के अलग-अलग मन्त्र ब्राह्मण ही त्रिवृत् वेद कहलाता है जो इनको जानता है वह वेदवित् होता है ॥ २६३-२६४ ॥

आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन्प्रतिष्ठिता ।

स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ २६५ ॥

आदि दो त्र्यक्षर ब्रह्म है (ॐ) जिसमें तीन वेद स्थित हैं वह प्रथम संज्ञक दूसरा गुह्य त्रिवृत् है उसे जो जानता है वही वेदवित् है ॥ २६५ ॥

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥



बारहवाँ अध्याय

चातुर्वर्ण्यस्य कृत्स्नोऽयमुक्त धर्मस्त्वयानघ।

कर्मणां फलनिवृत्तिं शंस नस्तत्त्वतः परान् ॥ १ ॥

स तानुवाच धर्मात्मा महर्षीन्मानवो भृगुः।

अस्य सर्वस्य श्रृणुत कर्मयोगस्य निर्णयम् ॥ २ ॥

हे अनघ! चारों वर्णों के धर्मों को आपने कहा। अब जन्मान्तर में शुभाशुभ कर्मों के जो फल मिलते हैं उसे कहिए। वह धर्मात्मा मनु पुत्र भृगु ने महर्षियों से कहा इस सम्पूर्ण कर्मयोग का निर्णय सुनो। १-२।

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम्।

कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।

दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥ ४ ॥

शुभाशुभ फल देने वाले कर्म का उत्पत्ति स्थान मन, वाणी और देह है। कर्म से ही मनुष्यों की उत्तम, मध्यम, और अधम गति होती है। उस शरीर सम्बन्धी त्रिविध (तीनों उत्तम, मध्यम, अधम) और दश लक्षण से युक्त तीनों (मन, वाणी, शरीर) अधिष्ठानों के आश्रय में रहने वाले धर्मों का प्रवर्तक मन ही होता है ऐसा जानना चाहिए। ३-४।

विशेष-क्योंकि तैत्तरीय उपनिषद् में यह लिखा है कि पुरुष मन से जो विचार करता है वही वाणी से बोलता है और जो वाणी

से बोलता है वही कर्म करता है।

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
 वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥ ५ ॥
 पारुषध्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
 असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं साच्चतुर्विधम् ॥ ६ ॥

दूसरे का धन लेने की बात, अन्याय सोचना, चित्त में दूसरे के अनिष्ट का चिन्तन करना, मिथ्या अभिनिवेश (स्वर्ग नहीं है जो कुछ है वह शरीर ही है) करना ये तीनों प्रकार के अशुभ फल देने वाले मानस कर्म हैं। कठोर और झूठ बोलना, दूसरे के दोषों को बताना और बिना अभिप्राय के वचन को बोलना ये चार प्रकार के अशुभ फल देने वाले वाणी के कर्म हैं। ५-६।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
 परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ७ ॥
 मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम् ।
 वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव च कायिकम् ॥ ८ ॥

न दी हुई वस्तु को बलपूर्वक ले लेना, बिना विधान के हिंसा करना और पर स्त्री का सेवन ये तीन प्रकार के शारीरिक दुष्कर्म हैं। मन से किए हुए कर्म का फल मन से, वाणी से किया हुआ वचन से और देह से किए हुए कर्म का फल देह से ही भोगना पड़ता है। ७-८।

शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ।
 वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् ॥ ९ ॥
 वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च ।
 यस्यैते निहता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥

शरीर से उत्पन्न कर्मदोषों के फलों से मनुष्य स्थावरता, वाचिक दोषों से पक्षी और मृगत्व का और मांस दोषों से चाण्डालादि जाति को प्राप्त होता है। वाग्दण्ड, मनोदण्ड और देहदण्ड/ये जिसकी बुद्धि में स्थित हैं उसको त्रिदण्डी कहते हैं। (अर्थात् जो बुद्धि, मन वचन और शरीर से दुष्कर्मों से अलग रहता है।) ९-१०।

त्रिदण्डभेतत्रिक्षिप्य सर्वभूतेषु मानव।

कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥ ११॥

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।

यः करोति तु कर्माणि स भूतात्माच्यते बुधै॥ १२॥

जो मनुष्य काम क्रोध का संयम करके सभी प्राणियों में इस त्रिदण्ड का व्यवहार करता है, वह सिद्धि को प्राप्त होता है। जो आत्मा से कर्म करता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। और जो कर्मों को करता है उसको पण्डित लोग भूतात्मा कहते हैं। ११-१२।

जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्।

येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥ १३॥

तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान्क्षेत्रज्ञ एव च।

उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः॥ १४॥

जीवन संज्ञक अन्तरात्मा इससे भिन्न है, जो कि सब प्राणियों में सहज है। और जिससे जन्म के सभी सुख और दुःखों को जाना जाता है। वे दोनों महान और क्षेत्रज्ञ भूतों से (पंचभूतों से) मिलकर सभी छोटे-बड़े जीवों में स्थिर होकर उस परमात्मा के आश्रय में रहते हैं। १३-१४।

असंख्या मूर्तयस्तस्य निष्पतन्ति शरीरतः।

उच्चावचानि भूतानि सततं चेष्टयन्ति याः॥ १५॥

पञ्चभ्य एवं मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्।

शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम्॥ १६॥

उस परमात्मा के शरीर से असंख्य मूर्तियाँ निकलती हैं और जो छोटे-बड़े सभी जीवों में प्रवृत्त करती हैं। पापात्मा मनुष्यों के पंचभौतिक शरीर से ही एक सूक्ष्म शरीर निश्चय करके परलोक में दुःख भोगने के लिए उत्पन्न होता है। १५-१६।

तेनानुभूयता यामीः शरीरेणेह यातनाः।

तास्वेव भूतमात्रामु प्रलीयन्ते विभागशः॥ १७॥

सोऽनुभूयासुखोदकार्कान्दोषान्विषसङ्गजान् ।

व्यपेतकल्मषोऽभ्येति तावेवोभौ महौजसी॥ १८॥

पापात्मा मनुष्य उस शरीर से यमयातना का अनुभव करके फिर उन्हीं भूतों की मात्राओं में यथा विभाग लीन होते हैं। वह शरीर धारी जीवात्मा विषय भोग से उत्पन्न यमलोकगत यातनाओं के उपभोग करने के बाद पाप रहित होकर महातेजस्वी मक्रतत्त्व और परमात्मा दोनों का आश्रित होता है। १७-१८।

तौ धर्मं पश्यतस्तस्य पापं चातन्द्रितौ सह।

याभ्यां प्राप्नोति संपृक्तः प्रेत्येह च सुखासुखम् ॥ १९ ॥

यद्याचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः।

तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

वे दोनों महत् और परमात्मा अनालस्य होकर उसके धर्म और पाप को देखते हैं, जिससे (धर्म और अधर्म) युक्त होकर जीव इस लोक और परलोक में सुख और दुःख को पाता है। वह जीव यदि अधिक धर्म और थोड़ा पाप करता है तो उन भूतों (पंचभूतों) से स्थूल शरीर के रूप में जन्म लेकर स्वर्ग में सुख भोगता है। १९-२०।

यदि तु प्रायशोऽधर्मं सेवते धर्ममल्पशः।

तैर्भूतैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्नोति यातना ॥ २१ ॥

यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः।

तान्येव पञ्च भूतानि पुनरप्येति भागशः ॥ २२ ॥

यदि वह जीव अधिक पाप और थोड़ा धर्म करता है तो उन भूतों से परियुक्त होकर यमयातना भोगता है। वह जीव यमयातना को भोगकर निष्पाप होकर फिर उन्हीं पंचतत्त्वों का यथा भाग आश्रय पाता है। २१-२२।

एता दृष्ट्वा जीवस्य गतीः स्नेनव चेत्तसा।

धर्मतोऽधर्मतश्चैव धर्मे दध्यात्सदा मनः ॥ २३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चैव त्रीन्विद्यादात्मनो गुणान्।

यैर्व्याप्येमान्स्थितो भावान्महान्सर्वानशेषतः ॥ २४ ॥

अपने जीव से इस जीव की धर्म और अधर्म से उत्पन्न गति को देखकर सदा धर्म में मन लगावे। आत्मा के सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। जिनसे (सत्त्व, रज और तम गुणों से) व्याप्त होकर यह आत्मा सभी स्थावर, जंगमरूप सृष्टि में होती है। २३-२४।

यो यदैषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।

स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम् ॥ २५ ॥

सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।

एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः ॥ २६ ॥

इन गुणों से जो गुण जिनके शरीर में जब तक सम्पूर्ण रूप से अधिक होता है, वह तब उस शरीर को प्रायः उसी गुण का कर देता है। ज्ञान सत्त्व गुण का, अज्ञान तमोगुण का, राग-द्वेष रजोगुण का लक्षण है। इन गुणों के स्वरूप में व्याप्त सभी प्राणियों का शरीर होता है। २५-२६।

तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्।

प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं दत्तुपधारयेत् ॥ २७ ॥

यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः ।

तद्रजो प्रतिपं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् ॥ २८ ॥

जो आत्मा में कुछ ही प्रीति से युक्त हो प्रशान्त और निर्मल मालूम होता हो उसे सत्त्वगुण से जानना चाहिए। दो दुःख से युक्त हो, आत्मा को अप्रीतिकारक हो और सर्वदा विषय की इच्छा वाला हो वह सतोगुण का विरोधी रजोगुण से युक्त होता है। २७-२८।

यत् स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्।

अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत् ॥ २९ ॥

त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः।

अग्रयो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥ ३० ॥

जो मोह से युक्त (विवेक रहित) हो अप्रकट, विषयी अतर्क्य अविज्ञेय हो वह तमोगुणी होता है। इन तीन गुणों का जो उत्तम, मध्यम और अधम फलोदय है उसको निःशेष कहता हूँ। २९-३०।

वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विकं गुणलक्षणम् ॥ ३१ ॥

आरम्भरुचिताऽधैर्यमसत्कार्यपरिग्रहः ।

विषयोपसेवा चाजस्रं राजसं गुणलक्षणम् ॥ ३२ ॥

वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान (शास्त्रों का), पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह, धर्म कार्य और आत्मा का चिन्तन ये सात्विक गुण के लक्षण हैं। फल की इच्छा से कर्म करना, अधैर्य, निन्दनीय कर्मों का आचरण और सदा विषय भोग करना ये रजो गुण का लक्षण है। ३१-३२।

लोभः स्वप्नोऽधृतिः क्रौर्यं नास्तिक्यं भिन्नवृत्तिता।

याचिष्णुता प्रमादश्च तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३३ ॥

त्रैयाणामपि चैतेषां गुणानां त्रिषु तिष्ठताम्।

इदं सामासिकं ज्ञं क्रमशो गुणलक्षणम् ॥ ३४ ॥

लोभ स्वप्न (निद्रालुता), असन्तोष क्रूरता, नास्तिकता, अनाचार, याचक वृत्ति प्रमाद (धर्माचरण में) ये तमोगुण के लक्षण हैं। तीनों काल से विद्यमान इन तीनों गुणों के लक्षण संक्षेप में जानना चाहिए। ३३-३४।

यत्कर्म कृत्वा कुर्वश्च करिष्यंश्चैव लज्जति।

तज्ज्ञेयं विदुषां सर्वं तामसं गुणलक्षणम् ॥ ३५ ॥

येनास्मिन्कर्मणा लोके ख्यातिमिच्छति पुष्कलाम्।

न च शोचत्यसंपत्तौ तद्विज्ञेयं तु राजसम् ॥ ३६ ॥

जिस कर्म को करके, करते हुए अथवा आगे करता है और उससे लज्जित होता है उसे पण्डित लोग तमोगुण का लक्षण कहते हैं। जिस कर्म से इस लोक में बहुत बड़ी प्रसिद्धि की इच्छा करता है और असम्पत्ति में जिस कर्म को नहीं सोचता उस कर्म को रजोगुण का लक्षण कहते हैं। ३५-३६।

यत्सर्व्वेणेच्छति ज्ञातुं यत्र लज्जति चाचरन्।

येन तुष्यति यात्मास्य तत्सत्त्वगुणलक्षणम् ॥ ३७ ॥

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते।

सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठयमेषां यथोत्तरम् ॥ ३८ ॥

जिस कर्म से कर्ता की यह इच्छा हो कि यह सबको ज्ञात हो और जिसको करते हुए लज्जित न होना पड़े और जिस कर्म से आत्मा को संतोष होता हो उस कर्म को सत्त्वगुण का लक्षण कहते हैं। तमोगुण का लक्षण काम, अर्थ (धन) में निष्ठा रजोगुण का, और धर्माचरण सतोगुण का लक्षण है ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। ३७-३८।

ये यस्तु गुणैर्नैषां संसारान्प्रतिपद्यते ।

तान्समासेन वक्ष्यामि सर्वस्यास्य यथाकृमम् ॥ ३९ ॥

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसा ।

तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ ३२ ॥

इन गुणों (सत्त्वादि गुणों) में जो जिस गति को प्राप्त होता है, इस जग में उन गतियों को यज्ञाक्रम कहते हैं। सात्त्विक मनुष्य देवत्व को, राजसगुण वाला मनुष्यत्व को और तामसगुण वाला तिर्यक्योनि को प्राप्त होता है। नित्य इन तीनों प्रकृतियों की यही तीन गतियां होती हैं। ३९-४० ।

त्रिविधा त्रिविधेषा तु विज्ञेया गोक्षिकी गतिः ।

अधमा अध्यमाग्रया च कर्मविद्या विशेषतः ॥ ४१ ॥

स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकृच्छपा ।

पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥ ४२ ॥

गुणभेद से बनी हुई यह त्रिविधगति कही है वह कर्म और विद्या की विशेषता से उत्तम, मध्यम और श्रेष्ठ तीन प्रकार की हो जाती हैं। स्थायर (वृक्षादि, कृमि, कीट, मछली, सर्प, कछुआ, पशु और मृग) ये सब तमोगुण की अधम गति हैं। ४१-४२ ।

हस्तिनश्च तुरङ्गाश्च शूद्रा म्लेच्छाश्च गर्हिता ।

सिंहा व्याघ्रा वराहाश्च मध्यमा तामसी गतिः ॥ ४३ ॥

चारणाश्च सुपर्णाश्च पुरुषाश्चैव दाम्भिका ।

रक्षांसि च पिशाचाश्च तामसोसूतमा गतिः ॥ ४४ ॥

हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ जाति, सिंह, व्याघ्र और सूअर ये तामस वृत्ति की मध्यम गति हैं। चारण, गरुड़, दाम्भिक पुरुष, राक्षस और पिशाच ये तामसी गुण की उत्तम गतियाँ हैं। ४३-४४ ।

झल्ला मल्ला नटाश्चैव पुरुषाः शास्त्रवृत्तयः ।

द्यूतपानप्रसक्ताश्च जघन्या राजसी गतिः ॥ ४५ ॥

राजानः क्षत्रियाश्चैव राज्ञां चैव पुरोहिताः ।

वादयुद्धप्रधानाश्च मध्यमा राजसी गतिः ॥ ४६ ॥

झल्ला (लाबी चलाने वाला), मल्ल (पहलवान), नट, शस्त्रजीवी, जुआ

और मदिरा पीने वाले ये रजोगुण की अधम गति हैं। राजा, क्षत्रिय, राजाओं के पुरोहित और विवाद करने में प्रधान ये राजस गुण की मध्यम गति हैं। ४५-४६।

गन्धर्वा गुह्यका यक्षा विबुधानुचराश्च ये।

तथैवाप्सरसः सर्वा राजसीषूत्तमा गतिः ॥ ४७ ॥

तापसा यत्यो विप्रा ये च वमानिका गणाः।

नक्षत्राणि च दैत्याश्च प्रथमा सात्त्विकी गतिः ॥ ४८ ॥

गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, देवताओं के अनुचर (विद्याधर) और अप्सरा ये रजोगुण की उत्तम गति हैं तापस (वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, वैज्ञानिक नक्षत्र और दैत्य) ये सत्त्वगुण की अधमगति हैं। ४७-४८।

यज्वानः ऋषयो देवा वेदा ज्योतीषि वतसरः।

पितरश्चैव साध्याश्च द्वितीया सात्त्विकी गतिः ॥ ४९ ॥

ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च।

उत्तमा सात्त्विकोमेतां गतिमाहुर्मनोषिणः ॥ ५० ॥

यज्ञकर्ता ऋषि, देवता, वेदाभिमानी, ज्योति (ध्रुवादि), वत्सर (वर्ष), पितृगण, साध्यगुण ये सत्त्वगुण की मध्यमगति हैं। ब्रह्मा, विश्वसृज (मरीचि आदि) धर्म महान् और अव्यक्त इनको महर्षियों के सत्त्वगुण की उत्तम गति कहा है। ४९-५०।

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः।

त्रिविधास्त्रिविधः कल्मसः संसारः सार्वभौतिकः ॥ ५१ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन धर्मस्यासेवनेन च।

पापान्सयान्ति संसारानविद्वांसो धराधमाः ॥ ५२ ॥

तीन प्रकार के कर्मों की ये तीन प्रकार की सब प्राणियों से सम्बन्धित गतियों को कहा। इंद्रियों के प्रसंग से और धर्म का आचरण न करने से मूर्ख अधम मनुष्य इस संसार में पाप योनि को प्राप्त होते हैं। ५१-५२।

यां यां योनिं तु जीवोऽयं येन येनेह कर्मणा।

क्रमशो याति लोकेऽस्मिस्तत्तत्सर्वं निबोधत् ॥ ५३ ॥

बहुन्वर्षगणान्धोरात्ररकान्प्राप्य तत्क्षयात् ।

संसाराग्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥ ५४ ॥

इस संसार में जिन-जिन कर्मों द्वारा जिन-जिन योनियों को जीव प्राप्त होते हैं उन सबको क्रम से सुनो । महापातकी मनुष्य अनेकों वर्ष पर्यन्त घोर नरक को प्राप्त कर पाप का नाश होने पर इन योनियों (आगे कही हुई) को प्राप्त होता है । ५३-५४ ।

श्वसूकरखरोष्ट्राणां गोजाविमृगपक्षिणाम् ।

चाण्डालपुक्कसानां च ब्रह्महा योनिमृच्छति ॥ ५५ ॥

कृमिकीटपतङ्गानां विड्भुजां चैव पक्षिणाम् ।

हिंस्त्राणां चैव सत्त्वानां सुरापो ब्राह्मणो व्रजेत् ॥ ५६ ॥

ब्रह्महत्या करने वाला क्रम से कुत्ता, सुअर, गधा, ऊँट, गौ, बकरा, भेड़, मृग, पक्षी, चाण्डाल और पुक्कस योनि को प्राप्त होता है । मदिश पीने वाला ब्राह्मण कृमि, कीट, पतंगा, विषा भोजन करने वाला पशु और हिंसा करने वाले जन्तु की योनि में उत्पन्न होता है । ५५-५६ ।

लूता हसरटानां च तिरश्चां चाम्बुचारिणाम् ।

हिंस्त्राणां च पिशाचानां स्तेनो विप्रः सहस्रसः ॥ ५७ ॥

तृणगुल्मलतानां च क्रव्यादां दंष्ट्रिणामपि ।

क्रूरकर्मकृता चैव शतशो गुरुतल्पगः ॥ ५८ ॥

स्वर्ण को चुराने वाला ब्राह्मण मच्छर, साँप, गिरगिट, पक्षी, जल में रहने वाले (ग्रह आदि) और हिंसा करने वाले पिशाचों की योनि में उत्पन्न होते हैं । गुरुपत्नी गमन करने वाला तृण, गुल्म, लता, कच्चे मांस खाने वाला पक्षी (गिद्ध आदि) और दौत वाले (सिंह आदि) तथा क्रूर कर्म करने वाले बधिक आदि दुष्ट योनि में सैकड़ों बार जन्म लेते हैं । ५७-५८ ।

हिंस्त्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यपक्षिणः ।

परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्यस्त्रीनिषेविणः ॥ ५९ ॥

संयोग पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।

अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥ ६० ॥

हिंसा करने वाले, कच्चे मांस खाने वाले (गिद्ध आदि) होते हैं अभक्ष्य

खाने वाले कृमि होते हैं, सुवर्ण की चोरी करने वाले कुत्ते आदि होते हैं और चाण्डाल स्त्री के साथ गमन करने वाले प्रेत होते हैं। पतित के साथ संसर्ग रखने वाला, दूसरे की स्त्री के साथ सम्बन्ध रखने वाला और ब्राह्मण का धन हरण करने वाला ब्रह्मराक्षस होता है। ५९-६०।

मणिमुक्ताप्रवालानि हत्वा लोभेन मानवः।

विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्तृषु॥ ६१॥

धान्यं हत्वा भवत्याखुः कांस्यं हंसो जलं प्लवः।

मधु दंश पयः काको रसं श्वानकुलो घृतम्॥ ६२॥

जो मनुष्य लोभ से मणि, मोती, मूंगा और अनेक प्रकार के रत्नों का अपहरण करता है, वह सोनार होता है। धान चुराने वाला मूसा, कांसा चुराने वाला हंस, जल चुराने वाला प्लव पक्षी, मधु चुराने वाला हंस, दूध चुराने वाला कौआ, रस चुराने वाला कुत्ता और घी चुराने वाला नेवला होता है। ६१-६२।

मांसं गृध्रो वपां मदगुस्तैलं तैलपकः खगः।

चीरीवाकस्तु लवणं बलाका शकुनिर्दधि॥ ६३॥

कौशेयं तित्तिरिहृत्वा क्षौमं हत्वा तु ददुरः।

कार्पासतान्तवं क्रौञ्चो गोघा गां वाग्गुदो गुडम्॥ ६४॥

माँस चुराने वाले गृध्र, चर्बी चुराने वाले मदगुपक्षी, तेल चुराने वाले तैलपकपक्षी, नमक चुराने वाले झिल्ली और दही चुराने वाले बलाका होते हैं। कौशेय (रेशमी वस्त्र) चुराने वाला तीतर पक्षी और वस्त्रों को चुराने वाला मेंढ़क, ऊनी वस्त्र चुराने वाला कौआ पक्षी, गाय चुराने वाला गोह और गुड़ चुराने वाला वाग्गुद पक्षी होता है। ६३-६४।

छुच्छुन्दरिः शुभानान्धान्यत्रशाकं तु बर्हिणः।

श्वावित्कृतात्रं विविधमकृतात्रं तु शल्यकः॥ ६५॥

बको भवति हत्वाग्निं गृहकारी ह्युपस्करम्।

रक्तानि हत्वा वासांसि जायते जीवजीवकाः॥ ६६॥

पदार्थ वाले अच्छे गन्ध वाले (केसर, कस्तूरी आदि) चुराने वाला छुच्छुन्दर, पत्ता और शाक चुराने वाला मोर (मयूर), पकाया हुआ अन्न चुराने

वाला श्वावित और अपक्व अन्न चुराने वाला शाल्यक होता है। अग्नि चुराने वाला बगुला, उपस्कर (चलनी, सूप आदि) को चुराने वाला दीमक और रंगे हुए वस्त्रों को चुराने वाला चकोर होता है। ६५-६६।

वृको मृगेभं व्याघ्रोऽश्वं फलमूलं तु मर्कटः।

स्त्रीमक्षः स्तोकको वारि यानान्युष्टः पशूनजः॥ ६७॥

यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहत्य० बलान्नरः।

अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हवि॥ ६८॥

मृग और हाथी चुराने वाला भेड़िया, घोड़ा चुराने वाला बाघ, फल मूल चुराने वाला वानर, स्त्री चुराने वाला ऊँट और साधारण पशुओं को चुराने वाला बकरा होता है। जिस किसी प्रकार से बलात् दूसरे का द्रव्य हरण कर और हवन के लिए रखी हुई हवि (घी आदि) को खाकर मनुष्य निश्चय तिर्यक योनि में आ जाता है। ६७-६८।

स्त्रियोऽप्येतेन कल्पेन हत्वा दोषमवाप्नुयुः।

एतेषामेव जन्तूनां भार्यात्वमुपयान्ति ताः॥ ६९॥

स्वेभ्यं स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णाह्वनापदि।

पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु॥ ७०॥

स्त्रियाँ भी इस प्रकार की चोरी करने पर पाप की भागिनी होती हैं, हुन्त में पूर्वोक्त पाप के कारण जन्तुओं की स्त्रियाँ होती हैं। निरापद अवस्था में चारों वर्ण यदि अपने-अपने कर्मों से च्युत हो जायें तो संसार में पाप योनि को प्राप्त होकर शत्रु के दास होते हैं। ६९-७०।

वान्ताश्युत्कत्मुखः प्रेती विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः।

अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रियः कटपूतनः॥ ७१॥

मैत्राक्षज्योतिकः प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्।

चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युतः॥ ७२॥

यदि ब्राह्मण अपने कर्म से भ्रष्ट हो जाय तो विमनः खाने वाला उत्कामुख नाम का प्रेत होता है। क्षत्रिय अपने कर्म से भ्रष्ट हो तो वह विष्ण और मुर्दा खाने वाला कटपूतन नामक प्रेत होता है। यदि वैश्य अपने कर्म से रहित हो तो पीव खाने वाला मैत्राक्ष ज्योतिक नामक प्रेत होता है और शूद्र अपने

कर्म से च्युत हो तो वह चैलाशक नाम का प्रेत होता है। ७१-७२।

यथा यथा निषेवन्ते विषयन्विषयात्मकाः।

तथा तथा कुशलता तेषां तेषुपजायते॥ ७३॥

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।

संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्वित् योनिषु॥ ७४॥

विषय को चाहने वाले जैसे-जैसे विषयों को सेवन करते हैं वैसे-वैसे उनकी उनमें कुशलता बढ़ती जाती है। अल्प बुद्धि वाले पाप कर्मों के अभ्यास से जन्म-जन्म में उन योनियों में उत्पन्न होकर दुःखों को पाते हैं। ७३-७४।

तामिस्रादिषु चाग्रेषु नरकेषु विवर्तनम्।

असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदानि च॥ ७५॥

विविधाश्चैव संपीडाः कालोलूकैश्च भक्षणम्।

करम्भवालुकातापान्कुम्भीषाकांश्च दारुणान्॥ ७६॥

फिर भी तामिस्र आदि उग्र नरकों में वास करते हैं। असिपत्रवन आदि बन्धनच्छेदन आदि नरकों को भोगते हैं। और अनेक प्रकार की पीड़ाएँ पाते हैं। और कौआ तथा उल्लू के भोजन होते हैं। तपे हुए बालू पर चलना पड़ता है और कुम्भीपाक की कठिन यातनाओं को भोगना पड़ता है। ७५-७६।

संभवांश्च वियोनीषु दुःखप्रायासु नित्यशः।

शीतातपाभिघातांश्च विविधानि भयानि च॥ ७७॥

असकृद्गर्भवासेषु वासं जन्म च दारुणम्।

बन्धनानि च काष्ठानि परप्रेष्यत्वमेव च॥ ७८॥

प्रायः वियोनियों की योनि में जन्म लेकर जाड़ गरमी से कष्ट और अनेक प्रकार के भय से सदा दुःख पाते हैं। बारम्बार गर्भ में वास करते हैं, दुःखद जन्म लेते हैं अनेक प्रकार के बन्धनों को भोगते हैं और दूसरों के दास होते हैं। ७७-७८।

बन्धुप्रियवियोगांश्च संवासं चैव दुर्जनः।

द्रव्यार्जनं च नाशं च मित्रामित्रस्य चार्जनम्॥ ७९॥

जरां चैवाप्रतीकारां व्याधिमिश्रचोपपीडनम्।

क्लेशांश्च त्रिविधांस्तांस्तान्मृत्युमेव च दुर्जयम्॥ ८०॥

अपने प्रिय बन्धुओं का वियोग, दुर्जनों के साथ सहवास, द्रव्य का लाभ और हानि तथा मित्र-शत्रु के झगड़े लगे रहते हैं। ऐसा बुढ़ापा जिसका प्रतीकार न हो, अनेक प्रकार की व्याधियों का कष्ट और भी अनेक प्रकार के क्लेशों को सहते हुए दुर्गम मृत्यु को पाते हैं। ७९-८०।

यादृशेन तु भावेन यद्यत्कर्म निषेवते।

तादृशेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते॥ ८१॥

एष सर्वः समुद्दिष्टः कर्मणां वः फलोदयः।

नैश्रेयसकरं कर्म विप्रस्येदं निबोधतः॥ ८२॥

जिन भावों से जो कर्म करता है वैसे ही शरीर से वह उन उन कर्मों के फल को भोगता है। यह सब कर्मों का फल तुमसे कहा। अब यह ब्राह्मण के निश्रेयस (मुक्ति) देने वाले कर्मों को सुनो। ८१-८२।

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।

अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्॥ ८३॥

सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम्।

किञ्चिच्छेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति॥ ८४॥

वेदाभ्यास, तपस्या, ज्ञान इन्द्रियों का संयम, अहिंसा और गुरुसेवा, यह सब मुक्ति देने वाले हैं। इन सभी (वेदाभ्यास आदि) शुभ कर्मों में कोई एक ही कर्म और कर्मों से अधिक श्रेयस्कर पुरुष के लिए हैं। ८३-८४।

सर्वेषामपि चेतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।

यद्व्यग्रयं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥ ८५॥

षण्णामेषां तु सर्वेषां कर्मणां प्रेत्य चेह च।

श्रेयस्करतरं ज्ञेयं सर्वदा कर्म वादिकम्॥ ८६॥

इन सभी कर्मों में आत्मज्ञान सबसे श्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि वही सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है उससे अमृतत्व का लाभ होता है। इन छः कर्मों में वैदिक धर्म ही इस लोक और परलोक दोनों लोकों के लिए कल्याणकारी होता है। ८५-८६।

वैदिके कर्मयोगे तु सर्वाण्येतान्यशेषतः।

अन्तर्भवन्ति क्रमशस्तस्मिस्तस्मिन्क्रियाविधौ ॥ ८९ ॥

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।

प्रवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥

वैदिक कर्मयोग में ईश्वर की उपासना में सम्पूर्ण क्रियाओं का क्रमशः विधि द्वारा अन्तर्भाव होता है। सुख और अभ्युदय को करने वाला तथा मुक्ति को देने वाला इस तरह प्रवृत्त दो प्रकार के वैदिक कर्म हैं। ८७-८८।

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।

निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥

प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

इस संसार में (सुखादि के लिए) अथवा स्वर्गादि प्राप्ति के लिए जो काम (अकाम) कर्म किये जाते हैं उसे प्रवृत्त और ज्ञानपूर्वक जो निष्काम कर्म किया जाता है उसे निवृत्त कहते हैं। प्रवृत्त कर्म का सेवन करके (मनुष्य) देवताओं की समानता को प्राप्त होता है और निवृत्त कर्मों को करने वाला भूतों को (पंच महाभूतों को) जीत लेता है (अर्थात् मुक्त होने पर फिर शरीर को नहीं धारण करता है।) ८९-९०।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।

समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति ॥ ९१ ॥

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।

आत्मज्ञाने शुभे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ ९२ ॥

सभी प्राणियों में अपने को और सभी प्राणियों को अपने में देखता हुआ स्वराज्य (ब्रह्मत्व) को पाता है। द्विजोत्तम यथोक्त (शास्त्रोक्त) कर्मों को छोड़कर भी आत्मज्ञान, इन्द्रिय निग्रह और वेदाभ्यास में यत्नशील रहे। ९१-९२।

एतद्वि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।

प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा ॥ ९३ ॥

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।

अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥ ९४ ॥

विशेषकर ब्राह्मण के जन्म लेने की सफलता इसी में है। इसको पाकर द्विज कृतकृत्य होता है अन्यथा नहीं। पितरों देवताओं और मनुष्यों का सनातन नेत्र वेद ही है वेदशास्त्र अशक्य और अप्रमेय हैं। ९३-९४।

या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हिताः स्मृताः ॥ ९५ ॥

उत्पद्यन्ते च्चदन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।

तान्यर्वाकालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥ ९६ ॥

जो सम्रतियाँ वेद से बाहर हैं जो कुतर्कयुक्त हैं वे सब परलोक के लिए निष्फल होती हैं क्योंकि वे तमोनिष्ठ हैं। जो कोई भी शास्त्रवेद से बहिर्भूत हैं वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं और अर्वाचीन काल के होने के कारण निष्फल होते हैं। ९५-९६।

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ॥ ९७ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ९८ ॥

चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम और भूत, भव्य और भविष्य ये तीनों काल वेद से ही सिद्ध होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और पाँचवाँ गंध ये सब प्रसूति गुण कर्मानुसार वेद से ही उत्पन्न होते हैं। ९७-९८।

विभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।

तस्मादेतत्परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ ९९ ॥

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।

सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदहति ॥ १०० ॥

सनातन वेदशास्त्र ही सभी प्राणियों का भरण-पोषण करता है। इसलिए यह जीवों का उत्तम पुरुषार्थ साधन है, यह हम मानते हैं। सेनापतित्व, राज्य, दण्डविधान और सभी लोकों का स्वामित्व यह सब वेदज्ञ ही करने लायक है। ९९-१००।

यथा जातबलो वह्निर्दहत्याग्नानपि द्रुमान्।

तथा दहति वेदज्ञः कर्मजं दोषमात्मनः ॥ १०१ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।

इहैव लोके तिष्ठन्त ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ १०२ ॥

जैसे तीव्र अग्नि हरे पेड़ों को भी जला देती है उसी प्रकार वेदज्ञ अपने किए हुए कर्म के दोषों का भी नाश कर देता है। वेदशास्त्र के अर्थ के तत्त्व को जानने वाला चाहे जिस किसी आश्रम में वास करता हुआ इस लोक में ही ब्रह्मत्व को प्राप्त होता है। १०१-१०२।

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।

धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठा ग्रन्थिभ्यो व्यवसायिनः ॥ १०३ ॥

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम्।

तपसा किल्बिषं हन्ति विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥ १०४ ॥

मूर्खों से, ग्रन्थ पढ़ने वाले श्रेष्ठ होते हैं। ग्रन्थ पढ़ने वालों से धारण करने वाले श्रेष्ठ, धारण करने वालों से ज्ञानी श्रेष्ठ और ज्ञानियों से भी निष्काम कर्म करने वाला श्रेष्ठ होता है। तप और विद्या ब्राह्मण के लिए परम कल्याणकारक है। तप सब पाप को नाश करता है और विद्या से मुक्ति मिलती है। १०३-१०४।

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना।

यस्तर्केणनुसंधत्ते च धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥

धर्म शुद्धि की इच्छा रखने वाले को प्रत्यक्ष, अनुमान और अनेक प्रकार के आगमशास्त्र इन तीनों का अच्छी तरह ज्ञान कर लेना चाहिये। वेदशास्त्र से अविरुद्ध ऋषियों से कहा हुआ जो धर्मोपदेश है उसे जो तर्क द्वारा अनुसन्धान करता है वही वेद जानता है। दूसरा नहीं। १०५-१०६।

नैःश्रेयसमिदं कर्म यथोदितमशेषतः।

मनवस्यास्य शास्त्रस्य रहस्यमुपदिश्यते ॥ १०७ ॥

अनाम्नातेषु धर्मेषु कथं स्यादिति चेदभवेत्।

यं शिष्टा ब्राह्मण ब्रूयुः स धर्मः स्यादशंकितः ॥ १०८ ॥

यह सम्पूर्ण मुक्ति साधन का कर्म कहा। अब मानव शास्त्र के रहस्य

को कहता हूँ। धर्मों में जिनका नामकरण नहीं किया गया है प्रसंग उपस्थित होने पर कैसे करना चाहिए ऐसे प्रसंग में जो धर्मनिष्ठ ब्राह्मण बतलावें, उसे ही करना चाहिए। १०७-१०८।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिवृंहणः।

ते शिष्टा ब्राह्मणा ब्रूयुः श्रुतिप्रत्यक्ष हेतवः॥ १०९॥

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्।

त्र्यवरा वापि घृतस्था तं धर्मं न विचालयेत्॥ ११०॥

धर्म के नियम में जिन ब्राह्मणों ने वेदांग के साथ मानव वेद को प्राप्त किया है। वे ही शिष्ट ब्राह्मण हैं और वे ही श्रुति को प्रत्यक्ष करने में हेतु हैं। दश शिष्ट ब्राह्मणों की एक दशावरा धर्म परिषद की कल्पना करे। अथवा दश के अभाव में सदाचार से युक्त तीन ही ब्राह्मणों की त्र्यवरा धर्म परिषद की कल्पना करे। यह परिषद जिस धर्म की व्यवस्था करे वह धर्म ही है उसमें शंका न करे। १०९-११०।

त्रैविद्यो हेतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः।

त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वं परिषत्स्याद्दशावरा॥ १११॥

ऋग्वेदविद्यर्जुर्विच्च सामवेदविदेव च।

त्र्यवरा परिषज्जेया धर्मसंशयनिर्णये॥ ११२॥

तीन वेदज्ञ एक न्यायशास्त्र का ज्ञाता एक मीमांसक एक निरुक्त जानने वाला एक धर्मशास्त्र का जानने वाला, तीन पूर्व आश्रम वाले (ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ का भोगने वाला) इन दशों से दशावरा परिषद होती है। एक ऋग्वेद को जानने वाला, एक यजुर्वेद को जानने वाला और एक सामवेद को जानने वाला, से तीनों से धर्म के संशय का निर्णय करने के लिए त्र्यवरा धर्म परिषद होती है। १११-११२।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येदद्विजोत्तमः।

स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥ ११३॥

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।

सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ ११४॥

एक भी वेद का जानने वाला उत्तम ब्राह्मण जिस धर्म की व्यवस्था करे वह परमधर्म जानना चाहिए। एक सहस्र मुखों (वेद के न जानने वालों का) का निर्णय धर्म नहीं होता है। ब्रह्मचर्यादि व्रतों से ही, वेदमन्त्रों से, शून्य केवल जाति मात्र से जीने वाले (अर्थात् जो केवल ब्राह्मण हैं, ऐसा कहलाने वाले) हजारों व्यक्ति के होने से वह धर्म परिषद नहीं हो सकती। ११३-११४।

यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः।

तत्पापा शतधा भूत्वा तद्वक्तृननुगच्छति॥ ११५॥

एतोद्वोऽभिहितं सर्वं निश्रेयसकरं परम्।

अस्मादप्रच्युतो विप्रः प्राप्नोति परमां गतिम्॥ ११६॥

धर्म को जानने वाले तमोगुण से भरे हुए मूर्ख जिस किसी को प्रायश्चित्तादि धर्मोपदेश करते हैं यह पाप सौगुना होकर उन बताने वाले के ऊपर सवार होता है। यह सब निःश्रेयस (मोक्ष) साधक धर्म तुमसे कहा। इसमें च्युत न होने वाला ब्राह्मण परमगति को पाता है। ११५-११६।

एवं स भगवान्देवो लोकानां हितकाम्यया।

धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान्॥ ११७॥

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः।

सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुक्कृते मनः॥ ११८॥

इस प्रकार वह भगवान् देवलोकों के हित की दृष्टि से मुझसे धर्म का यह गोप्य विषय कहे। समाहित (एकाग्र) चित्त होकर सत् (शुभकर्म) असत् (अशुभकर्म) सभी पदार्थों को अपने में देखने वाला पुरुष अधर्म में मन नहीं लगाता है। ११७-११८।

आत्मैव देवताः सर्वा सर्वमात्मान्यवस्थितम्।

आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥ ११९॥

खं संनिवेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्।

पक्वित्दृष्टयोः परं तेजः स्नेहेऽपो गाँ च मूर्तिषु॥ १२०॥

सभी देवता आत्मा ही हैं सम्पूर्ण जगत् आत्मा में अवस्थित है। इन शरीरधारियों में कर्मयोग का निर्माण आत्मा ही करता है। आकाश को आकाश (अपने शरीर के भीतर वाले आकाश) में निवेशित करे। चेष्टा और स्पर्श में

वायु को, पेट और नेत्र की अग्नि में परम तेज को, जल में जल को (बाहर के जल को), पार्थिव भाग में पृथ्वी को, मन में चन्द्रमा को, कान में दिशाओं को, चरण में विष्णु को, बल में शंकर को, वाणी में अग्नि को, मित्र को मलद्वार में और जननेन्द्रिय में प्रजापति को लीन करे। ११९-१२०।

मनसीन्दुं दिशः श्रोत्रे क्रान्ते विष्णु बले हरम्।

वाच्याग्निं मित्रमुत्सर्गे प्रजने च प्रजापतिम् ॥ १२१ ॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।

रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १२२ ॥

शासन करने वाला, सभी के अणुओं से अतिसूक्ष्म, सुवर्ण के समान कान्ति वाला, स्वप्नावस्था में बुद्धि से जानने योग्य है उस परम पुरुष को जाने। १२१-१२२।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिव्यात्य मूर्तिभिः।

जन्मवृद्धिक्षयैनित्यं संसारयति चक्रवत् ॥ १२४ ॥

इसी परम पुरुष को कोई अग्नि, कोई प्रजापतिमनु, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई शाश्वत (सनातन) ब्रह्म कहते हैं। वह (परमात्मा) सभी प्राणियों के भूतात्मक शरीर में व्याप्त होकर जन्म वृद्धि और विनाश के द्वारा नित्य चन्द्र की तरह घूमता है। १२३-१२४।

एवं य सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।

श सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठान्द्विजः।

भवत्यारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ॥ १२६ ॥

इस प्रकार जो मनुष्य सभी प्राणियों में आत्म रूप से अपने आपको रखता है, वह सबमें समता को प्राप्त कर परम पद ब्रह्मत्व को पाता है। भृगु के कहे हुए ऐसे मानव शास्त्र को पढ़कर द्विजनित्य आचारवान् होकर अपनी अभीष्ट गति को पाता है। १२५-१२६।

॥ मनुस्मृति समाप्त ॥